परम ज्योति महावीर

[करुण, धर्मवीर एवं शान्त रस प्रधान महाकाव्य]

रचयिता

धन्यकुमार जैन 'सुधेश'

नागौद (म० प्र०)

प्रकाशक—

श्री फूलचंद जवरचंद गोधा जैन ग्रंथमाला

८, सर हुकमचंद मार्ग

इन्दौर नगर

प्रथम संस्करण
१२०० } जून सन् १९६१ { मूल्य ७)

प्रकाशकीय वक्तव्य

जैन समाचार पत्रों में श्री कविवर 'सुधेश' की अप्रकाशित नवीन रचना 'परम ज्योति महावीर' नामक महाकाव्य के समाचार पढ़कर हमने 'सुधेश' जी को लिखा कि क्या वे अपने महाकाव्य को इन्दौर की किसी ग्रन्थमाला की ओर से प्रकाशित कराना चाहते हैं ? उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया और बड़े ही निस्पृह भाव से अपनी महाकृति देखने भेज दी। मैंने और श्री जवरचंद फूलचंद गोधा जैन ग्रन्थमाला इन्दौर के ट्रष्टी श्री जैन रत्न सेठ गुलाब चंद जी टोंग्या और श्री सेठ देव कुमार सिंह जी कासलीवाल एम० ए० ने उक्त महाकाव्य को पढ़ा। ग्रन्थमाला के अध्यक्ष श्री सेठ फूलचंद जी गोधा की सम्मति से ट्रष्ट कमेटी की बैठक बुलाकर उक्त रचना प्रकाशित करना निश्चित कर लिया गया और छपाने का सब भार 'सुधेश' जी ने अपने ऊपर ले लिया। आज यह महत्व पूर्ण कृति पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है।

'परम ज्योति महावीर' वास्तव में महाकाव्य है। इसमें महाकाव्य के लक्षण और गुण तो पाये ही जाते हैं, पर अभी तक भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धी जो ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं, उनमें यह अपना अपूर्व और विशिष्ट स्थान रखता है। 'सुधेश' जी ने इसे गम्भीर और खोज पूर्ण अध्ययन करके लिखा है। इसकी रचना शैली और नैसर्गिक कवित्व से आकृष्ट होकर ही यह शीघ्र प्रकाशित किया गया है।

भगवान महावीर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष इन पाँचों कल्याणकों का क्रमशः घटना रूप में विवेचन करते हुये कवि ने नगर,

महाराज, महारानी, प्रजा, ऋतु आदि का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। संवाद एवं कथोप कथन भी रोचक और मनोवैज्ञानिक हैं। तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुये कवि पर देश के आधुनिक वातावरण का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

ग्रन्थमाला की ओर से पहले स्व० मा० दरयाव सिंह जी सोधिया द्वारा लिखित 'श्रावक धर्म संग्रह' का दूसरा संस्करण और आचार्य दुर्ग देव कृत 'रिष्ट समुच्चय' का प्रो० नेमिचंद जी एम० ए० ज्योतिषाचार्य आरा द्वारा लिखित हिन्दी अनुवाद तथा सितम्बर १९५९ में श्री ज्ञान चंद्र जी 'स्वतन्त्र' सूरत की 'हम कैसे सुधरें ?' पुस्तिका प्रकाशित हो चुकी है। इनमें प्रथम ग्रन्थ में श्रावक धर्म का सांगोपाँग वर्णन है। जिसे सोधिया जी ने गृहस्थ धर्म सम्बन्धी अनेक शास्त्रों का स्वाध्याय कर लिखा है। दूसरे ग्रन्थ 'रिष्ट सम्मुचय' में मरण संबन्धी शकुन व सूचनाएँ हैं, जो मरण की जानकारी और समाधि मरण के लिये उपयोगी हैं। तीसरी में नैतिक जीवन के सुधार की प्रेरणात्मक घटनाएँ हैं।

ग्रन्थ माला से इन तीनों ग्रन्थों के पहिले आचार्य योगीन्द्र देव की प्राकृत रचना 'आत्म दर्शन' का नाथूराम जी द्वारा रचित पद्यानुवाद और 'परमात्म छत्तीसी, लघु रचना प्रकाशित की गयी थी।

ग्रन्थ माला का उद्देश्य जैन धर्म के सिद्धान्तों का देश विदेश में प्रचार एवं प्रसार करना है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्तों को जानकर जनता सुख और शान्ति का अनुभव कर सके ऐसी सरल और आधुनिक शैली में लिखी गयी पुस्तकें हम चाहते हैं और चाहते हैं अभी तक प्रकाश में नहीं आया साहित्य, जो जैन वाङ्मय का गौरव बढ़ाये। वर्तमान में आत्मबोध और नैतिक

जीवन की बड़ी आवश्यकता है। लेखक और कवि गण ऐसी रचनायें भेज सकें तो ग्रन्थ माला द्वारा उनका प्रकाशन होकर दाता के द्रव्य का सदुपयोग होगा।

आशा है, पाठक गण प्रस्तुत महाकाव्य से लाभ उठायेंगे।

वीर जयन्ती, वीर सं० २४८७ नाथू लाल शास्त्री,
(चैत्र शु० १३ वि० सं० २०१८) मन्त्री।
श्री सेठ जवर चन्द फूल चन्द
गोधा जैन ग्रंथ माला,
सेठ हुकुम चन्द मार्ग इन्दौर

आमुख

सम्राट आलमगीर के शासनकाल में एक दिगम्बर जैन मुनि सिन्ध के ठट्ठा शहर से दिल्ली आए। अहिंसा, प्रेम और अपरिग्रह पर उनके प्रवचन इतने मार्मिक और हृदयस्पर्शी होते कि जनता मुग्ध होकर उन्हें सुनती। कुछ सप्ताहों में ही वे दिल्ली के नागरिकों के निकट सर्व प्रिय बन गए। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उन्हें आदर और प्यार से देखते थे और भगवान महावीर के अनुयायी तो उनके अद्भुत व्यक्तित्व पर न्योछावर थे। यद्यपि वे आयु वृद्ध—नहीं थे किन्तु अपने अगाध मनन और चिन्तन के कारण ज्ञान-वृद्ध अवश्य थे। दिल्ली में ये जैन मुनि 'सरमद' के नाम से विख्यात थे।

सरमद जन्म से यहूदी और राष्ट्रीयता से ईरानी थे। पिता उनके मध्य पूर्व के देशों के एक प्रतिष्ठित व्यापारी थे। पिता की मृत्यु के बाद जब सरमद ने कार्य-भार सम्हाला तो दमिश्क से ठट्ठा तक चौदह नगरों में उनकी व्यापारी कोठियाँ क़ायम थीं जहाँ करोड़ों का क्रय विक्रय होता था। इसलाम के भ्रातृभाव ने सरमद को अपनी ओर आकर्षित किया और वे पैगम्बर मोहम्मद के अनुयायी बन गए।

व्यापार के प्रबन्ध के सिलसिले में जहाँ वे जाते अपने साथ अपनी ज्ञान की प्यास और अनन्य आत्म-जिज्ञासा भी ले जाते। हर जगह वे साधु-सन्तों, फ़क़ीरों और महात्माओं को तलाश कर मिलते और उनके उपदेश सुनते। एक बार वे ठट्ठा (सिन्ध) आए। ठट्ठा उस समय भारत का प्रधान व्यापारिक नगर था। ठट्ठा में ही उनकी जैन मुनि अभय चन्द से

भेंट हुई। अभय चन्द के उपदेशों ने उनके जीवन को इतना प्रभावित किया कि अपनी करोड़ों की सम्पत्ति गरीबों को दान देकर वे भगवान महावीर के अनुयायी बन गए। जैन शास्त्रों की उन्होंने गहरी छान बीन की और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—इन पाँचों महाव्रतों को अपने जीवन में उतार लिया। जब हृदय में ज्ञान की पूर्ण ज्योति जाग गयी तो फिर वस्त्रों को भी त्याग कर जैन मुनि बन गए। प्रेम का चोला जब उन्होंने पहन लिया तो फिर साधारण वस्त्रों की उन्हें क्या आवश्यकता हो सकती थी? जब करोड़ों की सम्पत्ति बाँट दी तो चार गिरह लँगोटी के प्रति उन्हें क्या ममता हो सकती थी?

किन्तु सरमद की लोकप्रियता को आलमगीर कैसे बरदाश्त करता? सरमद को गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर तीन गम्भीर आरोप लगाए गए :—

(१) सरमद ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करता है।

(२) सरमद नंगा फिरता है।

(३) सरमद ने इसलाम को छोड़कर पार्श्वनाथ और महावीर के धर्म को स्वीकार कर लिया है।

आरोपों का उत्तर देते हुए सरमद ने कहा :—

"ऐ सम्राट! अगर वह खुदा है और उसे अपने बन्दों से मोहब्बत है तो वह खुद उनकी हित-चिन्तना करेगा। अगर उसका आना उचित है तो वह स्वयं प्रकट होकर उन्हें दर्शन देगा। ऐ सम्राट! उसके बन्दे रात दिन उसकी खोज में क्यों भटकते फिरते हैं? अगर वह खुदा है तो वह खुद अपने भक्तों के पास आएगा।

"ऐ सम्राट! जिसने तुझे बादशाहत अता फरमायी है उसी ने मुझे मानवता की सेवा का दर्द दिया है। जिसमें उसने ऐब देखे

हैं उसे वस्त्र पहनाकर उन ऐबों को ढका है किन्तु जिसको उसने वे ऐब देखा है उसे दिगम्बर लिबास दिया है।

"ऐ सम्राट तुम कहते हो कि सरमद ने दुनिया में बहुत धन-दौलत, नाम और यश कमाया। यहूदी धर्म को छोड़कर इसलाम की शरण में आया। और सम्राट तुम पूछते हो कि आखिर मैंने अल्लाह और उसके रसूल में क्या खता देखी जो मैं पार्श्वनाथ और महावीर का भक्त बन गया। ऐ सम्राट ! महावीर की शिक्षाओं में मैंने पाया कि वे मनुष्यत्व को इतना ऊँचा उठा देते हैं कि मनुष्यत्व ही देवत्व या ईश्वरत्व बन जाता है। कोई भेद की दीवार बाकी नहीं रहती। ऐ सम्राट ! इसी ईश्वरत्व की प्राप्ति ने मुझे महावीर का शैदाई बनाया है।"

सम्राट आलमगीर की आज्ञा से जिन्दा खाल खींचकर सरमद को फाँसी पर लटका दिया गया। कठोर और क्रूर यातनाओं के बीच भगवान महावीर के इस भक्त ने जब अपना जीवन समर्पित किया तो अन्त तक प्रेमपूर्ण मुस्कराहट ने उसके ओठों का साथ नहीं छोड़ा ! ऐसा था भगवान महावीर का जीवन और उनकी शिक्षाओं का आकर्षण जिस पर सरमद जैसे महान सन्त ने अपने आपको उत्सर्ग कर दिया।

भारतीय सभ्यता के ऐतिहासिक क्रम में भगवान महावीर का अव-तरण कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। तीर्थङ्करों के क्रम में वे प्रथम नहीं वरन् अन्तिम और चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। ऐतिहासिक अनुमान के अनुसार भारत की आदि सभ्यता—मोहन जोदड़ो की सभ्यता, पर जैन-धर्म के प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव का स्पष्ट प्रभाव था। कुछ इतिहासविदों के अनुसार मोहन जोदड़ो से प्राप्त ध्यानावस्थित योगी की आकृति आदिनाथ की ही आकृति है मोहन जोदड़ो से प्राप्त पाद-पीठों पर अंकित कमल और वृषभ की आकृतियाँ जैन प्रतीकों से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त मोहन जोदड़ो की संस्कृति में जो बात

सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती है वह है वहाँ के अवशेषों में किसी भी प्रकार के युद्धास्त्रों, आक्रमणात्मक या रक्षात्मक, का अभाव इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि भारत की आदि सभ्यता, मोहन जोदड़ो, अहिंसात्मक बुनियादों पर कायम की गयी थी, । इस अहिंसा-त्मक जीवन दर्शन का स्पष्ट प्रभाव हमें उपनिषदों और महाभारत में दिखायी देता है। यद्यपि महाभारत में महायुद्ध का वर्णन है किन्तु महाभारत का रचयिता अनेक प्रसंगों में अहिंसा की महत्ता और अनिवार्यता प्रतिपादित करने से नहीं चूकता। महाभारत में बराबर इस सत्य का प्रतिपादन किया गया है कि :—

"युद्ध से वैर बढ़ता है; वैर को जीतना ही सबसे बड़ी जीत है और आत्मजय ही परम जय है।"

अहिंसात्मक जीवन दर्शन पर आधारित समाज रचना का पहला सफल प्रयत्न, ईसापूर्व आठवीं शती में तीर्थङ्कार पार्श्वनाथ ने समाज को संघ—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका—पर आधारित करके चातुर्याम चतुर्विधि धर्म का प्रतिपादन किया। चातुर्याम धर्म के चार आधार थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। पार्श्वनाथ ने वह पृष्ठ भूमि तैयार की जिसने यूनान और मिस्र से लेकर चीन तक अहिंसक समाज रचना के आन्दोलनों को जन्म दिया।

यूनान के प्रसिद्ध सन्त, दार्शनिक, द्रष्टा और योगी औरफियस पार्श्वनाथ के ही समकालीन थे। औरफियस ने भारत आकर पार्श्वनाथ से भेंट की और उनसे इतना अधिक वे प्रभावित हुए कि यूनान लौटकर उन्होंने औरफी मत का प्रतिपादन किया। औरफी मत के मानने वाले ब्रह्मचर्य और संयम पर जोर देते थे, मांस और मदिरा से परहेज करते थे, केवल श्वेत वस्त्र पहनते थे और योग की साधना करते थे। प्रसिद्ध यूनानी सन्त पियागोर अपने को औरफियस का ही अनुयायी बताते थे।

मिस्र का 'थेरापूते' सम्प्रदाय भी पार्श्वनाथ से प्रभावित हुआ। चीनी सन्त मोत्सु पर भी पार्श्वनाथ का प्रभाव पड़ा। मोत्सु ने जिन दो मुख्य सिद्धान्तों पर जोर दिया, वे थे :—(१) 'चिएन आइ' (विश्वप्रेम) और 'फेइ कुङ' (अहिंसा)। मोत्सु के प्रमुख शिष्यों में चीनी सन्त लाओत्से (६०४ ई० पू०) थे। लाओत्से ने 'ताओ' धर्म की स्थापना की। ताओ धर्म ने प्रतिपादित किया कि :—"हर मनुष्य को स्वार्थ, अहंकार और और परिग्रह की भावना से ऊपर उठकर काम करना चाहिए। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह बुराई का बदला भलाई से दे; सदाचारपूर्ण सादा जीवन बिताए; अहिंसा, अस्वार्थ और अपरिग्रह का पालन करे और प्राणायाम की साधना करे।"

अहिंसा के इस एशियाव्यापी आन्दोलन की पृष्ठ भूमि में ५९९ ई० पू० में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन ज्ञातृवंशीय राजा सिद्धार्थ की पत्नी रानी त्रिशला की कुक्षि से वर्धमान महावीर का जन्म एक सहज और स्वाभाविक प्रसंग था। अहिंसक समाज रचना का जो पौधा भगवान ऋषभ देव ने लगाया था; जिसे उनके बाद इक्कीस तीर्थङ्करों ने जल देकर पल्लवित किया था; जिसे तेईसवें तीर्थङ्कर ने पुष्पित किया था उसे अन्तिम और चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर ने एक विशाल वटवृक्ष का रूप दिया, जिसकी शीतल छाया ढाई हजार वर्षों से करोड़ों मनुष्यों को सुख और सान्त्वना प्रदान कर रही है। प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ 'परम ज्योति महावीर' में कवि श्री धन्य कुमार जैन 'सुधेश' ने भगवान महावीर के जन्म, जीवन और शिक्षाओं का गुणानुवाद किया है। उनके उपदेशामृत को काव्य की सलिल धारा में प्रवाहित किया है। कवि ने अपरिमेय मतिभाव से प्रेरित होकर पौराणिक आधारों पर अपने काव्य ग्रन्थ की रचना की है। भगवान महावीर के विराट व्यक्तित्व के अनेकान्त रूप हैं और तुलसीदास के अनुसार :—

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

कवि की भावना यदि भक्तिभाव से ओत-प्रोत है तो आमुख-लेखक भगवान महावीर के ऐतिहासिक और मानवीय व्यक्तित्व पर मुग्ध है। यही तो अनेकान्त जीवन दर्शन, की विशेषता है।

प्रवर्त्तक और निवर्त्तक धर्म

भगवान महावीर के आविर्भाव के समय हमारे भारत देश में प्रवर्त्तक और निवर्त्तक दो प्रकार के धर्म प्रचलित थे। प्रवर्त्तक धर्म यदि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों के बाद सन्यास की अनुमति देते थे तो निवर्त्तक धर्म ब्रह्मचर्य के बाद ही प्रव्रज्या का अधिकारी बना देते थे। प्रवर्त्तक धर्म यदि समाजगामी थे तो निवर्त्तक धर्म व्यक्तिगामी। प्रवर्त्तक धर्म यदि ग्रन्थों को अपना आधार मानते थे तो निवर्त्तक धर्म निर्ग्रन्थी थे। प्रवर्त्तक धर्म यदि यम नियमों का पालनकर पारलौकिक सुखलाभ के लिए प्रयत्न शील थे तो निवर्त्तक धर्म कभी नष्ट न होने वाले अनन्त सुख के खोजी थे। प्रवर्त्तक धर्म यदि आवागमन के सिद्धान्त को मानते थे तो निवर्त्तक धर्म आवागमन से मुक्त निर्वाण की चाहना करते थे। प्रवर्त्तक धर्म यदि देवी देवताओं की उपासना सिखाते थे तो निवर्त्तक धर्म निष्कलंक मनुष्य की उपासना। प्रवर्त्तक धर्म यदि इच्छा के नियंत्रण पर जोर देते थे तो निवर्त्तक धर्म इच्छा के निरोध पर- वैदिक धर्म यदि प्रवर्त्तक था तो जैन धर्म और बौद्ध धर्म निवर्त्तक धर्मी थे। जैन धर्म और बौद्ध धर्म के अतिरिक्त सांख्य दर्शन और न्याय वैशेषिक भी निवर्त्तक धर्म का ही प्रतिपादन करते थे। यह भी एक संयोग की बात है कि सांख्य दर्शन के रचयिता कपिल का कार्यक्षेत्र वही था जहां वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने जन्म लिया। कपिल की वस्तु (भूमि) के कारण ही कपिल वस्तु नाम पड़ा। कपिल की शिक्षाओं का केन्द्र होने के कारण वैदिक ग्रन्थों में वैदिक मत के अनुयायियों का मगध प्रवास वर्जित किया गया ।

जैन और बौद्ध धर्म

भगवान महावीर के कुछ वर्षों तक उपदेश देने के पश्चात् भगवान बुद्ध ने अपना उपदेश प्रारम्भ किया। दोनों धर्म निवर्त्तक धर्म हैं और दोनों ने अहिंसा का प्रतिपादन किया किन्तु दोनों के सिद्धान्तों में कुछ बुनियादी अन्तर है। बौद्ध धर्म चित्त शुद्धि के लिए ध्यान, मानसिक संयम, बाह्य तप और देहदमन को आवश्यक नहीं मानता जब कि जैन धर्म चित्त शुद्धि के लिए बाह्य तप और देहदमन पर जोर देता है। जब कि जैन धर्म के उपदेश गूढ़ और दार्शनिक हैं बौद्ध धर्म के लोक गामी। जब कि महावीर जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर हैं और अपने पूर्व के सब महापुरुषों की परिपूर्णता के प्रतीतात्मक रूप हैं; बुद्ध अपने धर्म के आदि उपदेष्टा हैं। जब कि बौद्ध धर्म के अनुयायियों में मांसाहार वर्जित नहीं जैन धर्म सर्वभूत दया पर अत्यधिक जोर देता है। बौद्ध धर्म जब कि बुद्ध को आदर्श रूप से पूजता है तथा बुद्ध के उपदेशों का ही आदर करता है। जैन धर्म महावीर और अन्य तीर्थङ्करों को इष्टदेव मानता है। इसीलिए उनके वचनों का आदर करता है। दोनों ही धर्मों में प्रथम स्थान त्यागियों का है और दूसरा गृहस्थों का किन्तु बौद्ध धर्म जब कि मध्यमार्ग का प्रतिपादन करता है तो जैन धर्म वीतराग विज्ञान को सर नवाते हुए कहता है।

मंगलमय मंगल करण वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जातें भए, अरहतादि महान॥

भगवान महावीर के उपदेश

प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ में कवि ने अधिकांशतः दिगम्बर अनुभुतियों के आधार पर केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए भगवान महावीर की कठोर साधनाओं, अद्भुत त्याग, अलौकिक तप और असीमित देह दमन का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इस प्रकार बारह वर्ष की तपस्या के बाद जंभिय ग्राम के बाहर, ऋजुवालिका नदी के तट पर,

श्यामाक गृहपति के खेत में, शालवृक्ष के नीचे, गोदोहन आसन से ध्यान मग्न अवस्था में वैशाख शुदी दशमी के दिन भगवान महावीर ने केवल ज्ञान प्राप्त किया। यह भी एक आकस्मिक घटना थी कि भगवान महावीर को गौतम बन्धु-त्रयी-इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति शिष्य रूप में प्राप्त हुए और इनके ग्यारह प्रमुख शिष्यों में आर्य व्यक्त सुधर्म मंडिक, मौर्यपुत्र, अकंपिक, अचल भ्राता, मेतार्य, प्रभास जैसे मेधावी विद्वान शामिल थे।

महासेन वन में अपने प्रथम उपदेशों में यागादिक हिंसा से निरत रहने का उपदेश देते हुए तीर्थङ्कर महावीर ने ब्राह्मणों से कहा-ब्राह्मणो" ! वास्तविक यज्ञ इन्द्रिय निग्रह है; तप उस यज्ञ की अग्नि है; जीव अग्नि स्थान है; मन, वचन और काम-योग उसकी कड़छी है; शरीर अग्नि को प्रदीप्त करने वाला साधन है; कर्म ईंधन है तथा संयम शान्ति मन्त्र है। जितेन्द्रिय पुरुष धर्म रूपी जलाशय में स्नान कर, ब्रह्मचर्य रूपी शान्ति तीर्थ में नहाकर शान्ति यज्ञ करता है। ब्राह्मणो ! यही वास्तविक यज्ञ है, यही वास्तविक धर्म है"। (उत्तराध्ययन)। धर्म की इससे सुन्दर व्याख्या और क्या हो सकती है ?

हिंसा और अहिंसा का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान महावीर कहते हैं—"काम भोगों में आसक्ति का ही नाम हिंसा है और इन्द्रिय दमन ही अहिंसा है।" (प्रवचन सार)। किन्तु इन्द्रिय दमन के रूप अरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा--"नग्न रहने से, भूखे रहने से, पंचाग्नि तप तपने से तप नहीं होता। तप होता है ज्ञान पूर्वक आचरण करने से।" (उत्तराध्ययन) आचार्य कुन्द कुन्द उसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं--"वस्त्र त्यागकर, भुजाएँ लटका कर चाहे कोटि वर्ष तप करो परन्तु अन्तरंग शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं होता और आत्म विकास से ही अन्तरंग शुद्धि होती है।"

जैन धर्म के अनुसार आत्म विकास की चौदह श्रेणियाँ हैं जिन्हे गुणस्थान कहते हैं। मनुष्य उच्चतम श्रेणी पर पहुँच जाता है जो

गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। मोह ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं और तब आत्मानुभव के आनन्द की चरम अवस्था आती है। भगवान महावीर के अनुसार-आत्म विकास की सर्वोच्च अवस्था ही ईश्वरत्व है। बारबार महावीर स्वामी ने इस बात को स्पष्ट किया है कि—केवल सिरमुड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं होता; ओंकार का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता; जंगल में वास करने से कोई मुनि नहीं होता तथा कुश वस्त्र ग्रहण करने से कोई तपस्वी नहीं होता। वास्तव में समता से ही श्रमण होता है; ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है; ज्ञान से मुनि होता है; तप से तपस्वी होता है। मनुष्य अपने अपने कर्मों से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहा जाता है—किसी जाति विशेष में उत्पन्न होने से नहीं।

एक बार किसी ने भगवान महावीर से पूछा—सोना अच्छा या जागना? महावीर ने उत्तर दिया—"पापी मनुष्यों का सोना अच्छा और धर्मात्माओं का जागना।" फिर किसी ने पूछा—बलवान होना अच्छा या दुर्बल? उत्तर दिया—"अधार्मिक मनुष्यों का दुर्बल होना अच्छा और धार्मिकों का बलवान।"

सेवा परम धर्म

भगवान महावीर के अनुसार सेवा ही धर्म का मूल है। वे अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहते हैं—"यदि कोई बीमार है या संकट में पड़ा है और तुम उसकी सहायता करने में समर्थ हो लेकिन यह समझकर सहायता नहीं करते कि इसने मेरा कोई काम नहीं किया मैं क्यों इसकी सहायता करूँ? जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन होता है वह धर्म से सर्वथा पतित हो जाता है। उक्त पाप के कारण वह सत्तर कोटाकोटि सागर तक चिरकाल जन्म मरण के चक्र में उलझा रहेगा। सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा।" (चम्पापुर प्रवचन)।

साधुओं को सम्बोधन करते हुए वे कहते हैं—"यदि कोई साधु अपने बीमार या संकटापन्न साथी को छोड़कर तपश्चरण करने चला जाता है तो वह अपराधी है, संघ में रहने योग्य नहीं है। उसे १२० उपवासों का प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा।" (निशीथ सूत्र)। भगवान महावीर सेवा पर बल देते हुए कहते हैं—"सेवा स्वयं बड़ा भारी तप है" (उत्तराध्ययन् तपोमार्ग)।

भगवान महावीर की आठ महान शिक्षाओं में पाँचवीं शिक्षा है:—

असंगहीय परिजणस्स संगिण्हयाए अभुट्ठेयव्वं भवइ। अर्थात्—"जो अनाश्रित है, निराधार है, जीवन-यापन के लिए जिसके पास स्थान नहीं उसे तुम आश्रय दो, सहारा दो और जीवत-यापन का सम्बल दो।" (स्थानांग सूत्र ८,६१)। "जैन गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला हुआ हो।" (भगवती सूत्र)।

एक बार भगवान के प्रिय शिष्य इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—"भगवन् एक व्यक्ति दिन रात आपकी उपासना और भक्ति में लीन रहता है फलतः उसे दुखियों की सेवा के लिए अवकाश नहीं मिलता। दूसरा व्यक्ति दुखियों की सेवा में इतना तन्मय रहता है कि उसे आपकी उपासना आराधना का समय नहीं। भगवन! दोनों में कौन श्रेष्ठ है, कौन आपके धन्यवाद का पात्र है?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! जो दीन दुखियों की सेवा करता है वही श्रेष्ठ है; वही मेरे धन्यवाद का पात्र है।" गौतम ने असमंजस भरी जिज्ञासा से पूछा—"भन्ते! दुःखितों की सेवा की अपेक्षा आपकी आराधना का अधिक महत्व होना चाहिए।" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! मेरी आराधना मेरी आज्ञा का पालन है। मेरी सबसे बडी आज्ञा यह है कि दुखियों की सेवा करो। इसीलिए दुखियों की सेवा करने वाला ही श्रेष्ठ है मेरी उपासना करने वाला नहीं।"

जैन धर्म में सर्वोच्च पद तीर्थंङ्कर का माना गया है। भगवान महावीर अपने अन्तिम प्रवचन में सेवा का महत्व बताते हुए कहते हैं।

"वेपा वच्चेणम तित्थवर,
"नाम गोत्तम कम्मं निवंधइ।"

अर्थात्—"वैयावृत्ति करने से, सेवा करने से तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति होती है।" भगवान महावीर तीर्थङ्करों के लिए भी सेवा का ही आदर्श रखते हैं। कितनी विनम्र महानता है उनके इस कथन में।

जैन गृहस्थ जब प्रातःकाल उठता है तो वह संकल्प करता है—"मैं जन समाज की सेवा के लिए अपने धन का उपयोग करूंगा। वह दिन धन्य होगा जब मेरी सम्पत्ति और संग्रह का उपयोग जन समाज के लिए होगा, दीन दुखियों के लिए होगा।" (स्थानांग सूत्र)। भगवान महावीर इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"असंविभागी नहुतस्स मोक्खो।"

अर्थात्—जो परिग्रह द्वारा संग्रहीत अपना धन दूसरों की सेवा के लिए अर्पण नहीं करता वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

मानव धर्म

जिस महान मानव धर्म का प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया उसमें अस्पृश्यों और स्त्रियों की हीनता का कैसे कोई स्थान रह सकता था? भगवान के शिष्य राजा श्रेणिक जब जैन धर्म का महत् ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं तो भगवान हरिकेश नामक चांडाल कुलोत्पन्न जैन भिक्षु को इस काम के लिए राजा के पास भेजते हैं। श्रेणिक हरिकेश को निम्न आसन पर बैठाकर स्वयं उच्चासन पर बैठकर विद्या ग्रहण करना चाहता है तो उसे गूढ़ विद्या प्राप्त नहीं

होतो। भगवान उसकी सारी बात सुनकर कहते हैं—"जब तक हरिकेश के साथ आसन बदल कर श्रेणिक निम्न आसन पर नहीं बैठते उन्हें कैसे गूढ़ ज्ञान प्राप्त हो सकता है!" राजा जब चांडाल मुनि को आदर देता है तभी उसकी विद्या पूरी होती है।

भगवान बुद्ध ने बहुत सोच विचार के बाद महा प्रजापति गौतमी को प्रव्रज्या दी थी किन्तु भगवान महावीर ने सहज भाव से अपने चतुर्विधि संघ में स्त्रियों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। भगवान जब कौशाम्बी जाते हैं तो उनका हृदय कारागृह में पड़ी, बेड़ियों से जकड़ी, सिर मुड़ी हुई कौशाम्बी के नगर श्रेष्ठ की दासी चन्दन बाला के दुःख से द्रवित हो उठता है। भगवान कई दिनों तक कौशाम्बी में भिक्षा ग्रहण नहीं करते और जब करते हैं तो दासी चन्दन बाला के हाथों से। यही दासी भगवान महावीर की प्रथम शिष्या और उनके भिक्षुणी संघ की प्रथम अधिष्ठात्री बनी। (चुलवग्ग) प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ में चन्दन बाला के प्रसंग का मार्मिक वर्णन कवि ने किया है।

भगवान महावीर के राजशिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म की शिक्षा का विधिवत् प्रचार करने के लिये अपने धर्म दूत यूनानी सम्राट अन्तिओकस, मिस्र के सम्राट टालेमी, मैसिडोन के राजा अन्तिगोनस साइरीन सम्राट मारगस और एपिरो नरेश अलेक्जेंडर के पास भेजे। मिस्र की राजधानी काहिरा से एक हजार मील दूर रेगिस्तान के बीच में बसे हुये नगर साइरीज में भी जैन धर्म के प्रचारक पहुँचे।

भगवान महावीर मानव भावनाओं से परिपूर्ण मानव धर्म के महान प्रचारक थे जिनके जीवन और जिनकी शिक्षा के ऐतिहासिक महत्व के आगे उनका पौराणिक महत्व अधिक मूल्य नहीं रखता। आज का युद्ध सन्तप्त मानव, संसार के कल्याण के लिये, भगवान महावीर की शिक्षाओं की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है क्योंकि उन्हीं शिक्षाओं

में विश्व कल्याण निहित है । इसीलिये आज भगवान महावीर के जीवन और उनकी शिक्षाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का महत्व बढ़ गया है ।

हमें विश्वास है कवि का यह श्रेष्ठ प्रयत्न, भगवान महावीर का पावन जीवन प्रसंग हमारे हृदयों में वह प्रेरणा पैदा करेगा जिससे हम आज के युग में लोक-कल्याण की भावना से भगवान के सच्चे अनुयायी होने का दावा पेश कर सकें ।

आजाद स्क्वायर, विश्वम्भरनाथ पांडे

इलाहाबाद,

१५-५-१९६१

शुभाशीर्वाद एवं सन्देश

श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी (सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक जैन सन्त)

आपकी प्रतिभा का हमें छात्रावस्था से ही परिचय है, आपने कवित्व में अच्छी विशेषता का परिचय दिया है। आपकी आत्मा उन्नत पद को प्राप्त हो, यही शुभ आशीर्वाद है।

शांतिनिकेतन, ईसरी — गणेशवर्णी
१६-५-६०

श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद जी (राष्ट्रपति भारत)

आपके प्रयास की सफलता के लिए राष्ट्रपति जी अपनी शुभ कामनाएँ भेजते हैं।

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली-४ — राजेन्द्रलाल हांडा
१५-७-६० — (राष्ट्रपति जी के प्रेस सचिव)

श्री सर राधाकृष्णन् (उपराष्ट्रपति भारत)

I am glad to know that you are bringing out a book called "Paramjyoti Mahavir" I wish your endeavours success.

New Delhi — S. Radhakrishnan
June 4. 1960

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आप "परम ज्योति महावीर" नामक पुस्तक प्रकाश में ला रहे हैं। मैं आपके सत्प्रयत्न की सफलता चाहता हूँ।

नई दिल्ली   सर राधाकृष्णन्
४-६-४०

श्री अजित प्रसाद जी जैन(भूतपूर्व खाद्य मंत्री भारत)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तीर्थंकर महावीर की जीवनी पर आपने "परम ज्योति महावीर" नामक एक महाकाव्य की रचना की है। भगवान महावीर के अहिंसा के महान उद्देश्य को लोग कुछ भूले जा रहे थे। महात्मा गाँधी ने पुनः उसे जीवित किया और उसी के साथ जन-साधारण के मन में भगवान महावीर के प्रति और भी श्रद्धा बढ़ी। कविता की रचना करके आपने देश की बड़ी सेवा की है और इसके लिए मेर धन्यवाद स्वीकार कीजिये।

नई दिल्ली   अजितप्रसाद जैन
१६-७-६०

श्री राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त (सदस्य राज्य सभा)

भगवान महावीर पर आपने काव्य रचना की है, यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ, आशा है उसका प्रकाशन फल प्रद होगा।

मेरी शुभकामना स्वीकार कीजिये।

८-६-६०   मैथिलीशरण

श्री मिश्री लाल जी गंगवाल(वित्त मंत्री मध्यप्रदेश)

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने तीर्थंकर महावीर पर "परम ज्योति महावीर" महाकाव्य दो हजार पाँच सौ उन्नीस छन्दों में पूर्ण कर

लिया है। काव्य की रूप-रेखा देखने के पश्चात् ही मैं सन्देश के रूप में विशेष कुछ कह सकूँगा। वैसे मेरा आशीर्वाद तथा शुभ सन्देश इस प्रकाशन के लिये है ही।

आपके इस पुण्य प्रयास के लिये बधाई।

पँचमढ़ी मिश्रीलाल गंगवाल

७-६-६०

श्री दशरथ जी जैन (उपमन्त्री लोक निर्माण एवं विद्युत मध्यप्रदेश)

आपका महाकाव्य "परम ज्योति महावीर" प्रकाशित होने जा रहा है यह जानकर प्रसन्नता हुई। यह महाकाव्य भगवान महावीर के विषय में जन साधारण को न केवल पर्याप्त जानकारी ही देगा प्रत्युत उसको पढ़कर लोगों के जीवन में एक महान क्रान्ति आवेगी वे सत्य और अहिंसा के अपने आपको अधिक निकट पावेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

भोपाल दशरथ जैन

२०-५-१९६०

श्री साहू शान्ति प्रसाद जी जैन कलकत्ता (सुप्रसिद्ध उद्योगपति)

भगवान महावीर के सम्बन्ध में आपने चिन्तन किया है और उनका गुणानुवाद गाया है यह अपने आपमें भव्य प्रयत्न है।

कलकत्ता शान्तिप्रसाद जैन

२९-५-६०

श्री कैप्टेन सर सेठ भागचंद जी सोनी (अध्यक्ष भा० दि० जैन महासभा)

श्री धन्यकुमार जी जैन 'सुधेश' ने हाल ही में "परम ज्योति महावीर" नामका भगवान महावीर के ऊपर एक सुन्दर काव्य लिखा है जो कि शीघ्र ही छपने जा रहा है।

श्री 'सुवेश' जी की कविताएँ जैन पत्रों में समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। उनकी प्रतिभा से उनकी कविता को पढ़ने वाले प्रभावित हुये बिना नहीं रहते। ये जैन समाज के उदीयमान कवि हैं।

मैं उनके इस सुन्दर प्रयास की सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनकी यह रचना सभी के हृदयों में भगवान महावीर के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का संचार करेगी।

अजमेर भागचन्द
१६-६-६०

श्री यशपाल जी जैन (सम्पादक 'जीवन साहित्य')

मैं "परम ज्योति" महाकाव्य का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। मुझे विश्वास है कि पाठकों को उसके द्वारा स्वस्थ एवं उपयोगी सामग्री प्राप्त होगी। वस्तुतः ऐसी कृतियों की आज बड़ी आवश्यकता है जो चरित्र-निर्माण की प्रेरणा दे सकें। आपका महाकाव्य इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा।

नई दिल्ली यशपाल जैन
१६-६-६०

श्री कामता प्रसाद जी जैन (संचालक अखिल विश्व जैन मिशन)

यह जाकर परम हर्ष है कि भाई सुधेश जी का महा काव्य प्रकाशित हो रहा है। सुधेश जी की कवि रूप में ख्याति उनकी जन्म जात काव्य प्रतिभा का प्रमाण मात्र है। तीर्थंकर सदृश महापुरुष के विशाल जीवन को शब्दों में उतार लाना मनीषियों का ही काम है। उनका काव्य संसार के कोने-कोने में ज्ञान ज्योति का दिव्य प्रकाश फैलाये यही कामना है।

अलीगंज (उ० प्र०) कामता प्रसाद
१-८-६०

श्री विदुषीरत्न ब्र० पण्डिता चन्दाबाई जैन (संचालिका जैन बाला विश्राम आरा)

"परम ज्योति महावीर" नामक महाकाव्य की रचना का आयोजन जानकर प्रसन्नता हुई श्री अन्तिम तीर्थंकर महावीर प्रभु की दिव्य ज्योति ही आज इस पंचम काल में जैन धर्म को प्रकाश प्रदान कर रही है एवं उनकी दिव्य वाणी ही जैनों के जैनत्व को कायम रख रही है। इन महाप्रभु के चरित्र को पद्यमय रचकर अलंकृत करने का प्रयास श्री 'सुधेश' जी का सफल हो और यह रचना स्वाध्याय प्रेमियों के लिये व्यवहार तथा निश्चय दोनों दृष्टिकोणों से मोक्ष मार्ग दर्शाने में समर्थ हो।

धर्मकुञ्ज, आरा
१३-६-६०

चन्दाबाई

श्री पं० जगमोहन लाल जी शास्त्री (प्रधान मंत्री भा० दि० जैन संघ)

हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने इस युग के महान ऐतिहासिक और धर्मतीर्थ प्रवृत्ति के संचालन करनेवाले भगवान महावीर स्वामी के सम्बन्ध में एक महाकाव्य का निर्माण किया है जो कि महा-काव्य के समस्त लक्षणों और अंगों से परिपूर्ण तथा सर्वाङ्ग उपयोगी है। इस काव्य का निर्माण कर आपने एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति की है। आपका प्रयास आपके कवि जीवन को सफल बनाने का महान् प्रयास है हमें विश्वास है आपकी सरल-सरस और सुन्दर काव्य रचना भगवान महावीर के पवित्र जीवन चरित्र के आश्रय को पाकर जनता के हृदय में धर्म सुधा का सिंचन करेगी। भावी युग में धार्मिक एवं नैतिक चरित्र को आगे बढ़ाने में यह एक बहुत बड़ा प्रयास सिद्ध होगा।

कटनी
२०-५-६०

जगमोहनलाल शास्त्री

श्री पं० पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य (मंत्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्)

आप सुकवि हैं, आपके द्वारा लिखित "परम ज्योति महावीर" साहित्यिक क्षेत्र में अच्छा आदर प्राप्त करेगा।

सागर पन्नालाल

२०-५-६०

❋

समर्पण

करुण, धर्मवीर एवं शान्तरस प्रधान

यह महाकाव्य

समर्पित

है

उन्हें

जो किसी भी दुखी को देख करुणा से द्रवीभूत हो उठते हैं,

जो मानव-धर्म पालने में ही जीवन की सार्थकता अनुभव

करते हैं,

और

जो केवल व्यक्तिगत ही नहीं समाष्टिगत शान्ति के लिये

भी प्रयत्नशील रहते हैं।

कृति की कथा

माध्यमिक शाला में अध्ययन करते समय ही काव्यानुरक्ति की बेलि मेरे हृदय में अंकुरित हो उठी थी, फलतः सरस काव्यों का रसास्वादन एवं उनके गुण दोषों का विवेचन मेरा दैनिक व्यसन सा बन चला। यह व्यसन केवल यहीं तक सीमित नहीं रहा, अपितु काव्य रचना का रोग भी बाल्यावस्था से ही लग गया।

हिन्दी साहित्य के पाठ्य ग्रन्थों के रूप में जब भी राष्ट्र कवि मैथिली शरण जी गुप्त का 'साकेत' तथा महा कवि श्री जयशंकर प्रसाद जी की "कामायनी' आदि हिन्दी के ख्याति प्राप्त महाकाव्य पढ़ने को मिले, तब उनकी महत्ता से प्रभावित मेरे हृदय में यह भावना जाग्रत हुई कि जैन धर्म के चरम तीर्थंकर परम ज्योति महावीर के सम्बन्ध में भी एक ऐसा महाकाव्य अविलम्ब रचा जाना चाहिये, जिसमें उनके जीवन से सम्बन्धित समस्त घटनाओं के साथ तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी यथा स्थान चित्रण हो, जिसको पढ़कर पाठक का हृदय करुण, धर्मवीर एवं शान्त रस की त्रिवेणी में अवगाहन कर पावन हो उठे। जिसमें केवल कवित्व का प्रदर्शन, प्रतिभा का चमत्कार एवं बुद्धि का व्यायाम ही न हो, अपितु चरित्र नायक द्वारा प्रतिपादित तत्वों एवं दर्शन का भी यथा स्थान विवेचन हो। इसके साथ ही सर्वत्र जैन धर्म की मौलिक मान्यताओं की सुरक्षा का भी पूर्ण ध्यान रखा जाये।

उक्त विशेषताओं से युक्त महाकाव्य की आवश्यकता केवल मैंने ही अनुभव की हो, ऐसी बात नहीं। मुझ जैसे अनेक परम ज्योति

महावीर के श्रद्धालु काव्यानुरागियों को यह अभाव खटकता रहा है। कुछ कर्मठ कवि इस अभाव की पूर्ति का प्रयास भी कर रहे थे। मेरा भावुक कवि-हृदय भी उन्हीं दिनों ऐसा महाकाव्य लिखने को ललचा उठा था, पर तब मेरी काव्य साधना घुटनों के बल चलना ही जानती थी। इस हिमालय के शिखर तक पहुँच सकना उसके सामर्थ्य के बाहर था। अतः मन की साध मन में लिये ही रह जाना पड़ा।

आज से १४ वर्ष पूर्व मैंने ललितपुर के सहृदय कवि श्री हरिप्रसाद् जी 'हरि' से इस विषय में लिखे जाने वाले महाकाव्य के कुछ छन्द सुने थे और तब उन्हें सुनकर मुझे आशा हो गयी थी कि उक्त अभाव की पूर्ति अविलम्ब होने जा रही है, पर दीर्घ समय तक श्री 'हरि' जी के महाकाव्य के पूर्ण होने के समाचार प्राप्त नहीं हुये, यह देखकर आशा की वह सुकोमल लता मुरझा चली।

जुलाई, सन् १९५१ में भारतीय ज्ञान पीठ काशी से श्री 'अनूप' जी शर्मा का 'वर्द्धमान' महाकाव्य प्रकाशित हुआ। जब उसका विज्ञापन समाचार पत्रों में देखा तो मन मयूर हर्षावेग में नृत्य कर उठा। मैंने वह ग्रन्थ मँगाकर आद्योपान्त ध्यान पूर्वक पढ़ा। पढ़ने पर प्रसन्नता संकुचित हो गयी, इसका कारण यह था कि मैंने अपने मास्तिष्क में श्री महावीर सम्बन्धी महाकाव्य का जो रेखा चित्र खींचा था, उसके दर्शन इस १९९७ छन्दों के विशाल महाकाव्य में भी नहीं हुये।

इसमें सन्देह नहीं कि श्री 'अनूप' जी शर्मा ने इस महाकाव्य के प्रणयन में यथा शक्ति परिश्रम किया था और उनका यह साहस केवल प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी था। फिर भी कुछ ऐसे कारण इस महाकाव्य में विद्यमान थे, जिससे उसकी उपयोगिता

उतनी अधिक नहीं मानी जा सकी जितनी मानी जानी चाहिये। इसमें महावीर सम्बन्धी घटनाओं का क्रमवार इतिहास भी देखने को नहीं मिलता, जिसकी आवश्यकता सर्वोपरि थी। इसके अतिरिक्त इसकी रचना के लिये श्री 'अनूप' जी ने संस्कृत वृत्त को अपनाया इसमें अन्त्यानुप्रास का सर्वथा अभाव होने के कारण प्रवाह भी उतना नहीं आ पाया जितना आना चाहिये था। ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग बहुलता से किया गया है, जिससे रचना के प्रसाद एवं माधुर्य गुण को बाधा पहुँची है एवं श्रमसाध्य होने पर भी उक्त महाकाव्य साधारण पाठक के लिये रुचि पूर्वक पठनीय नहीं रह गया। कवि के ब्राह्मण होने के कारण अनायास ही ब्राह्मणत्व की कुछ ऐसी मान्यताएँ भी उक्त महाकाव्य में आ गयीं है जो जैन सिद्धान्तों के विपरीत हैं। यह सब होते हुये भी मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि श्री 'अनूप' जी ने तीर्थंकर वर्द्धमान पर महाकाव्य रचकर अपनी लेखनी को पावन किया है। केवल यही नहीं, अपितु भावी कवियों के लिये उन्होंने एक रुद्ध मार्ग का उद्घाटन कर दिया है। मुझे स्वयं श्री 'अनूप' जी के महाकाव्य से इस महाकाव्य को लिखने की प्रेरणा मिली है और एतदर्थ उनका आभार स्वीकार करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

जब 'वर्द्धमान' महाकाव्य को मैंने भावना के अनुरूप नहीं पाया, तब मैंने आवश्यक शक्ति और साधनों का अभाव रहते हुये भी इस साहित्यिक अनुष्ठान को सम्पन्न करने की भावना की और 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार भाद्रपद शुक्ला अष्टमी वीर निर्वाण संवत् २४८० (वि० सं० २०११) तदनुसार ५ सितम्बर, सन् १९५४ को महाकाव्य लिखने का संकल्प कर शुभारम्भ कर दिया।

ग्रन्थ का शुभारम्भ मैंने जिस उल्लास के साथ किया, वह उल्लास अबाध रूप से अपने संकल्प को मूर्त्तिमान करने में निरन्तर सक्रिय

नहीं रह पाया। श्रेयांसि बहु विघ्नानि, के अनुसार अनेक विघ्न आते गये, अतः इच्छा रहते हुये भी मैं अपने इस उद्देश्य की पूर्ति उतने शीघ्र नहीं कर पाया जितने शीघ्र हो सकती थी (Better late than never) के अनुसार विलम्ब से ही सही चैत्र कृष्णा दशमी वीर निर्वाण संवत् २४८६ (वि० सं० २०१६) तदनुसार २२ मार्च, १९६० को अपना यह मनोरथ मूर्तिमान कर मैंने अपने में एक अनिवर्चनीय आनन्द का अनुभव किया।

शुभारम्भ के दिन से लेकर परिसमाप्ति तक की अवधि यद्यपि ५ वर्ष ६ मास १७ दिन होती है, पर इस दीर्घ अवधि में प्रस्तावना तथा २३ सर्ग क्रमशः ४ + २३ + १७ + १० + १६ + १३ + ६ + ७ + ५ + ४ + ४ + ४ + २ + ८ + ५ + ५ + ५ + ४ + ४ + ४ + ८ + ४ + ४ + ६ = १७२ दिनों अर्थात् ५ मास २२ दिनों में लिखे गये हैं। इस प्रकार ५ वर्ष २५ दिन ऐसे रहे जिनमें एक भी छन्द नहीं लिखा गया। यों रचना के दिनों का औसत ११.६१ प्रतिशत रहा।

यह महाकाव्य वीर निर्वाण संवत् २४८६ में परिपूर्ण किया गया है अतएव इसमें वन्दना के २ तथा तेईस सर्गों के १०८-१०८ छन्द इस प्रकार छन्द संख्या (२३ × १०८ + २ =) २४८६ रखी गयी है, जो इस बात की सूचिका है कि जिस समय यह महाकाव्य पूर्ण किया गया, उस समय परम ज्योति महावीर का निर्वाण हुये २४८६ वर्ष हो चुके थे। इन २४८६ छन्दों के अतिरिक्त ३३ छन्दों की प्रस्तावना पृथक् से है, यों कुल मिलाकर २४८६ + ३३ = २५१६ छन्द हैं।

मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, इन तीन पूर्वक से मन, वचन, कर्म इन तीन की सहायता से कृत, कारित, अनुमोदना इन तीन रूप अर्थात्

४×३×३×३=१०८ प्रकार से पाप किया करता है, अतएव पाप के इन १०८ प्रकारों से बचने के लिये जप की माला में १०८ दाने रखे जाते हैं। इसी उद्देश्य से इस महाकाव्य में भी प्रत्येक सर्ग में १०८ छन्द रखे गये हैं।

सर्गों की संख्या इस महाकाव्य में २३ रखी गयी है, जो इस बात की सूचिका है कि जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर नहीं थे, अपितु इनके पूर्व २३ तीर्थंकर और हो चुके थे, जिन्होंने अपने अपने समय में जैन धर्म का प्रचार किया था।

काल दोष से परम ज्योति महावीर के अनुयायी दो भागों में विभक्त हो गये, १—दिगम्बर और २—श्वेताम्बर। इस विभाजन के कारण जैन धर्म को अनेक हानियाँ उठानी पड़ीं, परस्पर के संघर्ष में दोनों की शक्तियों का तो अपव्यय हुआ ही, पर इससे वीर-वाणी के यथार्थ रूप पर भी कुठाराघात हुआ, जिससे साहित्य में भी यत्र तत्र परस्पर विरोधी कथनों का समावेश हो गया। ऐसी स्थिति में तथ्य के निर्णय हेतु दोनों सम्प्रदायों के कथनों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना आवश्यक हो गया। इन समस्त विवाद ग्रस्त विषयों के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखने से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रच जायेगा, अतएव इस विषय में मौन रहना ही ठीक समझा है, पर इस प्रसंग में इतना लिख देना आवश्यक समझता हूँ कि इस कृति को यथा सम्भव प्रामाणिक और उपयोगी बनाने की भावना से मैंने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के उन सभी ग्रन्थों का गम्भीरता पूर्वक मनन किया है जो मुझे उपलब्ध हो सके हैं। एवं दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों में मुझे जो कुछ सत्, शिव, सुन्दर प्राप्त हुआ है, उससे इस महाकाव्य को अलंकृत करने का प्रयत्न किया है। इसमें कोई भी बात पक्ष मोह या ईर्ष्या की भावना से नहीं लिखी गयी, अतः इस सम्बन्ध में पूर्ण सावधान रहने पर भी यदि कहीं कोई दोष निष्पक्ष विद्वानों को

दृष्टि गोचर हो तो उसे सूचित करने का कष्ट करें। आगामी संस्करण में उसे दूर करने का प्रयास किया जायेगा।

यद्यपि कृति में प्रायः सभी प्रमुख घटनाओं का समावेश करने का प्रयास किया गया है, तदपि ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जाने के भय से अनेक प्रसङ्गों को संक्षेप रूप में ही लिखना पड़ा है।

यह ग्रन्थ केवल काव्य मर्मज्ञों के ही पठन की वस्तु न बन जाये, अतः ग्रन्थ में सर्वाधिक प्रचलित छन्द का ही प्रयोग किया गया है। जिससे कि सभी पाठक सुचारु रूप से प्रवाह के साथ इसे पढ़ सकें। जिस प्रकार हमें परम ज्योति महावीर के जीवन में सर्वत्र एक ही रूप वीतरागता के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार इस महाकाव्य में भी सर्वत्र एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक छन्द प्रसाद और माधुर्य गुण से युक्त हो यह दृष्टि आद्योपान्त रहने के कारण सरल, सुबोध और सर्व प्रचलित शब्दावली ही उपयोग में लायी गयी है। फिर भी प्रसगवश अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है। अतएव ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट संख्या १ में २८६ शब्दों का एक संक्षिप्त पारिभाषिक शब्द कोष भी दे दिया है। इससे सर्व साधारण भी महाकाव्य पढ़ते समय उन पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में साधारण जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इसके निर्माण में 'वृहत् हिन्दी कोष' और 'वृहत् जैन शब्दार्णव' से सहायता प्राप्त हुई है, अतः मैं उक्त दोनों शब्द कोषों के विद्वान सम्पादकों का आभारी हूँ।

परम ज्योति 'महावीर' के विहारस्थलों का परिचय देने की दृष्टि से परिशिष्ट संख्या २ में ६२ विहारस्थलों का एक संक्षिप्त विहारस्थल नाम कोष भी दे दिया है। इसके निर्माण में 'श्रमण महावीर, पुस्तक से सहायता मिली है अतः इसके लेखक पं० कल्याण विजय जी गणी का भी आभार स्वीकार करता हूँ।

परिशिष्ट संख्या ३ में परम ज्योति महावीर के प्रमुख शिष्यों एवं भक्तों का संक्षिप्त परिचय भी दे दिया है।

उक्त तीनों परिशिष्ट कृति की उपयोगिता बढ़ाने में सहायक ही सिद्ध होंगे, ऐसा विश्वास है।

इस महाकाव्य को लिखने में जिन २ दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वानों के ग्रन्थों एवं निबन्धों से सहायता प्राप्त हुई है, उन सबका मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

इसके अतिरिक्त जो मित्र समय समय पर पत्रों द्वारा यह ग्रंथ शीघ्र पूर्ण करने की प्रेरणा देते रहे हैं, वे भी इस अवसर पर धन्यवादार्ह हैं।

महाकाव्य के प्रकाशन की सफलता के लिये जिन्होंने अपने शुभाशीर्वाद एवं शुभ सन्देश समय पर प्रेषित कर मुझे प्रोत्साहित किया है। उनके प्रति भी मैं विशेष रूप से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

आदरणीय श्री विश्वम्भर नाथ जी पाण्डे (भूतपूर्व मेयर इलाहाबाद) ने इसकी भूमिका लिखने की कृपा की है। अतः इस अवसर पर उनके प्रति भी मैं हार्दिक आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

इस महाकाव्य के प्रकाशन हेतु श्री पं० नाथू लाल जी शास्त्री इन्दौर का सहयोग भी इस अवसर पर स्मरणीय है। उन्हीं के सत्प्रयत्न के फल स्वरूप इसका प्रकाशन श्री सेठ जवर चन्द फूलचन्द गोधा ग्रन्थ माला इन्दौर की ओर से हो रहा है। अतः श्री पं० नाथू लाल जी शास्त्री एवं उक्त संस्था के सम्माननीय ट्रस्टीगण धन्यवाद के पात्र हैं।

इस कृति के मुद्रण सम्बन्धी समस्त सौन्दर्य का श्रेय दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स (प्राइवेट) लि० इलाहाबाद को है । अतः इसके संचालक महोदय एवं अन्य सहयोगी कार्यकर्त्ताओं को भी इस प्रसंग में हार्दिक धन्यवाद है ।

यदि इस महाकाव्य का एक भी छन्द भौतिक वाद के गहन अंधकार से ग्रस्त एक भी मानव को अध्यात्मवाद की परम ज्योति दे सका, तो मैं अपने इस प्रयास को सार्थक ही समझूँगा । इत्यलम् ।

नागौद (म० प्र०) 'सुधेश' जैन
६–३–६१

—०—

विषय-क्रम

चौथा सर्ग

पाँचवाँ सर्ग

छठा सर्ग

सातवाँ सर्ग

आठवाँ सर्ग

...

नवाँ सर्ग

दसवाँ सर्ग

ग्यारहवाँ सर्ग

बारहवाँ सर्ग

तेरहवाँ सर्ग

चौदहवाँ सर्ग

पन्द्रहवाँ सर्ग

सोलहवाँ सर्ग

सत्रहवाँ सर्ग

अठारहवाँ सर्ग

उन्नीसवाँ सर्ग

बीसवाँ सर्ग

इक्कीसवाँ सर्ग

बाईसवाँ सर्ग

तेईसवाँ सर्ग

--:०:--

चित्र-सूची

—❀—

प्रस्तावना

उनके ही मन की करुणा सी,
उनकी यह करुण कहानी है।
यह मसि से लेख्य नहीं, इसको,
लिखता कवि दृग का पानी है॥

जिनने न कभी उलझाये दृग,
नारी के श्यामल केशों में।
जिनने न कभी उलझाये दृग,
उनके अंचल के रेशों में॥

जिनने न कभी भी रास रचा—
जिनने न कभी होली खेली।
जिनने न कभी जल क्रीड़ा की,
जिनने न कभी की रँगरेली॥

जिनने फागुन की रातों में,
गाये उन्मादक गान नहीं।
जिनने सावन की संध्या में,
छेड़ी वंशी की तान नहीं॥

जिनका परिचय तक हो न सका,
रागोद्दीपक श्रृंगारों से।
जो रहे अपरिचित आजीवन,
आलिंगन से अभिसारों से॥

भोगों की गोदी में पल भी,
जिनका मन बना न भोगी था।
योगों के साधन से वञ्चित—
रह भी जिनका मन योगी था॥

जिनका यह पौरुष देख स्वयं,
अभिमानी के भी भाल झुके।
जिनका यह साहस देख स्वयं,
सेनानी के भी भाल झुके॥

जिनकी मुद्रा में अङ्कित थे,
जग के सब प्रश्नों के उत्तर।
जिनके नयनों से बहता था,
करुणा का अमृतमय निर्झर॥

जिनकी दृढ़ता को देख चकित—
था अम्बर तल का ध्रुवतारा।
जिनकी पावनता से चिन्तित,
रहती थी गङ्गा की धारा॥

जो चित्र 'निर्जरा' का लिखते—
थे लिये तपस्या की तूली।
इतना भी ध्यान न देते थे,
कब आयी ऊषा गोधूली!

जिनके वचनों में 'सत्य' बसा,
भावों में 'शिव' तन में 'सुन्दर'।
जिनकी सेवा में शान्ति स्वयं,
तल्लीन रही नित जीवन भर॥

जिनने न कभी भी घटने दी,
रति रागाकर्षण की घटना ।
यौवन का स्वागत गान किया,
नित लगा विरति की अति रटना ॥

जिनने न कभी सोचा, मुझको-
वरने को हर सुन्दर बाला ।
हाथों को चलनी बना चुकी,
नित गूँथ सुई से वरमाला ॥

भू पर कोई भी रूपवती,
जनमी जिनके अनुरूप नहीं ।
जामाता जिनको बना सका,
जगती का कोई भूप नहीं ॥

जिन गृह-विरक्त को रोक सका,
जननी का अश्रु-प्रवाह नहीं ।
जिन अनासक्त को खींच सकी,
सिंहासन की भी चाह नहीं ॥

जिनने दी त्याग सभी सज्जा,
पहिना तक लज्जा वस्त्र नहीं ।
जिनने तज दिया परिग्रह सब,
बाँधा तक रक्षा-अस्त्र नहीं ॥

कैवल्य साधना तक में भी,
जिनको न कभी सन्देह हुवा।
चरणों पर पड़ी सफलता से,
जिनको न कभी भी स्नेह हुवा॥

जिनकी छाया में बाघिन की,
छाती से चिपटे मृगछोने।
सिंहों के बच्चों को निर्भय,
पय पान कराया गौओं ने॥

जिनके दर्शन को चले सदा,
अहि नकुल सङ्ग ही झाड़ी से।
जिनके दर्शन को चले सदा,
गज सिँह के सङ्ग पहाड़ी से॥

जीवन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति—
पा जिनका पौरुष धन्य हुवा।
जिनके सम पुरुष महीतल पर,
उस दिन से अभी न अन्य हुवा॥

अब तक भी जिनका मुक्ति-दिवस,
हर वर्ष मनाया जाता है।
गृह गृह में दीपावली जला,
जिनका यश गाया जाता है॥

जो कभी न लोचन उलझाते,
संसृति की श्यामल अलकों में।
पर सदा भूलते रहते जो,
भक्तों की पुलकित पलकों में॥

जिनको न सुला पाती सन्ध्या,
जिनको न जगा पाती ऊषा।
जिनको है दूषण से भूषण,
जिनको है भूला सी भूषा॥

जो कभी पुजारी की थाली,
को भी स्वीकार नहीं करते।
जो कभी अनाड़ी की गाली—
को अस्वीकार नहीं करते॥

जिनकी सब पर समदृष्टि सदा,
सुर पर, नर पर, पशु-कीटों पर।
दीनों के जर्जर चिथड़ों पर,
भूपों के रत्न-किरीटों पर॥

अभिमान 'अहिंसा' को जिन पर,
है 'सत्य' 'शील' को स्वाभिमान।
अब तक 'अपरिग्रह' के मन पर,
छाया है जिनका गुण-वितान॥

जिनको कुछ 'सन्मति' कहते हैं,
कुछ कहते जिनको 'वर्द्धमान'।
कुछ 'महति' या कि 'अतिवीर' 'वीर'
कह कर गाते हैं यशोगान ॥

कुछ कहते हैं 'कुण्डनपुर प्रकाश'
कुछ कहते हैं 'सिद्धार्थ-लाल'।
कुछ जिनको 'त्रिशला-नन्दन' कह,
निज भाल झुकाते हैं त्रिकाल ॥

यों अपने अपने प्रिय नामों—
से जिनको भजते धर्मवीर।
पर जिनके इन सब नामों से—
भी अधिक लोकप्रिय 'महावीर' ॥

उनके ही मन की करुणा सी,
उनकीयह करुण कहानी है।
यह मसि से लेख्य नहीं, इसको,
लिखता कवि-दृग का पानी है ॥

यह नहीं कवित्व-प्रदर्शन है,
यह प्रतिभा का उपहार नहीं।
यह नहीं बुद्धि का कौशल है,
यह कविता का शृंगार नहीं ॥

परम ज्योति महावीर

उनके ही मन की करुणा सी,
उनकी यह करुण कहानी है।
यह मसि से लेख्य नहीं इसको,
लिखता कवि दृग का पानी है॥

(पृष्ठ ४६)

यह तो कवि का ही भक्ति भाव;
इन छन्दों में साकार हुआ।
यह तो कवि की ही श्रद्धा का—
इस रचना में अवतार हुआ॥

प्रिय पाठक! इसको पढ़ देखो,
यह शब्दों का कंकाल नहीं।
यह एक विरागी की चर्चा,
अनुरागिनि की वरमाल नहीं॥

सम्भव है, वह अनुभूति मिले,
तुमको इसके इन छन्दों में।
जो 'परम ज्योति' बन दे प्रकाश,
जीवन के अन्तर्द्वन्दों में॥

वन्दना

जो निन्दक के प्रतिकूल नहीं,
जो पूजक के अनुकूल नहीं।
जो ठुकराते हैं शूल नहीं,
जो अपनाते हैं फूल नहीं॥

पर जिनके वन्दन भवाताप—
हित दाह-निकन्दन चन्दन हैं।
इस आनन्दित कवि-वाणी से
वन्दित वे त्रिशला-नन्दन हैं॥

पहला सर्ग

वह प्राची और प्रभात विफल,
सविता को जन्म न देता जो।
वह प्रतिभा और कवित्व विफल,
कविता को जन्म न देता जो॥

जिसके सिरहाने प्रहरी बन,
हिमवान 'हिमालय' खड़ा हुवा।
जिसके चरणों पर सेवक सा,
सागर भी सविनय पड़ा हुवा॥

जिस पर सित लहरों के चामर,
है ढोर रही 'गङ्गा' चेरी।
जिसकी परिचर्या में 'यमुना'—
भी कभी न करती है देरी॥

ऊषा भी स्वर्गिक रोली ला,
नित जिसकी माँग सजा देती।
संध्या भी श्यामल साड़ी में,
जिसका सर्वाङ्ग सजा देती॥

जिसका अलसित मुख किरणों से,
धोने रवि नित्य निकलता है॥
जिसके शयनालय का दीपक,
बनकर शशि प्रतिदिन जलता है॥

जिसका अभिषेक किया करती,
पावस ऋतु भक्त पुजारिन सी।
जिसके चरणों में विविध सुमन,
रख जाती मधु ऋतु मालिन सी॥

जिसके मृदु अङ्ग उपाङ्गों में,
भूषण से लसते हैं निर्झर ।
सरिता-ध्वनि ऐसी लगती है,
जैसे गुण गाते हों किन्नर ॥

जिसके माथे की बिन्दी भी,
धरती का स्वर्ग कही जाती ।
जो सृष्टि-काव्य के सर्गों में
सुन्दरतम सर्ग कही जाती ॥

जिसकी गोदी में जन्म चुके,
हैं एक एक से धर्म धीर ।
जिसकी गोदी में जन्म चुके,
हैं एक एक से कर्म वीर ॥

कुलकर भी 'नाभि' समान तथा
जनमे 'श्रेयांस' सदृश दानी ।
'बाहूबलि' से भी तपी हुये,
हो गये 'भरत' से शुभ ध्यानी ॥

बलदेव 'राम' से हुये तथा,
रतिदेव प्रमुख 'हनुमान' हुये ।
'सीता' सी सतियां हुईं और
'रावण' जैसे मदवान हुये ॥

नारायण जनमे 'कृष्ण' सदृश,
जनमे भी रुद्र 'महेश्वर' से ।
बलशाली 'भीम' समान हुये,
तीर्थंकर 'पार्श्व' जिनेश्वर से ॥

यों जिसकी गरिमा लोकोत्तर,
जिससे हम सबका नाता है ।
यों जिसकी महिमा लोकोत्तर,
वह माता 'भारत माता' है ॥

इसके अन्तस्तल पर जैसे,
निज सन्तानों का स्नेह बसा !
इसके वक्षस्थल पर वैसे ॥
ही था प्राचीन 'विदेह' बसा ॥

जिसको द्वितीय सुरलोक समझ,
सुरराज सतृष्ण निरखते थे ।
निज स्वर्गलोक को देख पुनः,
दोनों की छटा परखते थे ॥

अपनी रमणीय नगरियाँ तज,
किन्नरियाँ जहाँ विरमतीं थीं !
सुर वधुएँ पथ में यान रुका,
कुछ देर जहां पर थमतीं थीं ॥

जिसकी कण कण भी वसुधा पर,
छवि का सागर लहराता था।
जिसके गिरि, वन, नद, निर्झर पर,
सौन्दर्य खड़ा मुसकाता था॥

जिसका जलवायु सुसेवन कर,
रोगी निरोगी बनते थे।
अवलोक तपोवन-श्री जिसकी,
भोगी भी योगी बनते थे॥

पड़ती न कभी अति तपन जहाँ,
होती कदापि अति शीत न थी।
जिसकी प्राकृतिक महत्ता की,
कोई सीमा निर्णीत न थी॥

जिसका कोई भी अंश किसी—
भी दृष्टिकोण से हीन न था।
जिसका भूगोल सदोष न था,
जिसका इतिहास मलीन न था॥

हर खनिज द्रव्य की खानें भी,
थीं जिसके कोने कोने में।
जिसकी कृषि ऐसी लगती थी,
ज्यों खेत मढ़े हों सोने में॥

जिसमें दाता थे ठौर ठौर,
पर दिखते नहीं भिखारी थे।
दारिद्रय बहिष्कृत था, लक्ष्मी—
के कृपा पात्र नर-नारी थे॥

इस ही 'विदेह' में 'वैशाली'
नगरी थी शोभाधाम अहो।
था जहाँ 'गण्डकी' के तट पर,
शुभ 'कुण्ड ग्राम' अभिराम अहो॥

कोसों से जिसके सतखण्डे,
भवनों के शिखर चमकते थे।
जिन पर दृग पड़ते ही पथिकों—
के चरण अवश्य ठिठकते थे॥

नगरी के बाहर खड़े हुये—
थे स्वागतार्थ उद्यान जहाँ।
रसमत्त भ्रमरियाँ करती थीं,
हर यात्री का आह्वान जहाँ॥

संयत मुनि तक तज पाते थे,
जिसके दर्शन का लोभ नहीं।
जिसमें स्वतन्त्र शुभ विचरण कर,
होता था उनमें क्षोभ नहीं॥

भूतल के व्यापक अञ्चल पर,
दुर्लभ जिसकी सुषमा-समता ।
उपमान अलभ ही वह, जिससे—
वर्णित हो उसकी अनुपमता ॥

शब्दों में इतनी शक्ति न जो,
उसके वर्णन का अन्त करें ।
अतएव कल्पना द्वारा ही,
सुषमानुभूति रसवन्त करें ॥

बस, यहीं ज्ञात वंशागत नृप,
'सिद्धार्थ' सुशासन करते थे ।
जन मन गण को हर सुविधा दे,
प्रत्येक असुविधा हरते थे ॥

हिमगिरि सी गुरुता थी उनमें,
गरिमा थी उनमें सागर सी ।
मक्खन सी मृदुता थी उनमें,
सुषमा थी बाल-दिवाकर सी ॥

वे शस्त्र मँगाते थे केवल,
निज शस्त्रागार सजाने को ।
वे सैन्य जुटाते थे केवल,
अपना ऐश्वर्य दिखाने को ॥

प्रति दिवस स्वयं सब दुखियों की,
विनती सहर्ष ही सुनते थे।
सन्तुष्ट उन्हें कर देने की,
विधि शीघ्र स्वयं वे चुनते थे॥

सबसे समानता का निश्छल
व्यवहार स्वयं वे करते थे।
हर कलाकार हर कोविद का
सत्कार स्वयं वे करते थे॥

यों क्षात्र-धर्म वे पालन कर।
सच्चे अर्थों में क्षत्रिय थे।
सब प्रजा प्रशंसक थी उनकी,
वे इतने उत्तम जन प्रिय थे॥

जनता के हित के लिये खुला,
रखते थे अपना कोष सदा।
कर नाम मात्र को लेते थे।
रखते थे मन में तोष सदा॥

वास्तव में सत्, शिव, सुन्दर के
वे अद्वितीय चिर सक्षम थे।
भोगों में क्रीड़ा करते थे,
पर वन्दनीय चिर संयम थे॥

यों जनता ही नहीं, नरेशों से—
भी मान प्रतिष्ठा पाते थे।
पर प्राप्त प्रभावक पूजा का,
अभिमान न मन में लाते थे॥

अतएव राज्य की छाया में,
चिर शान्ति खड़ी मुसकाती थी।
युग-युग से चञ्चल लक्ष्मी भी,
अविचल सी होती जाती थी॥

सुन उनका नाम न कोई जन,
करता था अत्याचार कभी।
अधिकारी छीन न पाते थे,
नागरिकों के अधिकार कभी॥

शासन की सीमा के भीतर —
था नहीं नाम भी चोरी का।
अपहरण नहीं हो पाता था,
सत् शील किसी भी गोरी का॥

सबके मन में नैतिकता थी,
कोई न किसी को छलता था।
ग्राहक तक ठगे न जाते थे,
व्यवसाय न्याय पर चलता था॥

गोधन की दशा समुन्नत थी,
घृत-दीप जलाये जाते थे !
शिशु-वृन्द दुग्ध के द्वारा ही,
प्रायः प्रति दिवस नहाते थे ॥

गौएँ इतना पय देतीं थीं,
दुहने वाले थक जाते थे !
परदेशी प्यास बुझाने को,
जल नहीं, दुग्ध ही पाते थे ॥

जनता धन वैभवशाली थी,
कोई भी दीन न दिखता था !
सबके मुख हर्षित रहते थे,
कोई श्रीहीन न दिखता था ॥

हर एक शान्ति से निर्भय हो,
निज धार्मिक पर्व मनाता था !
पर नहीं किसी के उत्सव में,
कोई उत्पात मचाता था ॥

हर वर्ग निरत ही रहता था,
अपने अपने प्रिय उद्यम में !
साफल्य-तीर्थ को रचता था,
पुरुषार्थ-भाग्य के संगम में ॥

पर कहीं उदर के पोषण को,
गर्हित उद्योग न होते थे !
आरोग्य-व्यवस्था समुचित थी,
संक्रामक रोग न होते थे ॥

शासन के नियम सरलतम थे,
जनता के कार्य न रुकते थे !
अन्यायी भले प्रलोभन दें,
पर न्यायाधीश न झुकते थे ॥

धन-लाभ-लोभ से कोई भी,
विद्वान न पुस्तक लिखता था !
विद्या व्यापारिक वस्तु न थी,
औ' ज्ञान कदापि न बिकता था ॥

शिक्षा प्रसार के लिये खुलीं,
सब ग्रामों में शालाएँ थीं !
विद्वान् पुरुष सब होते थे,
विदुषी होतीं महिलाएँ थीं ॥

शासन के द्वारा नहीं कभी,
जनता का शोषण होता था !
असहाय, अनाथों, अन्धों का,
शासन से पोषण होता था ॥

कृषि नहीं सूखने पाती थी,
थी सुविधा सभी सिंचाई की !
प्रत्येक योजना बनती थी,
जनता को पूर्ण भलाई को ॥

उनके शासन की रीति नीति,
शीतल थी तरु की छाया सी !
आबाल वृद्ध नर नारी को,
प्रिय थी अपनी ही काया सी ॥

हर गीतकार निज गीतों में,
उनकी गुण गरिमा गाता था ।
हर चित्रकार निज चित्रों में,
उनका शुभ रूप बनाता था ॥

हर व्यक्ति उन्हें ही निज युग का,
सौभाग्य-विधाता कहता था ।
वह युग भी उनको ही निर्भय,
अपना निर्माता कहता था ॥

जाने कितने सामन्त उन्हें,
शिर बारम्बार नवाते थे ।
जाने कितने श्रीमन्त उन्हें,
उत्तम उपहार चढ़ाते थे ॥

सर्वत्र चतुर्दिक ही उनकी,
सत्कीर्ति कौमुदी फैली थी।
श्री राम राज्य सी दोष रहित,
उनके शासन की शैली थी॥

वे इन्द्र सदृश थे, थीं उनकी—
रानी त्रिशला इन्द्राणी सीं।
जिन धर्म सदृश वे सुखकर थे,
वे सुखदा थीं जिन वाणी सीं॥

सुषमा उनके हर अवयव में,
चञ्चल शिशु सी इठलाती थी।
तुलना करने पर काम-वधू,
से सुन्दर वे दिखलाती थीं॥

अन्तर भी वैसा मधुरिम था,
जैसा बहिरङ्ग सलोना था।
लगता था मानो प्राणवान्,
हो उठा सुगन्धित सोना था॥

जब वे षोडश शृंगारों से,
अपना सर्वाङ्ग सजाती थीं।
तो उन्हें मानवी कहने की,
सामर्थ्य नहीं रह जाती थी॥

उन सम कोमलता कभी कहीं,
देखी न गयी क्षत्राणी में।
केवल कोमल अणु लगे हुये—
थे तन में, मन में, वाणी में॥

उनमें नवीनता इतनी थी,
जितनी रहती है ऊषा में।
पावनता इतनी थी जितनी,
रहती निष्काम सुश्रूषा में॥

अधिकार पूर्ण विशाला थीं,
वे सारी ललित कलाओं की।
अध्यक्षा होतीं थीं प्रायः,
वे महिला-लोक सभाओं की॥

था ज्ञात पाक विज्ञान उन्हें,
नित नव मिष्टान्न बनातीं थीं।
कौशल से प्रिय को विस्मित कर
प्रति दिवस प्रशंसा पातीं थीं॥

यौवन का उनको गर्व न था,
सुन्दरता का अभिमान न था।
माया का किंचित् बोध न था,
छलना का भी परिज्ञान न था॥

सर्वदा स्वस्थ वे रहतीं थीं,
होता न उन्हें था रोग कभी।
अतएव न करना पड़ता था,
औषधियों का उपयोग कभी॥

मन का सहवास न तजता था,
संयम में भी उल्लास कभी।
अधरों का वास न तजता था,
निद्रा में भी मृदु हास कभी॥

यद्यपि थीं दर्शन तुल्य गहन,
पर लगतीं सरस कहानी सी।
तत्काल अपरिचित दर्शक को
लगने लगतीं पहिचानी सी॥

उनको था अन्य न कोई भय,
केवल पापों से डरतीं थीं।
वे और न कुछ भी हरतीं थीं,
बस प्रियतम का मन हरतीं थीं॥

डग नहीं एक भी धरतीं थीं,
प्रिय-इच्छा के प्रतिकूल कभी।
किंचित् भी देर न करतीं थीं,
निज धर्म-क्रिया में भूल कभी॥

उत्साहित होकर उत्सव से,
हर धार्मिक पर्व मनातीं थीं।
सत्पात्र दान का अवसर पा,
वे फूली नहीं समाती थीं॥

प्रिय सरल वेष था उनको, वे—
आडम्बर अधिक न रखतीं थीं।
तो भी स्वाभाविक सुषमा से,
वे विश्व सुन्दरी लगतीं थीं॥

रखतीं सदैव यह ध्यान, किसी—
से कोई दुर्व्यवहार न हो।
मन-वचन-कर्म से कभी किसी—
का कोई भी अपकार न हो॥

उपहास कदापि न करतीं थीं,
वे गूँगे, लँगड़े, लूलों का।
कल्याण मनाया करतीं थीं,
भव-वन में भटके भूलों का॥

यदि पति का शिर भी दुखता तो,
उपचार स्वयं वे करतीं थीं।
उनको सप्रेम खिला कर ही,
आहार स्वयं वे करतीं थीं॥

रखतीं थीं उनका ध्यान सदा,
शय्या तक स्वयं बिछातीं थीं।
शतबार रोकने पर भी वे;
नित उनके चरण दबातीं थीं ॥

हर समय विनय में घुली हुई,
वचनावलि बोला करतीं थीं।
मुसकानों से वे विष में भी,
अमृत ही घोला करतीं थीं ॥

उनके सोने पर सोतीं थीं,
पर उनसे पहिले जगतीं थीं।
अतएव पूज्य पति-सेवा की,
जीवित प्रतिमा सी लगतीं थीं ॥

वे उनका मन बहलाने को,
मृदु वीणा कभी बजातीं थीं।
औ' कभी मनोहर गाने गा,
निज स्वर से उन्हें रिझातीं थीं ॥

भौं चढ़ा न देखा करतीं थीं,
वे किसी दास या दासी को।
अतएव दया की प्रतिमा सी,
लगतीं हर नगर निवासी को ॥

उनकी अगाध ही श्रद्धा थी,
मुनि अतिथि तथा अभ्यागत में।
अतएव कभी आलस्य नहीं,
करतीं थीं उनके स्वागत में ॥

मिलनाभिलाषिणी वधुओं को,
वे कभी नहीं लौटातीं थीं।
सबको सप्रेम बुला कर वे,
उचितासन पर बैठातीं थीं ॥

अभिवादन का उत्तर देतीं,
वे उनसे मिलतीं जुलतीं थीं।
औ' वर्ग भेद का ध्यान न रख,
वे सबके दुख सुख सुनतीं थीं ॥

समुचित सहायता देकर वे,
सबकी उलझन सुलझातीं थीं।
जो रोती मिलने आती थी
वह हँसती निज गृह जाती थी ॥

अति दया दृष्टि से ही देखा—
करतीं थी पशु-कृमि-कीटों को।
शर्करा खिलाया करतीं थीं,
वे बहुधा चिटियों चींटों को ॥

कलियाँ तक कभी न चुनतीं थीं,
जाकर क्रीड़ा-उद्यानों में।
सहसा ही पहुँच न बाधा बे,
बनतीं भ्रमरों के गानों में॥

दम्पति अनुरूप परस्पर थे,
दोनों में प्रीति अनूठी थी।
राजा न कभी भी रुष्ट हुये,
रानी न कभी भी रूठीं थीं॥

वे प्राणवान थे प्रेम तथा,
वे मूर्तिमती मृदु ममता थीं।
वे रूपवान थे अनुपमेय,
वे रूपवती अनुपमता थीं॥

कवि-हृदय सदृश वे रसमय थे,
वे सरसा थीं कवि-वाणी सी।
कल्याण तुल्य वे लगते थे,
वे लगतीं थीं कल्याणी सी॥

तन यदपि भिन्न थे दोनों के,
पर हृदय एक से रहते थे।
जीवन की धूप तथा छाया,
दोनों ही मिलकर सहते थे॥

सहयोग परस्पर इतना था,
आ पाती नहीं निराशा थी।
दाम्पत्य-धर्म की दोनों ने,
समझी सच्ची परिभाषा थी॥

मतभेद नहीं हो पाता था,
उनके आदर्श विचारों में।
वे सदा समन्वय करते थे,
कर्त्तव्य और अधिकारों में॥

प्रतिदिन के हर खट्टे मीठे,
अनुभव दोनों मिल चखते थे।
जीवन नाटक के दृश्य सभी,
दोनों ही साथ निरखते थे॥

कोई भी बात परस्पर में,
वे नहीं कदापि छिपाते थे।
मानों वे किसी तपोबल से,
अपना उर खोल दिखाते थे॥

विश्वास नहीं वे करते थे,
मिथ्या मत के पाखण्डों में।
श्रद्धा न अल्प भी रखते थे,
हिंसक पाखण्डी पण्डों में॥

वे भावुक प्रकृति-पुजारी बन,
विपिनों में कभी विचरते थे।
औ' कभी जलाशय में जाकर,
रसमय जलक्रीड़ा करते थे॥

वे कभी प्रपातों का कलकल,
सुनते थे बैठ शिलाओं पर।
औ' कभी सरित्-जल धारा का—
सुख लेते चढ़ नौकाओं पर॥

रानी के आग्रह पर राजा,
कहते थे कभी कहानी भी।
राजा के आग्रह पर कोई,
चुटकुला सुनाती रानी भी॥

मुनियों को नवधाभक्ति सहित,
दोनों पड़गाहा करते थे।
आहार दान दे उनको वे,
निज भाग्य सराहा करते थे॥

यों धर्म-वृक्ष की छाया में,
होता उनको सन्ताप न था।
गाते थे केवल मिलन गीत,
आना भी विरह-विलाप न था॥

पर उनका यह दाम्पत्य अभी,
असफल सा था सन्तान बिना ।
जैसे अधरों का जीवन भी,
निष्फल लगता मुसकान बिना ॥

यदि सुन्दर चित्र न बनता तो,
है विफल रंग भी तूली भी ।
जल विफल और है खाद विफल,
यदि नहीं माधवी फूली भी ॥

जिनमें जागी भी ज्योति नहीं,
वह वर्त्ति विफल वह दीप विफल ।
जिससे मुक्ता का जन्म नहीं,
वह सिन्धु विफल वह सीप विफल ॥

वह प्राची और प्रभात विफल,
सविता को जन्म न देता जो ।
वह प्रतिभा और कवित्व विफल,
कविता को जन्म न देता जो ॥

पर यह दाम्पत्य सफल होगा,
कवि को इसमें सन्देह नहीं ।
जब यहाँ खरी दोपहरी तब,
बनते रहते हैं मेह कहीं ॥

अब चलो लेखनी वहाँ चलें,
इन मेहों का आधार जहाँ ।
इस मर्त्य लोक के पार कहीं,
है अमरों का संसार जहाँ ॥

उस देवलोक के दर्शन की,
यदि पाठक तुम्हें पिपासा है ।
तो चलो कल्पना-रथ पर तुम,
विनती करती कवि-भाषा है ॥

भय तजो, अश्व की रश्मि खींच,
मैं रथ की चाल बढ़ाता हूँ ।
पल भर में तुमको सुरपति की—
परिषद् का दृश्य दिखाता हूँ ॥

=×=

दूसरा सर्ग

ज्यों सफल दिशाओं में प्राची,
दे पावन जन्म दिवाकर को ।
त्यों त्रिशला कुक्षि सफल होगी,
पाकर तुमसे करुणा कर को ॥

जिस देवलोक की छाया भी,
अभिनव भूगोल न पाया है।
जिन देव गणों की माया भी,
इतिहास टटोल न पाया है॥

जिसको न अभी तक घेर सके,
वैज्ञानिक अपने घेरे में।
नवशोध जगत के लिये स्वयं,
जो अब तक बना अँधेरे में॥

पर आर्ष पुराणों में जिसका,
सब वर्णन पाया जाता है।
जिसका अधिवासी देव तथा,
अधिपति देवेन्द्र कहाता है॥

यदि उनका विस्तृत वर्णन हो,
तो होगा अति विस्तार यहाँ।
पर अपनी सीमा लाँघ सके,
कवि को इतना अधिकार कहाँ?

अतएव स्वर्ग के सब वर्णन—
में करता समय व्यतीत नहीं।
मानव-महिमा का गायक कवि,
गाता देवों के गीत नहीं॥

इसके अतिरिक्त कथानक से,
जाना है कवि को दूर नहीं।
एवं प्रसङ्ग के सङ्ग उसे,
बनना किंचित् भी क्रूर नहीं॥

इससे केवल कुछ शब्दों में,
यह विषय बताया जाता है।
सीमा के भीतर रह दुष्कर—
कवि कर्म निभाया जाता है॥

हाँ तो हैं सोलह स्वर्ग बसे,
नीले नभ के उस पार कहीं।
जिनमें कि पुरुष के पौरुष का,
इस देह सहित संचार नहीं॥

जिनके अधिवासी जीवों का
जीवन पलता है भोगों में।
जिनको न कभी लगना पड़ता,
अर्थार्जन के उद्योगों में॥

भूतल के अञ्चल मध्य कहीं—
भी जिनका गति अवरोध नहीं।
अतएव कहीं भी जाने में,
होता जिनको श्रम बोध नहीं॥

सर्वत्र विचरते रहते जो,
चढ़ सुन्दर देव विमानों में ।
अपनी रमणीय रमणियों सँग,
रमते गिरि वन उद्यानों में ॥

जिनको कोई भी कार्य नहीं,
रहता आमोद प्रमोद सिवा ।
जो नहीं और कछ करते हैं,
जीवन में मनोविनोद सिवा ॥

पर केवल धार्मिक विषयों में
श्रद्धामय अभिरुचि रखते हैं ।
पर्वों में तीर्थ-प्रदेशों में,
जाकर जिन बिम्ब निरखते हैं ॥

यों अपने स्वामी इन्द्रों के—
शासन में सुख से रहते हैं ।
अविलम्ब उसे कर देते हैं,
जो स्वामी मुख से कहते हैं ॥

इन सोलह स्वर्गों में पहिला—
स धर्मस्वर्ग कहलाता है ।
जिसके अधिनायक सुरपति से—
ही इस प्रसङ्ग का नाता है ॥

वह प्रायः अपनी धर्म—सभा—
में धार्मिक चर्चा करता था।
अपने निष्पक्ष विवेचन से
सब देवों का भ्रम हरता था॥

धनराज मित्र था उसका, जो—
प्रायः ही सङ्ग विचरता था।
प्रत्येक कार्य में भागी बन,
उसकी हर चिन्ता हरता था॥

तत्काल पूर्णकर देता था,
उसके सम्पूर्ण विचारों को।
क्षण भर भी देर न करता था,
सुनकर उसके उद्‌गारों को॥

वह जहाँ भेजता, वहाँ तुरत—
वह मारुत—गति से जाता था।
बस, पलक मारते स्वामी का,
आदेश पूर्ण कर आता था॥

जब एक दिवस सुरनायक ने,
निज अवधिज्ञान में यह देखा।
'क्रमशः धूमिल पड़ चली स्वतः
अच्युत—सुरेश की वय—रेखा॥

षट् मास बीतते प्राणी यह,
इस देव-देह का तज देगा।
औ, मध्यलोक में भारत की,
वसुधा पर जन्म नया लेगा ॥

इस युग का अन्तिम तीर्थंकर—
भी होगा निस्सन्देह यही।
एवं इसकी अवतार धरा,
होगी 'त्रिशला' की गेह-मही ॥

यह बोध हृदय में होते ही
वह फूला नहीं समाया था।
पर शीघ्र उसे इस अवसर का,
कर्त्तव्य ध्यान में आया था ॥

अतएव इन्द्र वह क्षण भर भी,
रख सका किसी विधि मौन नहीं।
जिनवर प्रति धर्म निभाने को,
उत्सुक रहता। है कौन नहीं ?

तत्क्षण 'कुबेर' को निकट बुला,
बोला उससे अमरेश अहा।
"अलकेश! तुम्हें बुलवाने का—
कारण है एक विशेष महा ॥

तव कार्य-कुशलता, कर्मठता,
नैतिकता पर विश्वास मुझे।
अतएव कार्य यह तुमसे ही,
करवाने का उल्लास मुझे॥

एवं है तुममें ही इसके—
सम्पादन की भी शक्ति सभी।
इसके अतिरिक्त अबाधित है,
तव धर्म-भावना भक्ति सभी॥

औ, सबको ज्ञात तुम्हारी निज,
कर्त्तव्य पालने की शैली।
बस, इसी हेतु तव कीर्त्ति-कला—
भी दशों दिशाओं में फैली॥

केवल इतना ही नहीं, अपितु—
हो मेरे तुम्हीं प्रधान सखा।
हर समय तुम्हीं ने मेरी हर—
चिन्ता हरने का ध्यान रखा॥

अतएव अधिक समझाने में,
दिखता है कोई सार नहीं।
आशा है, मेरे वचनों को,
तुम समझोगे गुरु भार नहीं॥

अब अच्युतेन्द्र को छः महीने—
ही रहने का अधिकार वहाँ ।
जो रहा मनस्वी इतने दिन,
बन सुरपुर का शृङ्गार यहाँ ॥

इसके उपरान्त सुरेश्वर यह,
निज वर्तमान तन छोड़ेगा ।
औ, कुण्ड ग्राम की महिषी से
जननी का नाता जोड़ेगा ॥

पर राज पुत्र भी हो जीवन,
सुख में न व्यतीत करेगा यह ।
निज वीतरागता से रतिपति—
को भी भयभीत करेगा यह ॥

हो साधु पुनः कैवल्य-कला,
पायेगा त्रिशला नन्दन यह ।
पा इसे शान्ति की गीता को,
गायेगा ताप निकन्दन यह ॥

जन जन तक पावन धर्मामृत,
पहुँचायेगा जगदीश यही ।
करुणा की विजय पताका भी,
फहरायेगा योगीश यही ॥

यह युग का अन्तिम तीर्थंकर,
सब जगती इसको पूजेगी ।
औ, कीर्ति—कोकिला तो इसकी,
युग युग तक जग में कूजेगी ॥

अतएव सखे ! तुम 'कुण्ड ग्राम,—
की ओर प्रयाण करो सत्वर ।
जा वहाँ रत्न बरसाओ नित,
'सिद्धार्थ, नृपति के प्राङ्गण पर ॥

जिससे जिनवर का जन्म निकट,
समझे सारा संसार वहाँ ।
हर व्यक्ति जान ले तीर्थंकर,
का होना है अवतार यहाँ ॥

अब गमन करो, शुभ कार्यों में—
देरी उपयुक्त नहीं होती ।
इन कल्प पादपों से ले लो,
मरकत, माणिक, मूँगा मोती ॥,

इन शब्दों पूर्वक सुरपति ने;
पूरे अपने उद्‌गार किये ।
औ, 'एवमस्तु' कह धनपति ने
सम्पूर्ण वचन स्वीकार किये ॥

तत्काल स्वर्ग से भूतल को,
मारुत गति से अलकेश चला।
नभ पथ में लगा सुरेश्वर का—
ही मूर्तिमान आदेश चला॥

'भारत' के पावन अम्बर में,
आते ही प्रथम 'विदेह' दिखा।
पश्चात् दिखा वह 'कुण्ड ग्राम'
तदनन्तर भूपति-गेह दिखा॥

यह देख प्रदक्षिण देने को,
त्रय बार चतुर्दिक वह घूमा।
सिद्धार्थ—सौध का शिखर पुनः
उसने अति श्रद्धा से चूमा॥

यों क्षण भर आत्म विभोर रहा,
औ, उसे न कुछ भी चाह रही
उसकी जीवन की श्वास श्वास,
थी अपना भाग्य सराह रही॥

कर सुखद कल्पना भावी की,
होता था उसको तोष नहीं।
क्षणभर कर्त्तव्य न पाला पर
इसमें था उसका दोष नहीं॥

पर सेवक धर्म न उसकी इस—
भावुकता को भी देख सका।
जो कभी न अपने से गुरुतर,
ममता, माया को लेख सका॥

कर्त्तव्य-प्रेरणा पा उसने,
को किंचित भी तो देर नहीं।
प्राङ्गण में रत्नों की वर्षा
द्रुत करने लगा कुबेर वहीं॥

'ऐरावत' की ही शुण्ड सदृश,
गिरती थी रत्नों की धारा।
वह दृश्य विषय था नयनों का,
कथनीय नहीं शब्दों द्वारा॥

वह रत्न राशि जिस समय वहाँ,
आती थी अम्बर से नीचे।
लगता, त्रिशला के आशा-वन,
रत्नों से जाते हों सींचे॥

या 'अच्युतेन्द्र' के आने को
सोपान लगाया जाता हो।
अथवा अम्बर से अवनी तक
परिधान बिछाया जाता हो॥

जब पद्मराग मणि गिरते तो,
लगता, गिरते हों पद्म अहो।
जिनसे प्रदीप्त हों पद्मों सा,
खिलता 'त्रिशला' का सद्म अहो॥

जब नव माणिक्य बरसते तो
हो जाती प्रभा अपार वहाँ।
लगता, अम्बर से आती हो,
पिघले सोने की धार वहाँ॥

जब कान्ति मयी हीरक श्रेणी,
भी गिरती बारम्बार वहाँ।
तब लगता, टूट टपकते हों,
सुर वधुओं के ही हार वहाँ॥

जब नीलम नीलम अम्बर से—
प्राङ्गण में पहुँच बिखर जाते।
लगता, नभ-गङ्गा के नीले—
इन्दीवर कुण्डनगर आते॥

जब रक्तिम विद्रुम बरसाने—
लगते सोल्लास कुबेर वहाँ।
लगता, नन्दन वन के सुमनों—
का लगा रहे हों ढेर वहाँ॥

वैडूर्य तथा मरकत मणियों—
से भी प्राङ्गण भर जाता था।
लगता, धनपति निज अलका का
सब विभव वहीं धर जाता था॥

इसको हम चाहे 'कुण्डग्राम'
की जनता का सौभाग्य कहें।
अथवा 'कुबेर' का अपनी सब,
निधियों के प्रति वैराग्य कहें॥

पर इतना निश्चित वहाँ विभव—
का कुछ भी नहीं अभाव रहा।
हर गृह वैभव से पूर्ण रहा,
हर मन पर धर्म-प्रभाव रहा॥

सब धनी हुये, निर्धनी-धनी—
का नहीं वहाँ पर भेद रहा।
यदि खेद किसी को था तो बस,
निर्धनता को ही खेद रहा॥

किसको हैं कितने रत्न मिले ?
इसका कोई परिमाण न था।
पर इतना सत्य, अधिक इससे—
पाने में भी कल्याण न था॥

लक्ष्मी ने नयन निमीलित कर,
डाली थी सबको वरमाला।
हीरों के हारों से सज्जित,
हो गयी वहाँ की हर बाला॥

इसको जिनेश के आगम का—
संकेत समझ सब मुदित हुये।
खग चहक उठे थे, यदपि अभी—
दिननाथ नहीं थे उदित हुये॥

षट् मास रत्न की वर्षा में,
क्षण से यों सामोद गये।
आषाढ़ लगा, जिन-स्वागत में,
नभ में आ गये पयोद नये॥

मोरों ने सहसा भूली सी,
निज नृत्य कला का ध्यान किया।
मेघों ने अपनी सोयी सी,
स्वर-लहरी का आह्वान किया॥

हो श्रेणी बद्ध बलाकों ने,
तोरण-विधि का अभ्यास किया।
चपला ने स्वागत-दीपावली—
बनने का स्वयं प्रयास किया॥

विकसित कदम्ब के वृक्षों ने,
मङ्गल घट लिये निराले से।
जिनकी रक्षा के हेतु होड़,
कर चले भ्रमर मतवाले से॥

सतरङ्ग पाँवड़ा इन्द्र धनुष,
भी बिछा चला अनुरूप वहीं।
पर उसे लगा था भय, रङ्गों—
को कहीं उड़ा दे धूप नहीं॥

लघु इन्द्र गोपका चली स्वयं
नव चौक पूरने रोली से।
औ' पिकी, कपोती चकवी भी,
गा चली मनोहर बोली से॥

पावस की प्रथम फुहारों से,
आ चला हर्ष उल्लास नया।
भू पर मखमली गलीचे सा,
बिछ चला हरित मृदु घास नया॥

रवि लगा सोचने, नभ-प्राङ्गण—
मेघों से नहीं मलीन रहे।
हर किरण लीपती रहे उसे,
जिससे वह सदा नवीन रहे॥

नव सरस सलिल का वर्षा से,
रसमयी चराचर लोक हुवा।
रति हुई कपोत कपोती में,
मोहित कोकी पर कोक हुवा॥

मिल चले मयूर मयूरी से,
पिक पिकियों ने कल्लोल किया।
लगता था, पावस ने नर-पशु—
कीटों तक में रस घोल दिया॥

'सिद्धार्थ' तथा 'त्रिशला' के भी—
भावुक अन्तस् थे लोह नहीं।
अतएव सरसता से सिंचित—
हो कैसे बढ़ता मोह नहीं ?

'त्रिशला' वैसे भी वामा हो,
थीं रहीं कभी भी वाम नहीं।
उनने कदापि पति-प्रेम-कथा—
में लगने दिया विराम नहीं॥

'सिद्धार्थ' नृपति भी ममता में,
'त्रिशला' के प्रति निस्वार्थ रहे।
वे उन पर उतने तुष्ट रहे,
जितने 'द्रुपदा' पर 'पार्थ' रहे।

फिर भी इस रसमय पावस में,
उनमें अनुराग विशेष जगा !
अतएव निरन्तर दोनों के,
अन्तर में रति-प्राणेश जगा ॥

अतएव शयन-गृह सुर-गृह सा,
इस बार सजाया गया वहां !
हीरों के बन्दन वारों से,
हर द्वार सजाया गया वहां ॥

नीलम निर्मित पर्यंङ्कों पर,
मृदु सेज बिछायी गयी नयी।
कलियाँ भी मालिन को उपवन-
में भेज मँगायी गयीं नयी ॥

ज्यों ही दिननायक बिदा हुये,
औ' उदित गगन में सोम हुवा !
तारों से रजनी रानी के—
नीलाञ्चल के सम व्योम हुवा ॥

त्यों ही वह प्रकृति-विलास उन्हें,
सोने में हुवा सुहागा सा !
उस शुक्ल पक्ष की षष्ठी का—
शशि देख राग भी जागा सा ॥

'त्रिशला' कुछ कोमल कलियाँ ले,
मृदु हार बनाने को बैठीं ।
या प्रिय को अर्पित करने को,
उपहार बनाने को बैठीं ॥

यों तो उनके कर-कमलों से,
अब तक थे आगिरा हार बने ।
पर आज यत्न वे करतीं थीं,
उन सबसे बढ़ इस बार बने ॥

सचमुच ऐसा ही हार बना,
अधरों पर आया हास नया ।
उनको अपनी पति-निष्ठा पर,
जागा सहसा विश्वास नया ॥

इतने में कान्त प्रविष्ट हुये,
स्वागत में अधर सहास हिले !
पहिनाया मनहर हार प्रथम,
फिर दोनों ही सविलास मिले ॥

इसके आगे की केलि-कथा—
का वर्णन कवि को इष्ट नहीं ।
निज माननीय दम्पतियों की—
रति चर्चा करते शिष्ट नहीं ॥

उस समय इन्द्र से प्रेरित हो,
बसने 'त्रिशला' के अङ्गों में।
चल पड़ीं देवियां सुर पुर से,
डूबी सी नयी उमङ्गों में ॥

'श्री' ने महिषी के काम-धाम —
पर सर्व प्रथम अधिकार किया।
'ह्री' ने उनके मुख मण्डल के--
पथ से जाना स्वीकार किया ॥

'धृति' ने निज स्वामित्व स्वयं,
मृदु उर पर निस्सङ्कोच किया।
मञ्जुल मुखाग्र पर बसना ही,
कमनीय 'कीर्त्ति' ने सोच लिया ॥

बस स्वयं 'बुद्धि' ने मस्तक पर
उनका सुन्दर शृंगार किया।
'लक्ष्मी, ने कुक्षि-निकट रहने----
का ही अभिराम विचार किया।

उस अच्युतेन्द्र का जीव तभी,
निज देव-देह को त्याग चला।
निज आयु पूर्ण हो जाने पर,
जी पाता जग में कौन भला!

तत्क्षण सुरपति की परिषद् के—
देवों ने जय जयकार किया।
गा विदा-गीत गन्धर्वों ने,
इन भावों का उच्चार किया॥

'हे महाभाग! तुम जाते हो,
जाओ, नूतन अवतार धरो।
सानन्द धरा की करुणा के,
आमन्त्रण को स्वीकार करो॥

हो स्वर्ग शून्य, पर भूतल को
मङ्गलमय तव प्रस्थान बने।
सुर पुर से पतन तुम्हारा यह,
नर-अवनी का उत्थान बने॥

यद्यपि चिर विरह तुम्हारा यह,
सब देवों को दुखदायी है।
शत शत मङ्गल इच्छाओं से,
फिर भी दे रहे विदाई हैं॥

ज्यों सफल दिशाओं में प्राची—
दे पावन जन्म दिवाकर को।
त्यों 'त्रिशला-' कुक्षि सफल होगी,
पाकर तुमसे करुणाकर को॥

अतएव सफल तुम उनका यह—
नारीत्व करो, नर देह धरो।
अपनी सत्ता से स्वर्ग-सदृश,
'सिद्धार्थ' भूप का गेह करो।"

यों कह ज्यों ही गन्धर्व रुके,
किन्नर गण ने जयनाद किया।
पर अच्युतेन्द्र के चेतन ने,
कुछ भी न प्रहर्ष-विषाद किया॥

वह वीतराग सा चला गया,
अनिमेष सुरों के नेत्र हुये।
क्षणभर में उसके आगम से,
पावन विदेह के क्षेत्र हुये॥

उस क्षण ही रति-रत 'त्रिशला' को,
निज तृप्ति लाभ का भान हुवा।
वह तृप्ति अपूर्व लगी उसको,
कारण था गर्भाधान हुवा।

सुखमय रतान्त में 'त्रिशला' के—
अङ्गों में सौम्य प्रमाद हुवा।
आलस से मीलित नयनों में,
बन्दी रति का आह्लाद हुवा॥

'सिद्धार्थ' नृपति ने इस मुद्रा—
में भी देखा सामोद उन्हें।
सविनय समेटती जाती थी,
निद्रा देवी की गोद उन्हें॥

क्रम से अवयव निश्चेष्ट हुये,
तन्द्रा में मग्न हुई रानी।
पर नृप के लोचन सजग रहे,
बन उस मोहक छवि के ध्यानी॥

कारण प्रसुप्ति में भी उनकी,
मुख-मुद्रा-छटा निराली थी।
जिसकी आभा को बढ़ा रही,
मणि दीपों की उजियाली थी॥

सत्वर ललाट के श्रम-सीकर,
देते थे पोंछ नरेश स्वयं।
एवं सम्हालते मुख शशि पर,
मेघों से बिखरे केश स्वयं॥

इस भाँति जगे कुछ देर; पुनः—
अलसाने उनके नेत्र लगे।
या प्रिया-दृगों के ही पथ को,
अपनाने उनके नेत्र लगे॥

वे लेट गये, उनको सोते--
अवलोक बिदा उल्लास हुवा।
दम्पति को निद्रा मग्न देख,
परिहास विलास उदास हुवा॥

लो, नियति नटी अब भावी कृति,
स्वप्नों में लिखने वाली है।
जो निद्रित 'त्रिशला देवी को'
चित्रों सी दिखने वाली है॥

आओ, हम भी चल कर देखें,
उनके स्वप्नों की लीला यह।
पर शान्ति सहित चलना जिससे,
जग उठे न लज्जा शीला वह॥

— ० —

तीसरा सर्ग

आओ, हम भी लें देख उन्हें,
'त्रिशला' जो स्वप्न निरखतीं थीं।
जिनकी कमनीय कसौटी पर,
वे अपना भाग्य परखतीं थीं॥

रजनी का अन्तिम प्रहर लगा,
निष्प्रभ से रजनीकान्त हुये।
तारापति की यह दशा निरख,
तारागण भी अति क्लान्त हुये॥

तम बढ़ा और प्रत्येक वस्तु,
हो गयी पूर्णतः काली थी।
या सृष्टि किसी रँगरेजिन ने
काले रँग में रँग डाली थी॥

लगता था, सूख रहीं श्यामल—
साड़ी नदियों के कूलों पर।
सो रही भ्रमरियों की सेना,
जगती भर के सब फूलों पर॥

महिषों की परिषद ही जैसे
बैठी हो सारे खेतों में।
औ' तारकोल हो पोत गया,
कोई सम्पूर्ण निकेतों में॥

नभ को मसिभाजन समझ किसी-
ने काली स्याही घोली हो।
ली पहिन दशों दिग्वधुओं ने
काली मखमल की चोली हो॥

विपिनों में जैसे शेषनाग—
की सारी प्रजा विचरती हो।
सुरपुर से श्यामल भूषा में
परियों की पंक्ति उतरती हो॥

होते हों जैसे सम्मेलन,
पथ में जग भर के चींटों के।
श्यामा की शरण पधारे हों,
दल श्याम वर्ण के कीटों के॥

गौएँ महिषों सी दिखतीं थीं,
कौओं से दिखते थे तोते।
मृग ऐसे दिखते, ज्यों भालू—
काले कम्बल पर हों सोते॥

यों भू पर श्यामा के श्यामल
तम का शासन सा छाया था।
जिसने नर-पशु-कृमि कीटों को,
भी तो घनश्याम बनाया था॥

सब सुख-निद्रा में सोये थे,
बस अन्धकार ही जगता था।
जो निशि की रक्षा में तत्पर
कटि बद्ध सुभट सा लगता था॥

षष्ठी का चन्द्र नभाङ्गण में,
चुपचाप दीप सा जलता था।
अतएव न उसकी किरणों से
भूमण्डल का तम गलता था॥

ध्रुवतारा सिवा सभी तारों—
की आभा घटती जाती थी।
जो अपनी भावी मनोव्यथा—
का ही सङ्केत बताती थी॥

रजनी को विदा कराने को,
अब आने वाली डोली थी।
अतएव न उसको सूझ रही,
अब कोई और ठिठोली थी॥

छा गयी पूर्ण नीरवता थी,
कोई भी स्वर न सुनाता था।
मारुत भी मौन हुवा, तरु के—
पल्लव तक वह न हिलाता था॥

शय्या पर 'त्रिशला' लेटी थीं,
आनन पर कान्ति निराली थी।
शिर से अञ्चल था सरक चुका,
बिखरी केशावलि काली थी॥

शय्या पर पड़ी पँखुड़ियाँ थीं,
जूड़ा से शिथिलित फूलों की।
थी सुरभि व्याप्त शयनालय में,
इत्रों से सिक्त दुकूलों की ॥

नीलम मणि दीपों की आभा,
कोने-कोने तक फैली थी।
अतएव दुग्ध सी शय्या भी
उस समय भासती मैली थी ॥

इतने में ही घड़ियाली ने,
टन टन टन तीन बजाया था।
अथवा स्वप्नों को आने का,
उपयुक्त समय बतलाया था ॥

उसका संकेत समझ स्वप्नों-
को कर्त्तव्यों का बोध हुवा।
षोडश स्वर्गों से सज्ज चले,
आपस में नहीं विरोध हुवा ॥

दे चले सूचना भावी की,
वे निज सांकेतिक भाषा में।
त्रिशला से बोले—'फल लगने-
वाले हैं तव अभिलाषा में ॥'

यह सुनते ही 'त्रिशला' रानी के
मन में अभिनव अनुभूति हुई।
यों लगा कि उनके सम्मुख ही,
एकत्रित स्वर्ग-विभूति हुई ॥

ये दृष्य नींद में दिखते, या
मैं जगती हूँ, यह भूलीं थीं।
जाने उन स्वप्नों की स्रष्टा
किस कलाकार की तूलीं थीं ॥

या किसी शची ने 'त्रिशला' को
वे दृश्य बनाकर भेजे थे।
स्वप्नों ने चुपके से आ जो,
रानी को स्वयं सहेजे थे ॥

यह सब उनने चुपचाप किया,
जिससे निद्रा भी भङ्ग न हो।
सब दृश्य देख लें महिषी, पर-
बाधित कोई भी अङ्ग न हो ॥

कारण वे बनने वालीं थीं,
उन तीर्थंकर की माता अब।
जिनके चरणों में माथा नित
हर करुणाभक्त झुकाता अब ॥

वे स्वप्नों की मोहकता से,
मन में फूली न समातीं थीं।
थे नयन मुँदे पर अधरों से,
वे मन्द मन्द मुसकातीं थीं॥

कारण, विलोक वह स्वप्नावलि,
निज अहोभाग्य ही माना था।
नारी की महिमा गरिमा को,
उनने उस ही दिन जाना था॥

हर सुमन एक से एक रुचिर,
देखे स्वप्नों की माला में।
उसके उपरांत न जागा वह
सौभाग्य किसी नव बाला में॥

जाने कितने ही पुण्यों के
फल से उनको यह योग मिला।
जो दुर्लभ है इन्द्राणी को,
उनको वह पावन भोग मिला॥

आओ, हम भी लें देख उन्हें,
'त्रिशला' जो स्वप्न निरखतीं थीं।
जिनकी कमनीय कसौटी पर
वे अपना भाग्य परखतीं थीं॥

त्रिशला के १६ स्वप्न
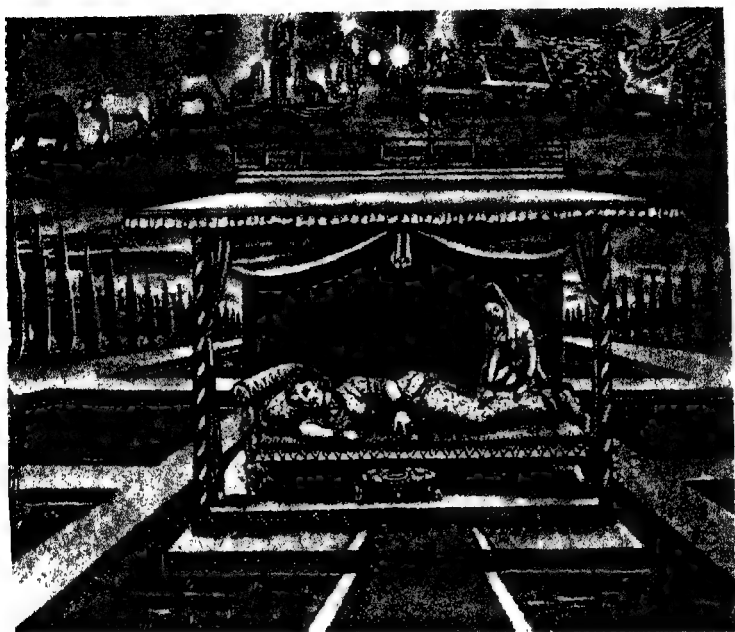
हर सुमन एक से एक रुचिर,
देखे स्वप्नों की माला में ।
उसके उपरान्त न जागा वह,
सौभाग्य किसी नवबाला में ॥

(पृष्ठ १०६)

तो सर्व प्रथम ही दिखा वहाँ,
ऐरावत सा गजराज उन्हें।
जिसकी सुषमा के दर्शन से,
था हुवा महासुख आज उन्हें ॥

वह हुवा तिरोहित ज्यों ही, त्यों—
आया सित वृषभ निराला था।
जिसकी उज्ज्वलता के सम्मुख,
लगता सित पङ्कज काला था ॥

इसके उपरान्त उछलता सा,
वनराज उन्हें सविलास दिखा।
जो मत्त चाल से अम्बर से,
आता मुख के ही पास दिखा ॥

सहसा वह अन्तर्धान हुवा,
ज्यों इन्द्र जाल की लीला सा।
तत्काल दिखाने लगा वहाँ,
लक्ष्मी का रूप सजीला सा ॥

वह भी ज्यों हुवा तिरोहित, दो—
मन्दार कुसुम के हार दिखे।
या उन्हें किसी इन्द्राणी के
वक्षस्थल के शृङ्गार दिखे ॥

वे हार हटे ज्यों, तत्क्षण ही,
राका शशि सम्मुख घूम गया।
या महिषी के मुखमण्डल को,
निज बन्धु समझकर चूम गया॥

पर अधिक समय तक रह न सकी,
उस राका शशि की भी छाया।
वह हटी और हो गयी प्रकट,
दिन पति की तेजस्वी काया॥

पर टिकी न वह भी और दिखी,
अभिराम मछलियों की जोड़ी।
जो लगी, किसी ने सागर से-
ला 'त्रिशला' सम्मुख हो छोड़ी॥

वह भाग गयी, तत्काल दिखी,
दो स्वर्णिम कलशों की झाँकी।
जो लगे कि ज्यों वे भरे गये-
हों पूजा को 'त्रिशला' माँ की॥

वे घट भी गये तथा कमलों-
से शोभित एक तड़ाग दिखा।
जो लगा कि ज्यों सुरगङ्गा का,
ही एक मनोहर भाग दिखा॥

सहसा वह दृश्य हटा, लहरों—
से शोभित सागर का नीर दिखा।
जो अपनी व्यापक महिमा से,
अति गहरा अति गम्भीर दिखा॥

वह गया, दिखा सिंहासन तब—
उनके मन को आनन्द हुआ।
इस स्वप्न-दृश्य से महिषी के,
अन्तर में सुखकर द्वन्द हुवा॥

चिर तक न दिखा वह भी, आगे—
उन स्वप्नों का व्यापार चला।
सुरपति-विमान अब अम्बर से,
'त्रिशला'-सम्मुख इस बार चला॥

वह सुर-विमान भी क्षण भर दिख,
किस ओर न जाने भाग गया।
नागेन्द्र-भवन हो गया प्रकट,
महिषी में जागा राग नया॥

तदनन्तर न सुन्दर रत्न राशि,
क्षण भर में आविर्भूत हुई।
अथवा कुबेर की निधि 'त्रिशला'
के सम्मुख पुञ्जीभूत हुई॥

यह भी प्रदर्शिनी रत्नों की,
सहसा कुछ क्षण में भङ्ग हुई।
निर्धूम अग्नि की आभा से,
वह रङ्गस्थली सुरङ्ग हुई ॥

यों सोलह स्वर्गों से सोलह,
सपने देखे जिन - माता ने
या स्वप्नों से निज आगम का—
सम्वाद कहा जग—त्राता ने ॥

यद्यपि 'त्रिशला' थीं निद्रा में,
तो भी उनको आमोद हुआ।
वे स्वप्न सत्य से लगे उन्हें,
इतना था मनो विनोद हुवा ॥

पर उनका मौन नहीं टूटा,
सपने ही थक कर मौन हुये।
चल पड़े दूर से वन्दन कर,
महिषी की काया कौन छुये?

वे नमस्कार कर बिदा हुये,
वे डूबी रहीं उमङ्गों में।
विस्मृति की धूल न पड़ने दी
उनने सपनों के रंगों में ॥

प्रिय लगी जागरण से निद्रा,
वे अतः न उसको त्याग सकीं।
स्वप्नों के नीरव कलरव से
वे नहीं अभी तक जाग सकीं॥

इतने में पूर्व समागत गज—
ने मुख की ओर प्रयाण किया।
वह धँसा उदर में आनन से,
या उनने निज कल्याण पिया॥

गज के उदरस्थित होने से,
वे पायीं तृप्ति निराली थीं।
हो तृप्ति न कैसे ! गर्भाशय—
में विश्व विभूति छिपा ली थी॥

वह तृप्ति सूचना देने को,
विहँसी अधरों की लाली थी।
ली किन्तु दबा उनने वह भी,
जैसे युग मूर्त्ति दबा ली थी॥

केवल निद्रा थी देख रही,
उनका यह हर्षोल्लास सभी।
वह क्योंकि अभिन्न सहेली सी
थी वहीं उन्हीं के पास अभी॥

था उसको ज्ञात न ऊषा आ—
यह भी अधिकार छुड़ा लेगी।
'सिद्धार्थ' - प्रिया की शय्या से—
भी धक्के मार भगा देगी ॥

इतने में प्राची - मण्डल पर,
कुछ धीमा सा आलोक हुवा।
अपनी विभूतियों के छिनने-
के भय से निशि को शोक हुवा ॥

अब मेरा अन्त निकट आया,
तम को भी यह विश्वास हुवा।
अतएव पवन के छल से वह,
ले लम्बे श्वास उदास हुवा ॥

क्रमशः नव आभा फैल गयी,
आनन पर दशों दिशाओं के।
यह देख सदस्य सभी भागे,
तारों की मौन सभाओं के ॥

मलयानिल करने लगा नटों—
सा नर्तन तरु-शाखाओं पर।
वह जाने कैसा इन्द्रजाल—
कर चला सभी कलिकाओं पर ॥

जो लाज त्याग कर विहँस पड़ीं,
वे एक विलक्षण शैली से।
औ' सुरभि बाँटने लगीं सभी—
को पंखुड़ियों की थैली से॥

हिम-बिन्दु पादपों के पत्तों—
पर लगे भासने हीरों से।
आ चले विहग भी बाहर अब,
अपने कमनीय कुटीरों से॥

शुक-सुन्दरियों, मैनाओं के—
मङ्गलमय गान लगे होने।
कुशला कुक्कुट कामिनियों के—
गीतों से गूँजे हर कोने॥

मोहक मयूरियों के रव से,
मुखरित छज्जों के क्षेत्र हुये।
रङ्गीन तितलियों का नर्तन,
अवलोक सफल वन-नेत्र हुये॥

दीपों की ज्योति निरन्तर अब,
निष्प्रभ सी होती जाती थी।
मानो वह भावी क्षय से ही,
चिन्तित हो शोक मनाती थी॥

दिनकर की अभिनव किरणावलि,
भी उतर चली तज अम्बर को।
मानो हो नाप रही रवि से—
भू की दूरी के अन्तर को॥

रवि अभी न निकले थे, फिर भी
भू पर आ चला उजाला था।
जिसने सबको तम के काले—
पानी से खींच निकाला था॥

यद्यपि प्रति दिन दुहराती थी,
ऊषा इस आत्म कहानी को।
पर उस दिन उसका उदय लगा,
भाग्योदय सा हर प्राणी को॥

जग प्रजा निरन्तर व्यस्त हुई,
निज प्रातः कालिक कार्यों में।
सूर्योदय पूर्व सदा जगने—
की प्रथा रही है आर्यों में॥

कुल वधुएँ अपनी शय्या तज,
उठ चलीं सँभाल दुकूलों को।
सविलास व्यवस्थित करतीं सीं,
चोटी के शिथिलित फूलों को॥

सब छात्र ग्रन्थ ले बैठ गये,
अपने पढ़ने के कोठों में ।
आगम के छन्द लगे करने,
अभिनय सा उनके ओठों में ॥

कुछ तो पढ़ने इतिहास लगे,
कुछ ने भूगोल खगोल पढ़ा ।
कुछ ने संगीताभ्यास किया,
कुछ ने काव्यों को खोल पढ़ा ॥

कवि उठा लेखनी बना चले,
नव रसमय अभिनव छन्दों को।
लेखक लिपि बद्ध लगे करने,
जीवन के अन्तर्द्वन्दो को ॥

देवार्चन पूर्व नहाने को,
कूपों को चले पुजारी जन ।
सामायिक करने बैठ गये,
मुनि, श्रावक, प्रतिमाधारी जन ॥

'त्रिशला' भी जाग गयीं, उनने-
वातायन से बाहर झाँका ।
ऊषा की अनुपम आभा में,
प्राकृतिक रुचिरता को आँका ॥

बाहर गा रही प्रभाती थी,
सोल्लास तरुणियों की टोली।
पिकियों को लज्जित करती थी,
जिनकी मिश्री सी मधु बोली,

कह रही दासियां थीं—'स्वामिनि !
ऊषा अब लगी उतरने है।
तारुण्यमयी दिग्वधुओं के,
अवयव भी लगे उभरने हैं॥

प्राची पर लहराने वाली,
दिनपति की विजय-पताकाएँ।
दे चुकीं तिमिर को निर्वासन,
किरणों की स्वर्ण-शलाकाएँ॥

रजनी की श्री ली गयी छुड़ा,
दिखता न गगन में तारा भी।
ऊषा ने नभ-सिंहासन से,
शशि को कर पकड़ उतारा भी॥

अतएव स्वामिनी ! उठिये अब,
तजकर अपनी चित्रित चादर।
समझें न अन्यथा आप इसे,
हम विनती करतीं यह सादर॥

सम्राज्ञि ! आपके उठने का-
पथ देख रहीं हम दासी हैं ।
हे शुभे ! आपकी रूप सुधा-
को ये सब आँखें प्यासी हैं ॥

अतएव कृपा कर हम सबको,
निज दुर्लभ दर्श दिखाएँ अब ।
पुण्यों से मिलने वाली निज,
सेवा में हमें लगाएँ अब ॥

करतीं जो विनय, नहीं इसमें-
कुछ भी तो दोष हमारा है ।
हम तो नियुक्त इस हेतु अतः,
अनुनय निर्दोष हमारा है ॥

जल स्वर्ण-कलश में रखा हुवा,
अतएव उठें, मुख धोयें अब ।
क्रमशः सब नित्य क्रियायें कर,
निश्चिन्त पूर्णतः होयें अब ॥

सुन्दरतम-स्नान निकेतन में,
सामग्री सभी नहाने की ।
अति उत्सुकता से देख रही-
है घड़ी आपके आने की ॥

ये शब्द दासियों के सुनकर,
'त्रिशला' को अति आनन्द हुवा ।
वे उठीं, वहाँ की दीपावलि–
का शुचि प्रकाश भी मन्द हुवा ॥

फिर खोला द्वार शयन-गृह का,
दासी को नहीं पुकारा भी ।
पर हुईं उपस्थित, आयीं हों–
ज्यों खिंचकर चुम्बक द्वारा ही ॥

आ शीघ्र किसी ने फेंक दिये,
शय्या के बासी फूल सभी ।
दी पोंछ किसी ने कौशल से,
प्रत्येक वस्तु की धूल सभी ॥

सब सावधान थीं, रानी को–
हो सकी न किंचित् भी बाधा ।
जब कक्ष स्वच्छ हो गया तभी,
उनने सामायिक को साधा ॥

वे लगीं सोचने, 'भववन में,
निज जन्म अनन्त विताये हैं ।
कर्मों के वश में रह मैंने,
अगणित दुख भार उठाये हैं ॥

पर नहीं आज तक कभी मुझे,
निज आत्म रूप का बोध हुआ।
शुभ अशुभ आस्रवों के आने,
में कभी न गति-अवरोध हुवा॥

बढ़ सकी मुक्ति की ओर नहीं,
परित्याग मोह के बन्धन को।
ईंधन हित रही जलाती हा!
मैं सदा मलयगिरि चन्दन को॥

यों अपनी ही जड़ता से चारों—
गतियों के मध्य भटकती हूँ।
औ' पाप-पुण्य के तरुओं के—
विषमय मधुमय फल चखती हूँ॥

जो पाप-पुण्य से रहित हुये,
सचमुच वे ही बड़ भागी हैं।
जिनने विषयाशा को त्यागा
वे ही तो सच्चे त्यागी हैं॥

मैं भी सब बन्धन त्याग सकूँ,
भगवन्! इतना सौभाग्य मिले।
अब तक हर भव में राग मिला
अब परभव में वैराग्य मिले॥"

यों आत्म शुद्धि के लिये स्वयं,
बैराग्य भावना भातीं थीं।
डूबीं थीं इतनी भावों में,
प्रतिमा सी शान्त दिखातीं थीं ॥

इस आत्म-चिन्तवन में उनको
अनुपम आत्मिक अनुभूति हुई।
यों लगा कि जैसे करतल गत,
शुद्धात्मानन्द विभूति हुई ॥

'मैं 'कुण्ड ग्राम' की महिषी हूँ',
यह भी वे क्षण को भूल गयीं।
अविकार सिद्ध की मुद्रा भी
उनके नयनों में झूल गयी ॥

निज पूर्व सुनिश्चित क्षण में फिर,
क्रमशः यह चिन्तन भंग हुवा।
रानी का उठना, सखियों का—
आना दोनों ही संग हुवा ॥

'सिद्धार्थ-वल्लभा' को कोई—
भी वस्तु पड़ी न मँगानी थी।
उनकी हर प्रकृति सदा से ही,
हर दासी की पहिचानी थी ॥

उनको जब जो भी इष्ट हुई,
तत्काल उन्हें वह वस्तु मिली।
आ गयी वहीं सामग्री सब,
पर उनकी जिह्वा भी न हिली॥

वे स्वप्न-फलों को सुनने की—
मन में थीं आज उमंग लिये।
अतएव शीघ्रता से पूरे,
दिन चर्या के वे अङ्ग किये॥

पश्चात् स्नान कर नव भूषा,
धारण की आज निराली थी।
चेरी ने कौशल से गूँथी,
उनकी केशावलि काली थी॥

इसके उपरान्त विभूषण वे,
पहिने रुचि के अनुरूप स्वयं।
प्रायः ही जिन्हें पहिनने का,
आग्रह करते थे भूप स्वयं॥

आभरण पहिन कर मांग भरी,
खींची सिन्दूरी रेखा फिर।
यों रुचि से सब शृङ्गार किये,
दर्पण में निज मुख देखा फिर॥

कुछ अंश पोंछकर ठीक किया,
अधरों की ललित ललामी को।
वे चाह रहीं थीं, सज्जा में—
कोई त्रुटि दिखे न स्वामी को॥

हर वस्तु ठीक कर राजा से,
मिलने रानी सोल्लास चली।
यों लगा, इन्द्र से मिलने को,
इन्द्राणी उनके पास चली॥

आओ, हम भी चल राजसभा--
में सात्विक स्वप्न विधान सुनें।
'त्रिशला' माँ के गर्भाशय में—
संस्थित शिशु का गुण गान सुनें॥

—×—

चौथा सर्ग

वे बिना परिश्रम त्रिभुवन-पति—
का भार उठातीं जातीं थीं।
निज कुक्षिमध्य युग-स्रष्टा का
आकार बनातीं जातीं थीं॥

'सिद्धार्थ' सिँहासन पर बैठे—
थे आनन पर अति ओज लिये।
ऊपर को भाल उठाये औ'
नीचे को चरण-सरोज किये॥

बहुमूल्यमयी नव भूषा से,
शोभित थे अनुपम अंग सभी।
उनकी परिमार्जित अभिरुचि के,
सूचक थे जिसके रंग सभी॥

निज नियत आसनों पर सविनय
आसीन सभी अधिकारी थे।
जो अपने अपने पद के ही,
अनुरूप रूप के धारी थे॥

उस राज सभा की नियमावलि—
का भंग न करता था कोई।
सबके अन्तस् में अनुशासन—
की नव बीजावलि थी बोयी॥

प्रहरी गण भी थे मौन खड़े,
परिषद् गृह के हर कोने में।
सम्राट्-प्रताप झलकता था,
उनके यों तत्पर होने में॥

जिस ओर वहाँ पर देखो, बस
सुखदायी शान्ति दिखाती थी ।
जो नृप की शांति-व्यवस्था को-
ही बारम्बार बताती थी ॥

जितने जन वहाँ उपस्थित थे,
अणुमात्र किसी को खेद न था ।
अधिकार यथोचित सबको थे,
पर पक्षपात औ' भेद न था ॥

इतने में 'त्रिशला' आ पहुँचीं,
समयोचित नव शृंगार किये ।
नृप के आसन में समभागी-
बनने का भी अधिकार लिये ॥

सामन्त, सभासद, सेनापति,
सब ही उनको पहिचान गये ।
कारण विशेष है आने का,
यह भी वे सहसा जान गये ॥

अविलम्ब खड़े हो सबने ही,
उनको निज शीश झुकाया भी ।
निज विनय प्रदर्शन से महिषी-
के प्रति सद्भाव दिखाया ही ॥

भूपति ने भी उठ स्वयं उन्हें,
निज वामासन पर बैठाया।
आगमन-प्रयोजन सुनने को,
उनका अन्तस् था ललचाया॥

अतएव प्रेम से बोले वे,
'आने का हेतु बताओ अब।
मैं उसे जानने को उत्सुक,
इससे मत देर लगाओ अब॥'

यह सुन 'त्रिशला' ने कहा—'नाथ!
मैं सब कुछ अभी बताती हूँ।
हैं आप समुत्सुक सुनने को,
मैं कहने को ललचाती हूँ॥

जब तक न आप से कह लूंगी,
होगा मुझको भी तोष नहीं।
जो गुप्त आपसे हो, ऐसा—
मेरे भावों का कोष नहीं॥

तो सुनें, यामिनी में मैंने,
है सोलह स्वप्नों को देखा।
पर उनका क्या है फलादेश,
मैं लगा न पायी यह लेखा॥

अतएव शरण में आयी हूँ,
मैं अपने भाग्य विधाता की।
अपने मतिमान वृहस्पति की,
अपने जीवन-निर्माता की ॥

अब आप कृपा कर स्वप्नों के,
सोलह दृश्यों के नाम सुनें।
सुन अपनी व्यापक प्रज्ञा में,
उन सब का ही परिणाम गुनें ॥

हैं आप स्वयं ही विज्ञ, अतः —
मैं नाम मात्र ही बोलूँगी।
हाँ, आप कहेंगे जो विस्तृत—
फल उसे अवश्य सँजो लूँगी ॥

उन दृश्यों के क्रम को नहीं अभी,
तक मेरी संस्मृति भूली भी,
कारण न अल्प भी पड़ने दी।
उन पर विस्मृति की धूली भी ॥

वे सोलह ये-गजराज, वृषभ,
हरि, लक्ष्मी का संस्नान तथा।
माला, शशि, रवि, युग मीन, कलश,
सर, सिन्धु, सिँहासन, यान तथा ॥

नागेन्द्र निकेतन, रत्न राशि,
निर्धूम अग्नि अभिराम यही ।
स्वप्नों में दिखे हुये सोलह-
दृश्यों के हैं नाम यही ॥

अवलोक आप निज प्रज्ञा में,
इनका सब फल बतलायें अब !
निद्रा ने स्वप्न दिखाये हैं,
फल आप मुझे दिखलायें अब ॥

यों निज विचार कह चुकने पर,
'त्रिशला' मन में उल्लास लिये ।
हो गयीं मौन, उन स्वप्नों का-
फल सुनने की अभिलाष लिये ।

सब लगे देखने नृप का मुख,
ज्यों ही वह वचन प्रवाह रुका ।
'सिद्धार्थ'-कथित फल सुनने को,
सबके मन का उत्साह झुका ॥

पर भूपति क्षण भर लीन रहे,
जाने किन सुखद विचारों में ॥
तदनन्तर व्यक्त लगे करने,
स्वप्नों का फल उद्‌गारों में ॥

बोले—'लो सुनो, सभी स्वप्नों—
का फल मैं तुम्हें सुनाता हूँ।
तुम भी प्रमोद से फूल उठो,
मैं फूला नहीं समाता हूँ॥

सब सविस्तार बतलाता हूँ,
मुझको जो कुछ भी ज्ञात हुवा।
जिसकी कि कल्पना करने से,
रोमाञ्चित मेरा गात हुवा॥

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर,
तव कान्त-कुक्षि में आये हैं।
उनके गरिमामय गुण ही इन,
स्वप्नों ने हमें बताये हैं॥

अब मैं क्रमशः सब स्वप्नों के
सुखकर रहस्य को खोलूँगा,
प्रत्येक स्वप्न का फलादेश,
मैं पृथक् पृथक् ही बोलूँगा॥

षोड़स् स्वप्नों के हित प्रयोग,
होगा बस षोड़स छन्दों का।
इतने में ही सब समाधान,
होगा तव अन्तर्द्वन्दों का॥

गज ऐरावत सा देखा जो,
उसका फल उत्तम जानो तुम।
इस लक्षण से एक सुलक्षण सुत—
की माता निज को मानो तुम॥

अब सुनो, स्वप्न में दृष्ट वृषभ,
जो बात विशेष बताता है।
वह सुत की धर्म धुरंधरता—
की ही सामर्थ्य दिखाता है॥

तदनन्तर जो वह सिंह दिखा,
उसने भी यही बताया है।
निस्सीम शक्ति की धारक उस,
गर्भस्थित शिशु की काया है॥

पश्चात् दिखी जो लक्ष्मी है,
वह भी देती सन्देश यही।
होगा चिर मुक्ति स्वरूपा उस
लक्ष्मी का भी प्राणेश यही॥

सुरभित सुमनों की माला ने,
भी यह ही निस्सन्देह कहा।
जग में प्रसिद्ध हो पायेगा,
वह जगती भर का स्नेह महा॥

इसके उपरान्त दिखी तुमको
जो पूर्णाकृति रजनीश-कला।
वह सूचित करती मोह-तिमिर—
को देगा वह योगीश जला॥

तदनन्तर दिया दिखायी जो
द्युति शाली दिव्य दिनेश स्वयं।
वह कहता ज्ञान-प्रकाशन कर,
होगा वह सुत ज्ञानेश स्वयं॥

फिर मीन युगल भी जो तुमको,
सपने में अपने पास दिखा।
तुम समझो उसके छल से ही,
सन्तति का भाग्य विकास दिखा॥

जो जल मय पूर्ण कलश देखे,
उनने भी यही बताया है।
वह सुख की प्यास बुझाने को,
अमृत-घट बन कर आया है॥

जो दिखा सरोजमयी सरवर,
उसने भी बारम्बार कहा।
उसको सहस्र से आठ अधिक,
शुभ लक्षण का आगार कहा॥

पश्चात् दिखा वह सागर भी
कहता मुझसा गम्भीर महा।
होगा गम्भीर विचारक सुत'
मर्यादा पालक धीर महा ॥

इसके उपरान्त तुम्हें जो वह,
सिंहासन दिखा निराला है।
वह कहता पुत्र तुम्हारा वह,
त्रिभुवन पति बनने वाला है ॥

जो देव विमान दिखा तुमको,
उसका फल यही विचारा है।
वह जीव तुम्हारे गर्भाशय—
में सुर पुर त्याग पधारा है ॥

फिर नाग भवन जो देखा है,
उसका भी अर्थ सुहाना है।
उस सुत को तीनों ज्ञान लिये
ही जन्म जगत में पाना है ॥

तदनन्तर तुम्हें दिखायी दी,
जो रत्न राशि मनहारी है।
वह सम्यक सूचित करती है
सुत श्रेष्ठ गुणों का धारी है ॥

जो अग्नि दहकती हुई दिखी,
उससे भी होता ज्ञान यही।
तप रूप अग्नि में वसु कर्मों-
को होमेगी सन्तान यही ॥

यों मुझे तुम्हारे स्वप्नों का,
जो अर्थ ज्ञान में आया है।
वह विशद रूप से पृथक पृथक,
भी मैंने तुम्हें बताया है ॥

अब फलीभूत ही समझो तुम,
दम्पति-जीवन की आशा को।
निज हृदय-देश से निर्वासन-
दे दो अविलम्ब निराशा को ॥

लो मान, हमारी चिन्ताओं-
का आज इसी क्षण अन्त हुवा ॥
पतझड़ की अवधि समाप्त हुई,
अब प्राप्त प्रशस्त बसन्त हुआ ॥

हे देवि ! तुम्हारा पुण्य महा,
गर्भस्थित जो जिनदेव हुये।
वह मुक्ति तरसती है जिनको,
वे प्राप्त तुम्हें स्वयमेव हुये ॥

है सत्य वचन यह अक्षरशः,
इसमें किंचित् सन्देह नहीं।
उस सिद्ध शिला के राही से,
पावन होगी यह गेह-मही ॥

अतएव ध्यान से गर्भवती—
का हर कर्त्तव्य निभाओ तुम।
अनुकुल क्रियाओं को करने—
में मत आलस्य दिखाओ तुम ॥

कारण, अब तक तुम जाया थीं,
अब जननी-पद भी पाना है।
इस अभिनव पद के योग्य अतः,
अपने को तुम्हें बनाना है ॥

इस हेतु त्याग कर चिन्ता-भय,
निश्चिन्त बनो, निर्भीक बनो।
बन वीर-प्रसविनी वधुओं को,
अनुपम आदर्श प्रतीक बनो ॥

अब मुझे आज की परिषद् यह
करना सत्वर ही भंग अभी।
इससे न करूंगा बात अधिक,
इस समय तुम्हारे संग अभी ॥

कल से आष्टाह्निक मह पूजन,
इस वर्ष विशेष मनाना है।
श्री सिद्धचक्र का पूजन हर
जिन मन्दिर में करवाना है॥

अतएव यहाँ से जा कर तुम
विश्राम अभी सामोद करो।
या अपना मन बहलाने को,
सखियों से मनोविनोद करो॥

यों विशद विवेचन मधु स्वर में—
कर पूर्ण मौन नरराज हुये।
सुन जिसे ध्यान से महिषी के
हर अङ्ग प्रफुल्लित आज हुये॥

वक्तव्य पूर्ण कर जैसे ही,
'सिद्धार्थ'—विचार-प्रवाह रुका।
'त्रिशला' का मस्तक भी उनके,
पद पंकज पर सोत्साह झुका॥

सविनय प्रणाम कर प्रियतम को,
वे उठीं और सोल्लास चलीं।
उस राज सभा से बाहर आ,
वे सखियों सँग रनिवास चलीं॥

इस नव प्रसंग में षट्पञ्चा—
शत् दिक्कुमारियाँ लीला से।
निज छद्मवेश में आ बोलीं,
सविनय उन लज्जाशीला से॥

"हम आयीं ले तव चरणों की—
सेवा करने का लोभ शुभे।
दें शरण, हमारी सेवा से,
होगा न आपको क्षोभ शुभे॥

हम नहीं करेंगी कपट कभी,
हे देवि! आप विश्वास रखें।
यह कार्य प्रमाणित कर देगा,
कुछ दिन बस अपने पास रखें॥

हम सब भी तो परिचर्या की,
हर विधि में पूर्ण प्रवीणा भी।
हम गा भी सकतीं हैं और बजा—
सकतीं हैं वंशी वीणा भी॥

हम नयी कलामय विधियों से,
कर सकतीं हैं शृङ्गार सभी।
तन की हर पीड़ा बाधा का
कर सकतीं हैं उपचार सभी॥

शोभामय सुन्दर शैली से,
हम शयनागार सजा सकतीं।
नित नूतन बन्दनवार बना,
हम हर गृह द्वार सजा सकतीं॥

अनुरूप सजावट कर सकतीं,
पर्वों के विविध प्रसंगों पर।
अति मुग्ध आप हो जायेंगी,
सजा करने के ढंगों पर॥

प्रिय लगें आपको जैसे भी,
सकतीं हम वैसे हार बना।
सुमनों के सुन्दर भूषण भी
सकती हैं विविध प्रकार बना॥

कह सकतीं मन बहलाने को,
प्रति दिवस नवीन पहेली भी।
दासी भी बन कर रह सकतीं,
रह सकतीं बनी सहेली भी॥

इसके अतिरिक्त हमें स्वामिनि!
है ज्ञात पाक विज्ञान सभी।
हम छप्पन भोग बना सकतीं,
मिष्टान्न सभी पक्वान सभी॥

अभ्यस्त हमें हैं हे कुशले!
प्रायः सब ललित कलाएँ भी।
कण्ठस्थ न जाने हैं कितनी,
कमनीय कथा कविताएं भी॥

गार्हस्थ्य-शास्त्र की ज्ञाता हम,
आता है हर गृह कार्य हमें।
गृहणी के सारे कर्त्तव्यों-
को सिखा चुके आचार्य हमें॥

हम नयी प्रणाली से सकतीं-
हैं गूँथ आप के केशों को।
अविलम्ब सदा ही कार्यान्वित,
कर सकतीं तव आदेशों को॥

अतएव नियुक्त हमें अपनी-
सेवा में निस्सङ्कोच करें।
हम पारिश्रमिक में क्या लेंगी?
इसका मत किंचित सोच करें॥

तव कृपा दृष्टि का पाना ही,
है अलका पति का कोष हमें।
जो आप स्नेह से दे देंगी,
उससे ही होगा तोष हमें॥

पर कभी आपकी इच्छा के,
विपरीत न निज मुख खोलेंगी।
हर समय विनय में घुली हुई,
मधुवाणी हम सब बोलेंगी।"

यों उनने त्रिशला देवी को,
सूचित अपने उद्गार किये।
सुन जिनको महिषी ने उनको
परिचर्या के अधिकार दिये॥

यह स्वीकृति पाकर मुदित हुई
वह दिक्कुमारियों की टोली।
उस क्षण से उनकी सेवाओं—
का लक्ष्य बनी रानी भोली॥

अब वे त्रिशला की सेवा में,
करतीं थीं समय व्यतीत सभी।
सिद्धार्थ-प्रिया को भी उनमें,
आलस्य हुवा न प्रतीत कभी॥

प्रत्येक कार्य के करने में—
उनका चातुर्य दिखाता था।
मन में अभिलाषा करते ही,
इच्छित पदार्थ आ जाता था॥

कोई प्रभात में लिये खड़ी,
रहती थी मञ्जन दाँतों का।
कोई भर नीलम-चषकों में,
देती जल स्वर्ण-परातों का॥

कोई उनके मृदु अङ्गों में,
उत्तम उबटना लगाती थी।
कोई बल वर्धक तैल लगा,
उनके कर चरण दबाती थी॥

कोई कञ्चन के कलशों के,
जल से उनको नहलाती थी।
कोई उनके मृदु पद तल भी,
धो फूली नहीं समाती थी॥

कोई कोमल अंगुलियों से
उनकी केशावलि धोती थी।
कोई दुकूल झट लेती थी,
कोई कञ्चुकी निचोती थी॥

कोई तन का जल में पोंछ नये,
परिधान उन्हें पहिनाती थी।
कोई द्रुत केश-प्रसाधन को,
कंघी, दर्पण ले आती थी॥

कोई तो सुरभित तैल लगा,
मृदु केशावली भिगोती थी।
कोई तो उनकी वेणी में,
गूंथा करती मणि मोती थी॥

कोई उनके युग नयनों में,
अञ्जन अभिराम लगाती थी।
कोई नव माँग बना उसमें,
सिन्दूर ललाम लगाती थी॥

कोई झट लगा महावर ही,
चरणों को लाल बनाती थी।
कोई सौभाग्य-तिलक माथे—
पर भी तत्काल बनाती थी॥

कोई सतर्कता से उनकी—
ठोड़ी पर तिल को लिखती थी।
कोई उनके कर-पल्लव में,
मिँहदी ही रचती दिखती थी॥

कोई साड़ी के अञ्चल में,
अति सुरभित इत्र लगाती थी।
कोई मुख मण्डल में सुरभित,
सित चूर्ण पवित्र लगाती थी॥

कोई आभरण मँजूषा ला,
पहिनाती भूषण अङ्गों में।
अत्यन्त दमकते थे जिनके–
नग अपने अपने रङ्गों में!

कोई पहिनाकर शीश फूल,
उनका शिर भाग सजाती थी।
कोई पहिनाकर कर्णफूल,
कर्णों की कान्ति बढ़ाती थी॥

कोई नासा में पहिनाने-
को नथ अविलम्ब उठाती थी।
कोई उनके कमनीय कण्ठ-
में हीरक हार पिन्हाती थी॥

कोई कमनीय भुजाओं में,
भुज बन्ध बाँधती धीरे से।
कोई कर में पहिनाती थी,
नव वलय जटित मणि हीरे से॥

कोई उनकी मृदु अंगुलियों में,
पहिनाती स्वर्ण-अँगूठी थी।
कोई कसने लगती उनकी-
कटि में मेखला अनूठी थी॥

कोई नूपुर पहिनाती थी
उनके मृदु चरण सरोजों को।
कोई पहनाती पुष्प हार,
जो लेते घेर उरोजों को॥

कोई उनके मृदु अधरों में
रँग हलका लाल लगाती थी।
कोई उनकी दन्तावलि में,
मिस्सी तत्काल लगाती थी॥

कोई पूजन का समय समझ,
पूजन सामग्री लाती थी।
कोई वसु द्रव्यों को थाली—
में विधिवत् शीघ्र लगाती थी॥

जिनराज आरती को कोई,
शुचि मणि मय दीप जलाती थी।
कोई स्वर्णिम धूपायन में
अंगारे कुछ सुलगाती थी॥

जब रानी पूजा पढ़ती थी तो,
कोई सँग में कहलाती थी।
कोई शुभ नृत्य किया करती,
कोई मधु वाद्य बजाती थी॥

पूजन समाप्ति पर कोई फिर,
जप माल उन्हें दे देती थी।
कोई स्वाध्याय पुराण उठा,
तत्काल उन्हें दे देती थी॥

कोई रह भोजन शाला में,
पावन पकवान पकाती थी।
ताम्बूल वाहिनी बन कोई,
मधुरिम ताम्बूल लगाती थी॥

कोई उनको पहुँचाने को,
विश्राम-कक्ष तक चलती थी।
कोई उनके विश्राम-समय—
में बैठी पंखा झलती थी॥

गृह—पुष्प—वाटिका में कोई
भ्रमणार्थ उन्हें ले जाती थी।
औ' निशारम्भ में ही कोई,
उनका शयनाङ्क बिछाती थी।

कोई अपनी संगीत कला—
के द्वारा उन्हें रिझाती थी।
कोई निद्रा आ जाने तक
उनके पद युगल दबाती थी॥

यों रहती उनकी सेवा में,
वह दिक्कुमारियों की टोली।
जिनकी हर गर्भ-शुश्रूषा से,
प्रमुदित रहतीं रानी भोली॥

वे बिना परिश्रम त्रिभुवन पति—
का भार उठाती जातीं थीं।
निज कुक्षि मध्य युग स्रष्टा का—
आकार बनाती जातीं थीं॥

नव मास उदर में रखना था,
उन नव-युग भाग्य विधाता को।
उन जैसा यह सौभाग्य पुनः
कब मिला किसी भी माता को॥

—×—

पाँचवाँ सर्ग

होते निमित्त भर सिन्धु सीप,
स्वयमेव पनपता मोती है।
शिशु स्वीय पुण्य से बढ़ता है,
माँ गर्भ भार भर ढोती है॥

पावस ने मधु जल सिंचित कर
वसुधा की काया धो दी थी।
हो गयी शरद् के धारण के—
उपयुक्त धरा की गोदी थी॥

अतएव शरद् के आते ही,
निर्मल नदियों का नीर हुवा।
उनकी उद्धतता शान्त हुई,
एवं प्रवाह गम्भीर हुवा॥

हो गया अगस्त्योदय नभ में
रह नहीं पथों में पङ्क गया।
हो गयीं दिशाएँ भी निर्मल,
मेघों का भी आतङ्क गया॥

मिट गया तड़ागों का कल्मष,
कमनीय कुमुद भी फूल चले।
जिन कुमुद वनों में विहरण कर
कलहंस विगत दुख भूल चले॥

नव शरत्पूर्णिमा आते ही,
सबको नूतन अनुभूति हुई।
निज पूर्ण रूप में विकसित सी
उस दिन सब प्रकृति विभूति हुई॥

उस तिथि का वातावरण अतः
हर जन को मोहन मन्त्र बना।
हर प्रिय प्रेयसि से मिलने की
अभिलाषा से परतन्त्र बना॥

दिन पति के जाते ही नभ में,
अवतरित प्रपूर्ण मयंक हुवा।
शरदेन्दु-छटा की निधियों से,
सम्पन्न मही का अङ्क हुवा॥

हर प्रियतम अपनी प्रेयसि पर
बिखराने अपना राग चला।
निज प्रिय के दर्शन का कौतुक—
हर प्रेयसि में भी जाग चला॥

'सिद्धार्थ'—नृपति ने भी सोचा,
क्यों विफल आज की रात करूँ!
क्यों नहीं पहुँच कर अन्तःपुर,
'त्रिशला' से जी भर बात करूँ!

क्षण में निश्चय कर रानी के
आलय की ओर नरेश चले।
मानो कि रमा से मिलने को
उत्कण्ठित स्वयं रमेश चले॥

प्रियतम के आने की आहट,
पा 'त्रिशला' तनिक लजायीं थीं।
कुछ सोच हृदय में निज आँखें,
नीचे की ओर झुकायीं थीं॥

पर दिक्कुमारियों से उनकी,
यह लज्जा रही विलुप्त नहीं।
चिर संगिनि चिर सहचरियों से,
क्या रह सकता कुछ गुप्त कहीं?

वे समझ गयीं, सब चलीं वहाँ—
से बिना कहे कुछ वाणी से।
थी अकल्याण की भीति नहीं;
उनको अपनी कल्याणी से॥

इतने में ही उस ओर तभी,
भीतर आने का द्वार खुला।
इस ओर नाथ के स्वागत में,
रानी का मुख साभार खुला॥

पर उन्हें रोकते उठने से,
नृप ने सोल्लास प्रवेश किया।
बोले—"तुम मुझे रिझाने को
क्यों करती हो यों क्लेश किया?

हे भाग्य शालिनी ! भार लिये,
तुम जग के भाग्य विधाता का।
निर्माण आज कल करती हो,
तुम नव युग के निर्माता का॥

अतएव नवाया नहीं करो,
तुम मुझको अपना शीश शुभे।
हो क्योंकि तुम्हीं तो जगवन्दित,
अवधारण कर जगदीश शुभे॥

बस, यही सोचकर अब मुझको,
तव विनय न देवि ! सुहाता है।
औ' देख तुम्हारे पुण्यों को,
मन फूला नहीं समाता है॥

जग उस दिन पायेगा निज युग—
का सर्वोत्तम उपहार प्रिये।
जिस दिन ही तव गर्भाशय से,
लेंगे जिनेश अवतार प्रिये॥

अतएव शोभते नहीं तुम्हें,
ये विनयादिक व्यवहार शुभे।
तुम क्यों कि आज अब युगाधार—
की बनीं हुईं आधार शुभे॥

वह मुक्ति तरसती है जिनको,
वे ही अब पास तुम्हारे हैं।
वह परम ज्योति है तुम्हें मिली,
जिससे रवि शशि भी हारे हैं॥

यह बात सत्य कह रहा प्रिये!
कर नहीं रहा परिहास अभी।
मानो मेरा अनुरोध, दिया—
मत करो स्वतन को त्रास कभी॥

मैं तुम्हें अधिक समझाऊँ क्या?
हो स्वयं पूर्ण विज्ञाता तुम।
कारण अब बनने वाली हो,
सर्वज्ञ देव की माता तुम॥

वह क्षण कितना शुभ होगा जब,
जनमोगी केवल ज्ञानी तुम।
महिला समाज में अग्रगण्य,
हो जाओगी हे रानी तुम॥

तत्काल तुम्हारे दर्शन को
इन्द्राणी भगती आयेगी।
भगवत् की जननी कह तुमको,
वह अपनी भक्ति दिखायेगी॥

अतएव किया मत करो प्रिये !
तुम मुझसे कुछ सङ्कोच कभी।
चिन्ता को पास न आने दो,
औ' दूर करो तुम सोच सभी ॥

नित छप्पन भोग सदा प्रस्तुत—
रहते, चाहे जो खाओ तुम।
षड् रस भी रहते विद्यमान,
जो रुचे वही अपनाओ तुम ॥

है सुरभित जल भी कई भाँति,
वह पियो कि जिस पर चित्त चले।
चन्दन, उबटन औ, तैल सभी,
जो कहो, सेविका वही मले ॥

जो सुमन रुचें, वे सूँघो, नित—
आ रहे टूट कर डाली से।
जैसा ताम्बूल रुचे, लगवा—
लो पान लगाने वाली से ॥

जो वाद्य रुचें, वे बजा करें,
तुम मुख से नाम बताओ भर।
जो नाट्य कहो, करवाऊँ मैं,
तुम मुख से चाह सुनाओ भर ॥

यदि चाहो, तो मैं बना रहूँ—
हर समय समीप तुम्हारे ही।
जब चाहो तुम संस्नान करो
प्रस्तुत हैं साधन सारे ही॥

जो रुचें तुम्हें आभूषण, तुम—
उनसे भूषित निज देह करो।
जो वसन लगें प्रिय, पहिनो तुम,
मत मन में कुछ सन्देह करो॥

जो वाहन प्रिय हों, उन पर ही,
दूँ भ्रमण करा सस्नेह तुम्हें।
शयनांक रुचे जो, वह प्रस्तुत—
करवा दूँ निस्सन्देह तुम्हें॥

जिस भाँति शयन में सुविधा हो,
उस भाँति शयन सानन्द करो।
फल मेवे सब हैं, चाहे जो
तुम चखो और आनन्द करो॥

जो रुचें भोग उपभोग करो,
मत कोई चाह छिपाओ तुम।
सेवार्थ सदा मैं प्रस्तुत हूँ,
अतएव नहीं सकुचाओ तुम॥"

यों निज विचार जब महिषी से
कह मौन हुये भूपाल स्वयं।
तब उनका उत्तर देने को,
रानी बोलीं तत्काल स्वयं॥

"प्राणेश ! आप निष्कारण ही,
क्यों मेरा मान बढ़ाते हैं !
क्यों व्यर्थ प्रशंसा कर मेरी,
मुझको अत्यधिक लजाते हैं !

बलवीर ! आपके तर्क प्रबल,
एवं हूँ अबला बाला मैं।
हे चतुर ! कहाँ से आप सदृश,
पाऊँ चातुर्य निराला मैं॥

धीमान् ! आपके सदृश मुझे
वक्तृत्व-कला का बोध नहीं।
स्वामी के वचनों का दासी,
कर सकती नाथ ! विरोध नहीं॥

अतएव सोच में पड़ी हुई,
तब सम्मुख अब क्या बोलूँ मैं !
जब हैं प्रसन्न स्वयमेव देव,
क्यों अनुनय को मुख खोलूँ मैं !

है श्रेय आपको ही उसका,
जो मिला महा सौभाग्य मुझे।
आराध्य ! आपके आराधन--
से मिले जगत् आराध्य मुझे॥

यह प्राची सूर्य कहाँ से दे,
होवे यदि स्वर्ण प्रभात नहीं।
यदि रहे न सरसी में जल तो,
दे सकती वह जल जात नहीं॥

अतएव आपकी अनुकम्पा--
के लिये सदा आभारी हूँ।
नर हो आप प्रभो मेरे,
मैं मात्र आपकी नारी हूँ॥

बस, यही समझ नत करने दें,
मुझको अपना यह भाल सदा।
औ' दया दृष्टि निज आप रखें,
मुझ पर हर क्षण भूपाल सदा॥

पुष्पाञ्जलि मुझे चढ़ाने दें
अपने ममतामय भावों की।
इति करें कृपाल ! कदापि नहीं,
अपनी कमनीय कृपाओं की॥

यदि भाव आपको मानूँ, तो—
अपने को कहती भाषा मैं।
यदि आप किमिच्छिक दानी तो —
हूँ याचक की अभिलाषा मैं॥

यदि न्याय देवता आप प्रभो!
तो मैं हूँ पहिली भूल स्वयं।
हृदयेश! आप यदि पूजनीय,
तो मैं तव पद की धूल स्वयं॥

यदि आप काम के रूप स्वयं,
तो मैं उसकी प्रिय भूषा हूँ।
यदि आप सुशील दिवाकर तो
मैं लज्जाशीला ऊषा हूँ॥

यदि आप इन्द्र-वक्षस्थल तो
मन्दार-कुसुमकी माला मैं।
राकेश आप यदि हैं तो हूँ,
रमणीय रोहिणी बाला मैं॥

अतएव धन्य वह पुण्योदय,
जिसने यह योग मिलाया है।
है धन्य कर्म भी वह जिसने,
हमको अनुरूप बनाया है॥

जिस विधि की मैं हूँ वसुंधरा,
बस आप उसी विधि मेंह मिले।
है यही हेतु जो हमको ये
दुर्लभ फल निस्सन्देह मिले॥

होते निमित्त भर सिन्धु सीप,
स्वयमेव पनपता मोती है।
शिशु स्वीय पुण्य से बढ़ता है,
माँ गर्भ भार भर ढोती है॥

पर धार उदर में निजपति को,
है मुझे अभी से मोद अहा।
पर कहाँ समायेगा यह तब
जब लूँगी उनको गोद अहा॥

वैसी पहिले है हुई नहीं,
जैसी इन दिनों उमंग मुझे।
हूँ लिये त्रिलोकीपति को पर,
हलके लगते निज अङ्ग मुझे॥

गुरु भार वहन यह जाने क्यों
लघु लगता मुझ सुकुमारी को!
आलस्य नहीं वह, जो रहता—
है गर्भवती हर नारी को॥

यों सुलभ वस्तुएँ भोगों औ'
उपभोगों के उपयुक्त सभी।
अब और बताऊँ क्या-क्या ! हो—
पातीं न यही उपभुक्त सभी ॥

कारण कि मुझे इन भोगों से
अब आज अधिक अनुरक्ति नहीं।
लगता है भोगाराधन तज,
मैं करूँ जिनेश्वर-भक्ति यहीं ॥

इन नश्वर इन्द्रिय-विषयों में,
अब रहा अधिक अनुराग नहीं।
लगता कि धर्म में लीन रहूँ,
लूँ राग रङ्ग में भाग नहीं ॥

बस, 'पार्श्वनाथ' का ध्यान करूँ,
जगते सोते दिन रात सदा।
दूँ चित्त उन्हीं के वन्दन में,
हर सन्ध्या और प्रभात सदा ॥

अध्यात्मवाद के ग्रन्थों को
पढ़ने में प्रायः लीन रहूँ।
जीवन की एक घड़ी में भी,
मैं नाथ ! न संयमहीन रहूँ ॥

सब धार्मिक पर्वों में सविनय,
व्रत करूँ और उपवास करूँ।
साधारण दिन में पात्र दान—
ही देकर मुख में ग्रास धरूँ॥

यों बना हृदय में रहता है,
सद्भाव पवित्र विचारों का।
लगता, अस्तित्व समाप्त हुवा,
मन के सम्पूर्ण विकारों का॥

अतएव न आप करें चिन्ता,
मैं सुख से समय बिताती हूँ।
जगते की कौन कहे ! सपने—
में भी मैं दुःख न पाती हूँ॥

पद में न कभी पीड़ा होती,
दुखता न कभी मम शीश प्रभो।
सम्भवतः इसका कारण जो
मध्यस्थ बने जगदीश प्रभो॥

यह सत्य आपसे कहती हूँ,
अब आप न मेरा सोच करें।
निश्चिन्त इधर से हो अपने,
शासन को निस्सङ्कोच करें।'

अब अधिक न बात बढ़ाती हूँ,
करती हूँ पूर्ण प्रसङ्ग यहीं।
प्रभु ! क्षमा करें यदि अप्रिय रहा—
हो मम कहने का ढङ्ग कहीं ॥"

यों निज विचार कह चुकने पर,
हो गयीं मौन वे क्षत्राणी।
'सिद्धार्थ' प्रशंसा मन ही मन—
कर चले श्रवण कर वह वाणी ॥

बोले—"हे देवि ! मुझे तुमसे
इस ही उत्तर की आशा थी।
वक्तव्य तुम्हारा अनुपम था,
एवं हित, मित, प्रिय भाषा थी ॥"

इतने में ही घड़ियाली ने
संविदित शयन का काल किया।
सुन, शयन हेतु सन्नद्ध हुये
भूपाल और भूपाल-प्रिया ॥

उन दोनों को शयनेच्छु समझ
कुछ धीमा दीप-प्रकाश हुवा।
निद्रा को शासन सूत्र मिला,
एवं जागरण हताश हुवा ॥

सिद्धार्थ-प्रिया सो गयी पृथक्,
सोये वे त्रिशलाकान्त पृथक्।
मन मिले नितान्त अभी भी थे,
तन यद्यपि रहे नितान्त पृथक्॥

निद्रा में रात बिता, दम्पति—
ने जग की प्रातःकाल-क्रिया।
भूपाल सभा में गये, रही—
अन्तःपुर में भूपाल-प्रिया॥

यों राजा रानी से मिलने—
पर कहते निज उद्‌गार सदा।
गर्भस्थित सुत ही रहता था
संभाषण का आधार सदा॥

वे दिन भर शासन-कार्य चला,
निशि में रनिवास चले आते।
कर ज्ञात गर्भ का क्षेम पुनः,
प्रातः सोल्लास चले जाते॥

क्षण मात्र अपूर्ण न वे रहने—
देते 'त्रिशला' की चाह कभी।
दुर्लभ भी सुलभ बने, उनमें--
रहता इतना उत्साह अभी॥

उन गर्भ मण्डिता की चाहें—
भी रहतीं चित्र विचित्र सभी।
सद् ग्रन्थ चाहतीं कभी तथा
निर्ग्रन्थ सन्त के चित्र कभी ॥

उनकी ऐसी ही चाहों से,
यह बोध सहज ही हो जाता।
ग्रन्थों का ज्ञाता, निर्ग्रन्थों—
का त्राता जनमेगी माता ॥

गाम्भीर्य गर्भ सँग बढ़ता था,
वे करतीं नहीं ठिठोली थीं।
अतएव निरन्तर वे होतीं—
जा रहीं अधिकतर भोलीं थीं ॥

यह समझ न पड़ता, मातृ-हृदय
साँचे में सुत को ढाल रहा।
या मातृ-हृदय को अपने सा—
ही बना गर्भ का लाल रहा ॥

पर इतना निश्चित नाम कर्म—
ने ली सुन्दरतम तूली थी।
उसको तीर्थंकर के तन की—
रचना की कला न भूली थी ॥

छह मास साधना में बीते,
फिर भी न उसे सन्तोष हुवा।
कारण, गर्भोचित अणुओं से,
था शून्य न उसका कोष हुवा॥

वह हर क्षण रहता कर्म निरत,
पर होता कभी उदास न था।
दिन की तो कौन कहे? निशि में—
भी तजता निज उल्लास न था॥

आलस्य आज कल रहता था,
उस नामकर्म से दूर सदा।
औ' निज कर्त्तव्य निभाने का
साहस रहता भरपूर सदा॥

इस बार लगन से करना था,
पूरा अपना उद्देश उसे।
कारण, न मिलेंगे इस युग में,
अब आगे और जिनेश उसे॥

अतएव यत्न वह करता था,
अत्युत्तम प्रभु का देह बने।
औ, 'शिवं' 'सुन्दरं' 'सत्यं' का—
वह तन लोकोत्तर गेह बने॥

तब सहस्राक्ष भी बता सके,
उसकी रचना में दोष नहीं।
अनिमेष देख उन मानव को,
देवों को हो सन्तोष नहीं॥

इस कुण्डग्राम में देख उन्हें,
ईर्ष्या इससे सुरधाम करे।
मैं रहूँ नाम से नाम कर्म,
पर मुझे न कोई नाम धरे॥

यों ही विचारता रचता तन,
'त्रिशला' माँ को आधार बना।
नित सूर्य देखता प्रातः आ,
कल है कितना आकार बना॥

सन्तप्त न कर दे गर्भवती
'त्रिशला' को मेरी धूप कहीं?
औ' अधिक उष्णता से श्यामल—
हो कहीं गर्भ का रूप नहीं॥

यह सोच सूर्य ने ताप त्याग
वह शीत प्रकृति अपनायी थी।
जिसको अपना आह्वान समझ,
हेमन्ती भूपर आयी थी॥

उसके आते आ गया वहाँ,
जल थल में शीत अनोखा था।
मानो गर्भस्थ जिनेश्वर ने,
सन्ताप प्रकृति का सोखा था॥

अतएव ताप घट जाने से,
दिन लगे निकलने बातों में।
रानी के पास अधिक रहने—
की लिप्सा जागी रातों में॥

कमनीय कुन्द कलिकाओं से,
हो गये धवल उद्यान सभी।
नित धोने लगा तुषार उन्हें,
जिससे न रहें वे म्लान कभी॥

निशि चौक पूरती प्रति दिन निज,
हिम-दानों से हरियाली में।
हीरों से लगने लगते वे,
ऊषा की पावन लाली में॥

यह नियम रात का नित्य निरख'
ईर्ष्या सी करने प्रात लगा।
वह नित्य सूर्य की किरणों से,
हरने उसकी सौगात लगा॥

पर रात निराश न होती थी,
प्रति दिन हिम बिन्दु गिराती थी।
मानो गर्भस्थ जिनेश्वर को,
मुक्ता दल भेंट चढ़ाती थी॥

वह कई दिवस तक अपने इस,
पूजन क्रम में तल्लीन रही।
वह मलिन स्वयं थी पर उसकी,
श्रद्धांजलि नहीं मलीन रही॥

हेमन्ती में यों प्रकृति-वधू-
कर रही निरन्तर लीला थी।
जिसको रुचि से अवलोक रही,
नित 'त्रिशला' वधू सुशीला थी॥

था बढ़ा शीत का साहस पर
महिषी को किंचित् क्लेश न था।
कारण उनके शयनालय में,
संभव भी शैत्य प्रवेश न था॥

नित दिक्कुमारियाँ कर देतीं—
थीं बन्द निशा में द्वार सभी।
था क्योंकि उन्हीं पर रानी की,
परिचर्या का हर भार अभी॥

पाता न प्रवेश झरोखों से
निशि में पवमान-प्रवाह कभी।
उन्मुक्त दिवस में रहती थी,
धूपागम के हित राह सभी॥

अतएव प्रभाव न पड़ता था,
रानी पर वाह्य विकारों का।
हर क्षण था ध्यान रखा जाता,
गर्भोचित सब उपचारों का॥

अनुकूल व्यवस्था रहती थी,
आहार।पान की सोने की।
सब प्रजा प्रतीक्षा करती थी,
सन्तान-जन्म के होने की॥

महिषी के पिता नृपति 'चेटक'
मँगवाते रहते क्षेम सदा।
कारण विशेषतः त्रिशला पर
रहता था उनका प्रेम सदा॥

'सिद्धार्थ' यत्न यह करते थे,
रानी को किंचित् क्षोभ न हो।
कोई दौहृद न अपूर्ण रहे,
औ' किसी कार्य में लोभ न हो॥

कारण निज भावी भाग्योदय
हो चुका प्रथम था ज्ञात उन्हें।
अतएव अभी से सपने में,
दिखते जिनवर नवजात उन्हें॥

प्रति दिवस गर्भ ज्यों बढ़ता था,
त्यों बढ़ती जाती आशा थी।
कुछ काल अनन्तर अब पूरी—
होने वाली अभिलाषा थी॥

आओ, अब देखें शेष समय,
किसी भाँति सहर्ष निकलता है!
रानी में औ' दिक्कुमारियों—
में क्या प्रसङ्ग अब चलता है!

—×—

छठा सर्ग

उन दयासिन्धु के जन्म समय,
हो गयी सदय हर वाणी थी।
जिनराज जन्म कल्याणक की
बेला सब को कल्याणी थी॥

गत अन्य दिनों सा उस दिन भी
पावनतम प्रातःकाल हुवा।
नव बाल-सूर्य की आभा से,
प्राची का आनन लाल हुवा॥

किरणों ने अपने कौशल से,
आलोकमयी आकाश किया।
नव विकसित कमलों के मधु को
मधुपावलि ने सविलास पिया॥

जग कर अपने ही पिंजड़ों में,
प्रभु-गौरव गाने कीर लगे।
औ' काग जाग कर अम्बर के,
झीने अञ्चल को चीर भगे॥

अभिराम आम्र की डालों पर
गा गा कर पिकियाँ खेल चलीं।
औ' श्रोताओं के कर्ण पुटों—
में राग पराग उड़ेल चलीं॥

'त्रिशला' ने प्रात क्रियाएँ कर
रुचि से षोड़स शृंगार किया।
आहार दान दे पात्रों को,
पश्चात् स्वयं आहार किया॥

फिर सोचा दिक्कन्याओं ने
अब चर्चा इनके पास करें।
सुन धर्म प्ररूपण हम इनसे,
निज धार्मिक ज्ञान विकास करें॥

यह सोच सभी जिज्ञासा से,
प्रेरित महिषी के पास चलीं।
कुछ प्रश्न सोचतीं अन्तस् में,
पुलकित होतीं सोल्लास चलीं॥

कारण, उनके मन चातक में,
जागी नव ज्ञान पिपासा थी।
अतएव सभी को निज शंका—
के उत्तर की जिज्ञासा थी॥

'त्रिशला' के निकट पहुँचते ही,
उन सब ने सुख का भान किया।
औ' उन्हें देख कर रानी ने,
आने का कारण जान लिया॥

आयास बिना ही एक साथ,
सविनय नत छप्पन भाल हुये।
पावन अभिवन्दन कर उन्नत,
वे एक साथ तत्काल हुये॥

पश्चात् स्वामिनी की अनुमति—
पा बैठीं हो निर्भीक सभी।
औ' लगीं खोजने जिज्ञासा—
रखने का अवसर ठीक सभी॥

चुप उन्हें देख कर 'त्रिशला' ने,
निज मौन स्वयं ही भंग किया।
संकोच त्याग सब कहने का
उनको उपयुक्त प्रसंग दिया॥

बोलीं-"प्रश्नों के करने में,
तुम नहीं कदापि प्रमाद करो,।
भय की कोई भी बात नहीं,
तुम निर्भय सब सम्वाद करो॥

कर सकती मैं हर शंका का—
भी समाधान सामोद यहीं।
चातक की प्यास बुझा सकता—
क्या जल से पूर्ण पयोद नहीं!

यह बात असम्भव आज कि अब,
हो शान्त तुम्हारी प्यास नहीं।
कारण हर शंका का उत्तर
प्रस्तुत है मेरे पास यहीं॥

मेरे समीप में रहतीं जो,
उसका कुछ तो उपयोग करो।
अवकाश काल में तुम अभिनव,
ज्ञानार्जन का उद्योग करो॥

कारण, सहचारियो ! सत् चर्चा
से है अतीव अनुराग मुझे।
एवं विशेषतः रुचता है,
गोष्ठी में लेना भाग मुझे॥

अतएव तुम्हारी जिज्ञासा—
में होगा गति-अवरोध नहीं।
तब तक तुमको समझाऊँगी,
जब तक कि तुम्हें हो बोध नहीं॥

चाहे तुम जितने प्रश्न करो,
आयेगा मुझको रोष नहीं।
स्वयमेव तुम्हें मम उत्तर से
हो जायेगा परितोष यहीं॥

'त्रिशला' के इस आश्वासन से
उनके अन्तस् की लाज गयी।
यों तो पहिले से प्रस्तुत ही—
थीं दिक्कुमारियाँ आज कई॥

कह उठी एक-'ये प्राणी क्यों
पाते हैं नाना क्लेश यहाँ ?'
महिषी बोलीं—'पापोदय से—
ही मिलते दुःख अशेष यहाँ ?

फिर प्रश्न हुवा—'दुख सह कर भी
क्यों जगता ज्ञान विवेक नहीं ?
उत्तर आया —'मोहोदय के,
रहते जाता अविवेक नहीं ॥'

शंका उपजी—'इस मोहासुर—
को क्यों तजता संसार नहीं ।
था समाधान—'वैराग्य बिना
दिखता निज हित का द्वार नहीं ॥'

सुन पूँछ उठी कोई—'कब तक,
होती वैराग्य—प्रसूति नहीं ?
बतलाया—'जब तक होती है
सच्ची आत्मिक अनुभूति नहीं ॥'

फिर प्रश्न हुवा—'क्या हमें अभी—
मिल सकता मुक्ति प्रसङ्ग नहीं ।'
उत्तर था—'मुक्ति प्रदायक तप—
कर सकते नारी—अङ्ग नहीं ॥'

कह उठी एक—'क्या नारी के—
होते नर जैसे हाथ नहीं'?
स्वर आया—'होते' पर नर सा—
बल होता मन के साथ नहीं ॥'

सुन कहा किसी ने—'यों ही क्या—
हम बनी रहेंगी हीन सभी ?
रानी बोलीं—'मिल जायेगी,
नर की पर्याय नवीन कभी॥'

बोली कोई—'पर्याय न क्यों
मिलती मन के अनुकूल हमें ?'
उत्तर था—'नहीं बबूलों से—
मिल सकते चम्पक फूल हमें ॥'

फिर पूँछ उठी कोई—'कैसे—
हो तत्वों की पहिचान अभी ?'
यह ज्ञात हुवा—'सहकारी है
जिन तत्वों पर श्रद्धान अभी॥'

यह प्रश्न उठा—'क्या श्रद्धा भर—
से हो सकता उत्थान स्वयं ?'
उत्तर आया—'त्रय रत्नों में—
है प्रमुख तत्व-श्रद्धान स्वयं॥'

बोली कोई—'क्या तत्वों पर
हो सकता कोई सन्देह नहीं ?'
सुन पड़ा—'जिनेश-विवेचन में,
शंका रच सकती गेह नहीं।'

फिर कहा किसी ने—'क्यों सच ही—
होती है उनकी बात सभी ?'
उत्तर था—'केवल ज्ञान करा—
देता उनको विज्ञात सभी।'

फिर प्रश्न हुवा—क्या क्रम क्रम से—
यह ज्ञान कराता बोध उन्हें ?'
सुन पड़ा—'ज्ञान हो जाता है,
सब एक साथ अविरोध उन्हें।'

शंका उठ पड़ी—'विवेचन में—
होती न कहीं क्या भूल कभी ?'
उत्तर आया—'ध्वनि खिरती है,
सत्यार्थ-धर्म—अनुकूल सभी।।'

फिर प्रश्न उठा—'क्या जिनवर को
होती न किसी से ममता है ?'
था समाधान—'उन वीतराग—
की रहती सबमें समता है !'

बोली कोई—'क्या कभी उन्हें
आता प्रभुता का मान नहीं ?
स्वर आया—'उन्हें प्रतिष्ठा से
आती तक भी मुसकान नहीं।'

फिर कहा किसी ने—'क्या उनको—
पूजक से होता मोह नहीं ?'
उत्तर था—'मोह न पूजक से—
निन्दक से रहता द्रोह नहीं॥'

फिर पूँछ उठी कोई-'लगती—
क्या उन्हें भूख औ' प्यास नहीं ?
बतलाया—'ऐन्द्रिय विषयेच्छा,
जा सकती उनके पास नहीं।'

कह उठी अन्य—'क्या काया से—
भी रखते हैं वे राग नहीं ?
समझाया—तन क्या ? जीवन से—
भी रखते वे अनुराग नहीं ?

फिर कोई पूँछ उठी—'उनको—
होता न कहीं क्या रोग कभी ?
सुन कहा—'जन्मतः होते हैं,
उनके शुचि अङ्ग निरोग सभी।'

की प्रकट किसी ने जिज्ञासा
'क्या उनको आता क्रोध नहीं ?'
झट उत्तर मिला—'किसी से वे—
रखते ही वैर विरोध नहीं ॥'

फिर बोल उठी कोई—'उनको—
क्या मोह न सकती रम्भा भी ?'
उत्तर दे दिया कि 'मानेंगे—
वे उसे शुष्क तरु खम्भा सी ।'

फिर किया किसी ने प्रश्न—'न क्या
वे होते चिन्तालीन कभी ?'
बोलीं—'होते कृतकृत्य, अतः
जगती इच्छा न नवीन कभी ।'

फिर कहा किसी ने—'क्या हमको
दे सकते वे सुख क्लेश नहीं ?
बतलाया कि 'किसी भी प्राणी को
देते सुख दुःख जिनेश नहीं ।'

फिर तर्क उपस्थित हुवा कि 'तब
क्यों उन्हें पूजता लोक सभी !
उत्तर था—'उनका गुण चिन्तन
देता चिन्ताएँ रोक सभी ।'

यों समाधान सुन रानी से,
जिनवाणी पर विश्वास हुवा।
है गर्भ हेतु इस प्रज्ञा का,
ऐसा उनको आभास हुवा॥

यों चलता रहता आध्यात्मिक-
चर्चा का सौम्य प्रवाह सदा।
जिनमें त्रिशला तो प्रमुख भाग-
रुचि से लेतीं सोत्साह सदा॥

दिखता, महिषी के गर्भ सदृश-
ही उनका ज्ञान विशाल बढ़ा।
मानो अदृश्य रह जननी को,
दिन रात रहे हों लाल पढ़ा॥

परिणाम विशेष पवित्र हुये,
सम्यक्त्व विशेष विशुद्ध हुवा।
श्रद्धा न विशेष समृद्ध हुवा,
सद्ज्ञान विशेष प्रबुद्ध हुवा॥

अतएव श्रावकाचार-नियम-
पालन में भी उत्साह बढ़ा।
श्री 'पार्श्वनाथ' के दर्शन औ'
पूजन में भक्ति प्रवाह बढ़ा॥

करतीं न उपेक्षित किंचित् भी,
कोई भी धर्म-प्रसङ्ग कभी।
उनकी तत्परता बतलाते-
थे दिनचर्या के ढङ्ग सभी॥

प्राशुक जल के ही द्वारा वे,
प्रातः प्रति दिवस नहातीं थीं।
औ' बिना प्रयोजन चुल्लू भर,
भी पानी नहीं बहातीं थीं॥

लघु अन्तराय का कारण भी,
पाते उनके गृह सन्त नहीं।
वे रहतीं कितनी सावधान!
था इसका कोई अन्त नहीं॥

स्वयमेव स्वकर से देकर वे
सत्पात्रों को आहार मधुर।
उनकी संस्तुति में कहतीं थीं,
अति विनय भरे उद्‌गार मधुर॥

यों धर्म-प्रसङ्ग बने रहने-
से नहीं समय का भान हुवा।
आ गया बसन्त, सुशोभित अब
'त्रिशला' का राजोद्यान हुवा॥

महिषी ने देखा, बेलों का—
मलयागत पवन नचाता है।
वह उन्हें समझ कर अबला ही,
निर्भय उत्पात मचाता है॥

नव प्राण मिले हैं वन-श्री को,
मञ्जरित प्रफुल्लित आम हुये।
पा नये मौर के सौरभ को,
ये उपवन अति अभिराम हुये॥

तज शोक अशोकों के तरुवर,
सुमनावलि पाकर झूम रहे।
झुक शरणागत लतिकाओं के,
मुख मण्डल सहसा चूम रहे॥

सन्ताप-निकन्दन सुमनों से,
चित्रित चन्दन के अङ्ग हुये।
अतएव स्वयं ही तो उनके,
वन्दन में व्यस्त विहङ्ग हुये॥

मँड़राती चपल तितलियाँ भी
नव रंग बिरंगी कलियों पर।
खग-चहक रहे हर क्यारी पर,
सब कुञ्जों पर सब गलियों पर॥

पिकियों के पञ्चम गायन से,
गुंजित अवनी आकाश हुवा।
यों लगा कि ज्यों वे कहतीं हों,
अवतरित मधुर मधुमास हुवा॥

आरक्त पलाशों की छवि पर,
अनुरक्त सुकोमल कीर दिखे।
पिक आम्र-मञ्जरी का मादक,
मधु पीने हेतु अधीर दिखे॥

नव कलियाँ दिखी लताओं में,
सरसी में अभिनव पद्म दिखे।
मकरन्द पिपासु भ्रमरियों को
ये सौरभमय मधु-सद्म दिखे॥

मतवाले वानर व्यस्त दिखे,
निज उछल कूद के खेलों में।
उनको न दिखा आकर्षण था,
विटपों से लिपटी बेलों में॥

पर मधुप-लली आसक्त दिखीं,
माधवी-कली के गालों पर।
गौरय्या गाती गीत दिखीं,
विकसित कदम्ब की डालों पर॥

कुछ मधुप मल्लिका-कलिका पर
देखा, मोहित हो घूम रहे।
कुछ चारु चमेली के चञ्चल,
प्रिय चन्द्रवदन को चूम रहे॥

कुछ दिखे जुही के कुञ्जों की,
क्यारी के पास विचरते से।
कुछ देखे अलबेले बेला की,
बगिया में खेला करते से॥

सारस सरसी के सुन्दर तट—
पर करते सुख-संचार दिखे।
औ' क्रौंच स्वीय कामिनियों सँग,
करते सुखमय अभिसार दिखे॥

दिख पड़े कमलमय वापी के,
जल तल पर भेक उछलते से।
औ' दिखे बलाक बलाकी की,
ग्रीवा पर ग्रीवा मलते से॥

दिख पड़े उठाते लाभ हंस—
के मिथुन कुमुद-वन-छाया का।
दिख पड़ीं 'कपोती' आलिंगन—
करती कपोत की काया का॥

दिख पड़े जुगाली करते मृदु—
दूर्वादल पर मृग छौने भी।
औ' दिखे गिलहरी-सुत भगते
इस कोने से उस कोने भी॥

यों वहाँ प्रकृति के द्वारा जो,
बन जाती अनुपम झाँकी थी।
वह समय समय पर 'त्रिशला' के
द्वारा जाती नित आँकी थी॥

पटु दिक्कुमारियाँ भी नाना—
यत्नों से उन्हें रिझातीं थीं।
प्रति दिवस पास ही रह उनको,
मधुमास विलास दिखातीं थीं॥

वे दर्शनीय हर दृश्य उन्हें,
उत्सुकता सहित बतातीं थीं।
अवलोक जिन्हें सिद्धार्थ-प्रिया,
आह्लाद विलक्षण पातीं थीं॥

यों गये निकलते दिन सुख से,
नवमा भी मास व्यतीत हुवा।
हो रही प्रतीक्षा थी जिसकी,
वह प्राप्त मुहूर्त पुनीत हुवा॥

थी शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी,
औ, चैत्र नाम का मास अहो।
आरूढ़ उत्तरा फाल्गुनि पर,
थे चन्द्र देव सविलास अहो ॥

नक्षत्र, रोहिणी का एवं,
दिन सोमवार का योग बना।
थी सिंह लगन, ग्रह उच्च हुये,
अति शुभ मुहूर्त संयोग बना ॥

थे शुभ सूचक पञ्चांग करण,
नक्षत्र, योग, तिथि, वार सभी।
मानो शुभ हुये समझकर वे,
होगा प्रभु का अवतार अभी ॥

हो गयीं दिशाएँ भी निर्मल,
मलहीन हुआ यह व्योम सभी।
था निशिका अन्तिम समय किंतु,
नभ में ठहरे थे सोम अभी ॥

मानो, प्रभु-जन्म निरखने को—
ही रुकी हुई थी रजनी अब।
जिनवर को जनने वाली थी,
सिद्धार्थ भूप की सजनी अब ॥

निज सौरि सदन में प्रसव किया,
शुभ क्षण में 'त्रिशला' रानी ने ।
पा लिया चरित का नायक अब,
इस पावन काव्य कहानी ने ॥

शिशु-जन्म-समय वह सौरि सदन-
ही भर न अधिक अभिराम हुवा ।
उस क्षण तो तीनो लोकों का-
सब वातावरण ललाम हुवा ॥

नारकियों को भी नरकों में,
दारुण दुख से विश्राम मिला ।
निष्ठुर परिणामी जीवों को-
भी करुणामय परिणाम मिला ॥

मृगराज न सम्मुख से जाते,
निज भक्ष्य मृगों पर क्रुद्ध हुये ।
औ, नहीं परस्पर के बैरी,
अहि और नकुल में युद्ध हुये ॥

श्वानों ने देख विडालों को-
भी नहीं अल्प भी रोष किया ।
औ, अभय दान दे चूहों को,
मार्जारों ने संतोष किया ॥

बकुलों को मीन पकड़ने की,
भी नहीं हुई अभिलाष अहो।
औ' नहीं कपोतों पर झपटे,
उस क्षण कोई भी चाष अहो॥

तीतुर ने सम्मुख ही फिरती,
दीमक की ओर न लक्ष्य दिया।
औ' सरीसृपों ने कीटों को—
भी नहीं स्वयं का भक्ष्य किया॥

अलियों ने कोमल कलियों तक—
को भी न भी तनिक क्लेश दिया।
मारुत ने जल की लहरों तक—
को शोभित नहीं विशेष किया॥

तृण से सुर तक को शान्ति मिली,
सुखमय यह सारा लोक हुवा।
उस क्षण न किसी भी प्राणी को
कोई कैसा भी शोक हुवा॥

उन दयासिन्धु के जन्म समय,
हो गयी सदय हर वाणी थी।
जिन राज-जन्म कल्याणक की
बेला सब को कल्याणी थी॥

चल पड़ी दासियाँ, उन्हें नृपति—
को यह सम्वाद सुनाना था।
इस हर्ष कार्य में किंचित भी—
तो नहीं प्रमाद लगाना था॥

'सिद्धार्थ'—समक्ष पहुँचते ही'
उनने शिर प्रथम नवाया था।
उस समय स्वतः ही अन्तस् का—
आह्लाद अधर पर आया था॥

वे सभी दासियाँ ऐसे शुभ,
कार्यों में पूर्ण प्रवीणा थीं।
मधुवाणी ऐसी थी मानो,
वे ज्ञान शालिनी वीणा थीं॥

अतएव बधाई देकर वे,
कह उठीं एक ही साथ सभी।
"हे नाथ ! मनायें जन्मोत्सव,
अवतरे त्रिलोकी नाथ अभी॥

यों उनने पुत्र जनमने का
सम्वाद उन्हें सोत्साह- दिया।
अत्यन्त कुशलता से अपने,
कर्तव्यों का निर्वाह किया॥

ज्यों ज्ञात हुवा यह भूपति को,
है उनके पुत्र प्रसूत हुवा ।
तो अननुभूत आनन्द नया,
उनको तत्क्षण अनुभूत हुवा ॥

मन नाच उठा—'यह आज अहो !
कितना शुभ स्वर्ण विहान हुवा !
दिनपति से अम्बर, जिनपति से-
यह मेरा गेह महान हुवा ॥

द्रुत प्रथम दासियों को उनने,
ग्रीवा के हीरक हार दिये ।
पश्चात् अन्य भी अङ्गों के
सुन्दर स्वर्णालङ्कार दिये ॥

बस, राजमुकुट के सिवा सभी-
भूषण उनको उपहार दिये ।
तत्काल मँगा अति मूल्यवान्
परिधान अनेक प्रकार दिये ॥

कह उठीं दासियाँ 'धन्य' 'धन्य'
नृप ने ऐसा व्यवहार किया ।
वैसी न उन्हें थी आशा भी,
जैसा उनने सत्कार किया ॥

अतएव परस्पर वे नृप के
गुण गातीं हुई सहास चलीं।
राजा की भेंट दिखाने को,
अब वे रानी के पास चलीं॥

अतिशय कृतज्ञता भूपति के—
प्रति टपक रही थी अङ्गों से।
तन लदा भूषणों द्वारा था,
औ' मन था लदा उमङ्गों से॥

'सिद्धार्थ' आज सिद्धार्थ हुये,
था अतः हर्ष का अन्त नहीं।
सोत्साह करायी जन्मोत्सव—
की विधि आरम्भ तुरन्त वहीं॥

शुभ समारोह करवाने के,
सामन्तों को अधिकार दिये।
सङ्गीत, नृत्य औ' नाटक के
आयोजन विविध प्रकार किये॥

शुभ कार्य कर्मों की सब रचना,
शुभ अवसर के अनुकूल हुई।
की गयी व्यवस्था अति उत्तम,
उसमें न कहीं कुछ भूल हुई॥

आरम्भ कहीं पर नृत्य हुवा,
आरम्भ कहीं पर गान हुवा।
हर कलाकार का स्वीय कला
दिखलाने को आह्वान हुवा॥

अब चलो विलोकें 'कुण्डग्राम'
कैसा उसका शृङ्गार हुवा?
देखें कि वहाँ जन्मोत्सव का
कैसा क्या क्या संभार हुवा?

हो जाओ, प्रस्तुत शीघ्र सुहृद्।
अविलम्ब लेखनी चलती है।
देखो, जन्मोत्सव की शोभा,
कैसे छन्दों में ढलती है?

—०—

सातवाँ सर्ग

जलधारा शिर पर गिरती थी
पर कँपे वीर-भगवान नहीं।
अबला होकर भी 'त्रिशला' ने—
थी जनी अबल सन्तान नहीं॥

आ उधर गर्भ से प्राची के,
दिनकर ने व्योम सजाया था।
औ' इधर भाग्य पर अपने अब,
वह 'कुण्ड ग्राम' मुसकाया था॥

था सजा न केवल राज भवन,
सब नगर सजा बाजार सजे।
सब चौक सजे, सब मार्ग सजे,
सब गेह सजे, सब द्वार सजे॥

सब उपवन सब उद्यान सजे,
सब वृक्ष सजे सब डाल सजी।
कहने का यह सारांश वहाँ,
कण कण अवनी तत्काल सजी॥

अति कुशल शिल्पियों ने कौशल-
से नगर सजा सब डाला था।
मानों, अलका की सुषमा को,
इस 'कुण्ड ग्राम' में ढाला था॥

सर्वत्र शुक्लता सदनों पर,
चूने से गयी चढ़ायी थी।
बन्दनवारों से द्वारों की-
सुन्दरता गयी बढ़ायी थी॥

रच गये अनेक विचित्र चित्र,
भीतों पर चतुर चितेरे थे।
आँगन में चौक बना वधुओं-
ने विविध प्रसून बिखेरे थे॥

धूपायन में दी गयी जला,
थी दिव्य दशांगी धूप अहो।
रख दिये गये थे ठौर ठौर,
नव मंगल कलश अनूप अहो॥

पथ दिये गये थे सींच, अतः
उड़ती दिखती थी धूल नहीं।
एवं न मलिन हो पाते थे,
दर्शक के दिव्य दुकूल कहीं॥

शुभ अगरबत्तियाँ जलने से,
था हुवा समीर पुनीत वहाँ।
पाँचों अङ्गुलियों के थापों-
से युक्त हुई हर भीत वहाँ॥

सुन्दरतम सदनों के शिखरों-
पर ध्वजा गयीं फहरायीं थीं।
जो शीतल मन्द सुगन्ध पवन,
के झोंकों से लहरायीं थीं॥

चौराहों पर अभिनव अभिनय-
शालाएँ गयीं बनायीं थी।
जो रङ्ग बिरङ्गी मालाओं-
के द्वारा गयीं सजायीं थीं॥

ये जिनमें दर्शक मण्डल की,
सुविधार्थ सौम्य सोपान बने।
औ' धूप निवारण करने को,
थे विविध विशेष वितान तने॥

सुन सकें गीत सब, इसका भी-
पर्याप्त मनोज्ञ प्रबन्ध हुवा।
महिलाएँ पृथक् विराज सकें,
इसका भी योग्य प्रबन्ध हुवा॥

अति भव्य व्यवस्था हुई सभी,
त्रुटि का न कहीं भी भान हुवा।
अवलोक जिसे हर दर्शक के,
मन में आश्चर्य महान हुवा॥

यों किसी नागरिक ने न नगर-
की सजा हेतु प्रमाद किया।
नृप ने अत्यन्त उदार हृदय-
से सूचित निज आह्लाद किया॥

तत्क्षण ही कारागारों से,
सब बन्दी बन्धन मुक्त किये।
पिंजड़ों से कोयल, तीतुर औ'
तोता, मैना, उन्मुक्त किये॥

ऋणियों पर जितना भी ऋण था,
वह सब का सब भी त्याग दिया।
औ' नहीं किसानों से मिलने—
वाला भी कृषि का भाग लिया॥

दस दिन के लिये समस्त करों—
का लेना बन्द कराया था।
बहुमूल्य पदार्थों का भी तो,
अतिशय ही मूल्य घटाया था॥

इन सुविधाओं से लाभ हुवा—
सिद्धार्थ-राज्य में लाखों को।
नृप की उदारता देख सफल,
माना सबने निज आँखों को॥

हर याचक हेतु किमिच्छिक भी—
धनदान दिया सोल्लास गया।
आशा से बढ़कर पा लौटा,
जो याचक उनके पास गया॥

धनदान निरन्तर होने से,
निर्धनतापूर्ण विलीन हुई।
सिद्धार्थ राज्य के गृह गृह में,
लक्ष्मी देवी आसीन हुई॥

छाया प्रहर्ष का राज्य, राज्य—
से निर्वासित दुख क्लेश हुवा।
सम्पत्ति रमा पा राजा से,
हर निर्धन व्यक्ति रमेश हुवा॥

औ' यथा योग्य उपकरणों से
सम्मानित हर विद्वान हुवा।
हर गीतकार हर नृत्यकार—
का राजकीय सम्मान हुवा॥

उन्मुक्त हृदय औ' मुक्त हस्त—
से यह धनदान प्रवाह चला।
अवलोक जिसे ही जन मन गण,
नृप का औदार्य सराह चला॥

पकवान परोसे गये मधुर
हर गौ को हर गौशाला में।
मीनों को लघु मिष्टान्न बँटे,
हर सरिता में हर नाला में॥

च ओर बिखेरे गये चने,
चुगने को विविध विहंगों को।
सुस्वादु खाद्य सामग्री भी,
भिजवायी गयी कुरङ्गों को॥

नर से बढ़कर भी वानर दल—
को दिये गये फल केले थे।
वे भी इतने जितने वे,
खा सकते नहीं अकेले थे॥

'खाजा' 'खाजा' कह श्वानों को—
भी गये खिलाये खाजा थे।
निज सम्मुख चींटों चिटियों को
चीनी चँटवाते राजा थे॥

थे गये सिंचाये वृक्ष, लता
शीतल जल भर भर गगरी में।
नर से तरु तक कोई न रहा,
भूखा प्यासा उस नगरी में॥

जनता के सभी अभावों को,
नृप ने यों प्रथम भगाया था।
फिर अन्य महोत्सव करने में,
अपना शुभ ध्यान लगाया था॥

अब तक सुन्दरतम शैली से
जा चुका नगर सिंगारा था ॥
अति कुशल शिल्पियों ने उसका,
सौन्दर्य विशेष निखारा था ॥

अतएव वहाँ आरम्भ नये,
जिनवर के यश के गीत हुये।
सुन जिन्हें सभी श्रोताओं के,
युग कर्ण विशेष पुनीत हुये ॥

मधु ध्वनि से अम्बर के अञ्चल,
औ' वसुन्धरा की गोद भरी।
मारुत लहरों पर लहर गयी,
स्वर लहरी यह आमोद भरी ॥

वाद्यों से निकले नादों से,
गुञ्जित सम्पूर्ण दिगन्त हुये।
निज सपरिवार भी जिनको सुन,
प्रमुदित 'त्रिशला' के कन्त हुये ॥

तज वसन रजक हो गये खड़े,
'गण्डकी' नदी के घाटों पर।
रोगी तक राग-विमोहित हो,
उठ कर बैठे निज खाटों पर ॥

हो नाद मधुरता पर मोहित,
पशुओं ने त्यागा तृण चरना।
पनघट पर की पनिहारिन भी,
भूली गागर में जल भरना ॥

यह मधुर रागिनी सुनने का,
सबके ही मन में चाव हुवा।
सत्वर ही गान सभाओं में,
जाने का सबको भाव हुवा ॥

नीरस से नीरस अन्तस में,
स्वर-रस पीने की चाह जगी।
हर नर उत्साहित हो भागा,
हर नारी भी सोत्साह भगी ॥

ध्वनि सुन निकटस्थ तपोवन से,
भगकर आये मृग छौने सब।
कर गान-सुधा का पान, लगे-
वे अपनी सुध बुध खोने अब ॥

पुर भरा नारियों नर से औ,
पशुओं से पुर के रस्ते भरे।
सब राज मार्ग औ' चौक सभी,
मनुजों से चारों ओर भरे ॥

सबने अति श्रद्धा सहित वहाँ,
जिनवर के यश के छन्द सुने।
हो मुग्ध विलोके नृत्य नये,
औ' विविध वाद्य सानंद सुने॥

यों इधर अवनि नभ गूँज उठे,
नव जात जिनेश्वर की जय से।
औ' उधर सौरिगृह गूँज उठा,
मधु सोहर गीतों की लय से॥

गा मधुर झूमरी राग स्वयं,
कुछ नर्त्तकियाँ थीं झूम रहीं।
थीं जिनके सङ्ग विमोहित हर-
दर्शक की आँखें घूम रहीं॥

कुछ ठुमक ठुमक कर ठुमरी गा,
सोल्लास सलास ठुमकतीं थीं।
फिर जातीं फिर फिर फिरकी सी,
चपला सी चमक चमकती थीं॥

नट और नटी के नर्तन को,
आबद्ध कहीं पर डोरी थी।
जिस पर नटिनी निज नृत्य दिखा,
गा रही मधुरतम लोरी थी॥

अभिराम अखाड़े मध्य कहीं,
बलशाली मल्ल उतरते थे।
कुछ तो व्यायाम दिखाते थे,
कुछ मुष्टि युद्ध भी करते थे॥

नव नृत्य बानरी भालू के,
दिखलाते कहीं मदारी थे।
जिनको अवलोक कुतूहल से
बच्चे भरते किलकारी थे॥

परिहास प्रवीण विदूषक निज,
प्रहसन भी कहीं दिखाते थे।
दर्शक जिनकी लीलाओं से,
हँसते हँसते थक जाते थे॥

हो रही कहीं थी धर्म कथा,
होते थे सत् उपदेश कहीं।
हो रही कहीं थीं शास्त्र सभा,
होते थे पाठ विशेष कहीं॥

हो रही कहीं थी जिन पूजा,
होते थे विविध विधान कहीं।
जा रहे पढ़े थे स्तवन कहीं,
होते थे जिन गुण गान कहीं।

यों हर मन्दिर चैत्यालय में,
धर्मामृत की रसधार बही।
साक्षात् तीर्थ सी ज्ञात हुई,
तीर्थंकर की अवतार—मही॥

यों नहीं मात्र उस 'कुण्ड ग्राम'—
में ही उत्सव की धूम रही।
देवेन्द्रपुरी तक उस अवसर—
में थी उन्मद सी झूम रही॥

अतएव शीघ्र ही 'कुण्ड ग्राम'—
की ओर सुरों के नाथ चले।
गन्धर्व, अप्सरा, नर्तक, रथ,
गज, तुरग, वृषभ भी साथ चले॥

इस सात भाँति की सेना ने,
जो गमन समय जय नाद किया।
उसने हर देव तथा देवी—
के मन को अति आह्लाद दिया॥

'उर्वशी' 'मेनका' 'रम्भा' सब,
सुरराज संग सस्नेह चलीं।
निज दिव्य बधाई देने को,
सज धज 'त्रिशला' के गेह चलीं॥

आँगन में उनके आते ही,
अति चकित सभी के नेत्र हुये।
देवागम द्वारा देव धाम—
से 'कुण्ड ग्राम' के त्नत्र हुये॥

कर दिव्य देवियों का दर्शन,
हर दर्शक को आनन्द हुआ।
हर दृष्टि-भ्रमर ने तृष्णा से,
उनकी छवि का मकरन्द छुआ॥

उनने गायन औ' वाद्य सहित,
आरम्भ नृत्य व्यापार किया।
अपनी नर्तन शैली से हर,
नर-तन-मन पर अधिकार किया॥

उनके नैपुण्य समेत किसी—
ने अपना पुण्य सराहा था।
निज पुण्य समेत किसी ने तो,
उनका नैपुण्य सराहा था॥

निज पूत रूप में 'जगत्पिता'—
को पाकर रानी पूत हुई।
प्रभू के प्रभवन से राजा की,
प्रभुता, प्रभु-शक्ति प्रभूत हुई॥

यह सोच चढ़ाने आये थे,
सुर श्रद्धा के दो फूल उन्हें।
विभु की पूजा भी करनी थी,
निज वैभव के अनुकूल उन्हें॥

पर प्रभु-दर्शन की प्रबल चाह—
थी जगी शची के दृग-मन में।
अतएव नहीं वे अधिक रुकीं,
सिद्धार्थ-भूप के आंगन में॥

जा गुप्त रूप से सौरि सदन—
में अवलोका जिन माता को।
उनके समीप में ही लेटे,
नव युग के नव निर्माता को॥

उन दोनों का दर्शन कर उनका
मन फूला नहीं समाता था।
उन नव कुमार के लेने को,
उनका करतल ललचाता था॥

अतएव जिनेश्वर की जननी—
को सुला दिया द्रुत माया से।
शिशु अन्य लिटाया मायामय,
चिपटा कर उनकी काया से॥

फिर मृदु हथेलियों में उनने,
वह सद्यः जात कुमार लिया।
निज लोचन चषकों से उनका,
रूपामृत बारम्बार पिया ॥

पश्चात् उन्हें ले सौरि-सदन,
से बाहर वे सामोद चलीं।
कुछ नहीं किसी को ज्ञात हुवा,
वे प्रभु से भर निज गोद चलीं ॥

जिनपति का दर्शन कर सुरपति-
का भी अन्तस्तल मोहा था।
तत्काल शची से बालक ले,
सुरपाल अधिकतम सोहा था ॥

अब जिनवर का अभिषेकोत्सव,
करने की उन्हें उमङ्ग हुई।
सत्वर 'सुमेरु' की ओर चले,
सुर-सेना उनके सङ्ग हुई ॥

सब देव जिनेश्वर का तन ही,
अब बारम्बार निरखते थे।
वे निर्निमेष निज नयनों से,
उनका रूपामृत चखते थे ॥

जिनेन्द्र को लेकर इन्द्राणी का निर्गमन

पश्चात् उन्हें ले सौरि सदन,
से बाहर वे सामोद चलीं ।
कुछ नहीं किसी को ज्ञात हुवा,
वे प्रभु से भर निज गोद चलीं ॥

(पृष्ठ २१

उन वीतराग का दर्शन कर—
भी सबके मन में राग हुवा।
उन महा भाग के भाग्योदय—
में सब का कुछ कुछ भाग हुवा॥

थे गोद लिये 'सौधर्म नाम—
के सुरपुर के सुरराज उन्हें।
'ईशान' स्वर्ग के इन्द्र स्वयं—
थे छत्र लगाये आज उन्हें॥

सित चमर डुराते 'सानत्' औ,
'माहेन्द्र' स्वर्ग के राजा थे।
थीं नाच रहीं किन्नरियाँ औ,
गन्धर्व बजाते बाजा थे॥

मङ्गलमय गीतों को गातीं,
चल रहीं सङ्ग इन्द्राणी थीं।
सोल्लास निकलती सब देवों—
के मुख से 'जय' 'जय' वाणी थी॥

पर उधर कहाँ क्या होता है?
यह नहीं जानतीं रानी थीं।
उनने क्या! नहीं किसी ने भी,
यह बात अभी तक जानी थी॥

औ' इधर सभी वे उस 'सुमेरु'
के 'पाण्डुक' वन को देख रुके।
थे जहाँ अनेक जिनेन्द्रों के
हो पुण्य जन्म-अभिषेक चुके ॥

अभिषेक प्रसाधन प्रस्तुत थे,
उस अवसर के अनुरूप वहाँ!
थी पाण्डुक शिला बनीं जिसपर,
सिंहासन था मणि रूप वहाँ ॥

उस पर ही गये विराजे थे,
वे तीर्थंकर भगवान अहो।
औ' अगल बगल सुरनायक थे,
'सौधर्म' और 'ईशान' अहो ॥

ध्वज, छत्र, चमर, घट, मुकुर, व्यजन,
ठौना औ' झारी नाम मयी।
इन आठों मङ्गलमय द्रव्यों—
से हो वह शिला ललाम गयी ॥

इस सब उत्सव के केन्द्र बिन्दु,
'त्रिशला' के राज दुलारे थे।
उनके ही लिये सुरों ने ये,
उपकरण जुटाये सारे थे ॥

बज रहे दुन्दुभी बाजे थे,
कर रहीं सुरी थीं लास मधुर।
हो रही व्याप्त थी मण्डप में,
कालागुरु की शुभ वास मधुर॥

'सौधर्म' इन्द्र ने निज कर में,
अब प्रथम कलश सोल्लास लिया।
ईशान इन्द्र ने भी वैसा-
ही अन्य कलश सविलास लिया॥

उस समय वहाँ जो हर्ष हुवा,
वह जा सकता किस भाँति लिखा ?
सब वर्णन वह ही लिख सकता,
जिसको वह सब प्रत्यक्ष दिखा॥

पर वर्णन कल्पित मत मानें,
सब कुछ सम्भव सुर-लीला को।
चाहे तो क्षण में सोने का-
कर दें मिट्टी के टीला को॥

आरम्भ हुई अभिषेक क्रिया,
पर प्रभु को पहुँचा क्लेश नहीं।
पाठको ! हमारे से निर्बल-
थे उनके देह-प्रदेश नहीं॥

जल धारा शिर पर गिरती थी,
पर कँपे वीर भगवान नहीं।
अबला होकर भी 'त्रिशला' ने—
थी जनी अबल सन्तान नहीं॥

प्रभु के तन पर गिर वह पवित्र,
जल राशि विशेष पवित्र हुई।
निज सँग अशोक दल गिरने से,
उसकी छवि चित्र विचित्र हुई॥

अष्टाधिक एक सहस्र कलश—
से यों अभिषेक विशाल हुये।
पर नहीं अल्प भी क्षोभित वे,
'त्रिशला' माता के लाल हुये॥

फिर देवों द्वारा चन्दनादि—
की अग्नि जलायी शुद्ध गयी।
जिसकी पावनतम ज्वाला में,
डाली भी धूप विशुद्ध गयी॥

पश्चात् इन्द्र ने अष्ट द्रव्य—
से पूज पूर्ण अभिषेक किया।
तदनन्तर उन शुभ परम ज्योति'—
को गोदी में सविवेक लिया॥

इन्द्राणी ने उनके तन पर,
शुचि लेप भक्ति के साथ किया।
औ' तिलक लगा कर अति शोभित,
उन 'लोक तिलक' का माथ किया॥

'त्रैलोक्य मुकुट' उन प्रभुवर के,
मस्तक पर मुकुट पिन्हाया फिर।
उन जग के चूड़ामणि के शिर–
पर चूड़ामणी लगाया फिर॥

नयनों में अञ्जन आँजा पर,
वे नहीं अल्प भी लुब्ध हुये।
कर्णों में कुन्डल पहिनाये,
पर वे न अल्प भी लुब्ध हुये॥

मणिहार कण्ठ में डाला पर,
उससे न उन्हें कुछ क्षोभ हुवा।
कटि में कटि सूत्र पिन्हाया पर,
उसका न उन्हें कुछ लोभ हुवा॥

शृंगार शची ने पूर्ण किया,
पर हुवा नाथ को त्रास नहीं।
भय भय के मारे आया था,
उन निर्भय प्रभु के पास नहीं॥

प्रभु-काया स्वतः मनोहर थी,
अब और मनोहर शात हुई।
उसकी सुषमा सुरनायक को-
भी तो विस्मय की बात हुई॥

इससे उनने संख्या सहस्र
की तत्क्षण अपनी आँखों की।
पर समझा इस छवि-दर्शन को,
पर्याप्त न आँखें लाखों भी॥

उन 'परम ज्योति' की काया की-
सुन्दरता का था अन्त नहीं।
अतएव तृप्त हो पाये थे,
वे इन्द्राणी के कन्त नहीं॥

उनने श्रद्धा से गद्गद हो,
संस्तुति करते इस भाँति कहा।
'हे नाथ! जगत के सब जीवों-
को सुखद आपका जन्म अहा॥

ले गोद आपको धन्य हुई-
है आज हमारी गोद प्रभो।
औ' मना जन्म कल्याणक यह,
हो रहा हमें अति मोद प्रभो॥

अभिषेक आपका कर जल से
हो गयी पूर्ण, जो चाह रही।
श्रृंगार आपके तन का कर,
इन्द्राणी भाग्य सराह रही॥

हे विभो ! हमारी गिरा सफल,
हो गयी आपकी 'जय' 'जय' कह।
हो गया आपके आगम से,
पावन 'सुमेरु' गिरि निश्चय यह॥

पर्याप्त समय हो चुका, इसी--
क्षण 'कुण्ड ग्राम' को जाना है।
अतएव यहाँ अब और अधिक,
दो क्षण भी नहीं लगाना है॥"

यह कह 'ऐरावत' पर उनने,
प्रभु को बैठा प्रस्थान किया।
अविराम पहुँच कर 'कुण्ड ग्राम',
राजाङ्गण शोभावान किया॥

द्रुत इन्द्राणी ने रानी की,
निद्रा हर बालक सौंप दिया।
औ कहा—"न व्यापे पुत्र-विरह,
इससे मैंने यह छद्म किया॥

जगवन्द्य आप हैं क्योंकि आप--
ने जग को यह जगदीश दिया।
योगीश योगियों हेतु दिया॥
विद्वानों को वागीश दिया॥

अभिषेक हेतु यह छद्म हुवा,
इसमें न आप सन्देह करें
इन 'परम ज्योति' की पुण्य ज्योति
से ज्योतिर्मय निज गेह करें॥

यह कह इन्द्राणी मौन हुई,
सुन रानी को आनन्द हुआ।
आओ। अब देखें सुरपति का—
जो नाट्य वहाँ सानन्द हुवा॥

——·—

आठवाँ सर्ग

लगता था, धर्म स्वयं उनके
मन वचन कर्म पर बसता है।
औ' जन्म काल से ही जीवन—
संगिनी बनी समरसता है॥

होगा सुरपति का नाटक यह-
चर्चा बिजली सी फैल गयी।
क्षण भर में राजभवन से यह,
हर मार्ग गयी हर गैल गयी॥

जो व्यक्ति जहाँ पर जैसे थे
वे शीघ्र वहाँ से भाग चले।
द्विज पोथी पत्रा छोड़ चले,
क्षत्रिय असि, बरछी त्याग चले॥

निज ग्राहक तज कर वैश्य भगे,
औ' शूद्र चाकरी तज भागे।
सब यही सोचते थे कैसे-
मैं पहुँचूँ सबसे ही आगे॥

वधुएँ उतावली में अपने,
शिशु तक तो लेना भूल गयीं।
कुछ भूषण उलटे पहिन गयीं,
कुछ उलटे पहिन दुकूल गयीं॥

कटिसूत्र मेखला का भी तो,
कुछ समझ सकीं थीं भेद नहीं।
काजल का तिलक लगा कर भी,
कुछ को न हुवा था खेद कहीं॥

थीं बनी दर्शिका, दर्शनीय—
पर बन उनके ही भेष गये।
था बँधा घाँघरा चोटी से,
नीवी से बाँधे केश गये॥

यों सजकर गयीं युवतियाँ थीं,
सज्जित हो युवक समाज गया।
कारण, था उसका जन्म विफल,
जो नहीं वहाँ था आज गया॥

भर गया अखिल राजाङ्गण था,
जनता अब नहीं समाती थी।
पर दृष्टि जहाँ तक जाती थी,
आती ही भीड़ दिखाती थी॥

कुछ ही क्षण में अति शीघ्र वहाँ,
लग गया विलक्षण मेला था।
मानो नर गति के चित्रों का
संकलन हुवा अलबेला था॥

निश्चित क्षण में सुरपति का वह,
नाटक आरम्भ समोद हुवा।
जिससे शिक्षा भी मिली, साथ—
ही सात्विक मनोविनोद हुवा॥

हो चित्र लिखित से देख रहे—
थे सारे दर्शक मौन वहाँ।
यह नहीं किसी को चिन्ता थी,
हैं मेरे परिजन कौन कहाँ?

प्यारी प्यारे को भूली थी,
प्यारे का भूली प्यारी थी।
बेटा भूला महतारी को,
बेटा भूली महतारी थी॥

पलकें न एक भी बार गिरें,
सब का था मात्र प्रयास यही।
कारण ऐसा सौभाग्य पुनः
मिलने का था विश्वास नहीं॥

बस, यही सोचकर सब ही ने,
सुस्थिर अपना हर योग किया।
मन वचन काय में से न किसी—
का भी अन्यत्र प्रयोग किया॥

सब सुरपति कृत अभिषेकोत्सव—
के दृश्य समक्ष निरखते थे।
अवलोक जिन्हें यों लगता था,
मानों प्रत्यक्ष निरखते थे॥

देखा, कैसे उस सौरि सदन—
से बाहर वे जिनराज गये।
देखा, कैसे 'ऐरावत' पर,
बैठा कर ले सुरराज गये॥

अभिषेक-अनन्तर कैसे सब,
शृंगार किया इन्द्राणी ने?
कैसे आये वे 'कुण्ड ग्राम?
यह सब देखा हर प्राणी ने॥

सुरपति ने प्रभु के पूर्व जन्म—
दिखलाना फिर आरम्भ किया।
वे किस किस गति में हो आये?
बतलाना यह प्रारम्भ किया॥

दिखलाया, पिछले भव में ये,
'पुरुरवा' भील कहलाये थे।
मुनि के सम्मुख तज मांस जन्म—
'सौधर्म' स्वर्ग में पाये थे॥

पश्चात् 'भरत' के सुत हो ये,
उस समय 'मरीचि' कहाये थे।
कर सांख्य-प्रचार वहाँ, पञ्चम—
ब्रह्माख्य स्वर्ग में आये थे॥

आ पुनः वहाँ से 'कपिल' नाम—
के ब्राह्मण को सन्तान हुये।
वय पाने पर परिव्राजक हो,
सुर पुर में देव महान हुये॥

तदनन्तर 'भारद्वाज'-भवन—
में पुत्र रूप में आये थे।
हो सांख्य यती वे जन्म पुनः
'सौधर्म' स्वर्ग में पाये थे॥

पश्चात् यहाँ आ पुत्र रूप—
में 'अग्निभूति' के गृह जनमें।
हो साधु पुनः उत्पन्न हुये,
वे स्वर्गलोक के आँगन में॥

फिर इनने 'गौतम' ब्राह्मण के—
गृह में आकर अवतार लिया।
कर सांख्य प्रचार यहाँ भी तो,
फिर सुरपुर का शृङ्गार किया॥

ले जन्म 'साङ्कलायन' के गृह
अति पावन उसका धाम किया।
कर ग्रहण त्रिदण्डी दीक्षा फिर
ब्रह्माख्य स्वर्ग अभिराम किया॥

पर सुरपुर से भी तो 'नगोद'
में ले इनका दुर्भाग्य गया।
एकेन्द्रिय काय वनस्पति में,
ले आया फिर सौभाग्य नया ॥

पश्चात् 'राजगिरि' नगरी में,
'शाण्डलि' के विप्रकुमार हुये।
'माहेन्द्र' नाम के सुरपुर में,
जाकर फिर देवकुमार हुये ॥

कर आयु पूर्ण फिर 'विश्वभूति'
राजा के राजकुमार हुये।
तप के प्रभाव से फिर दसवें-
सुरपुर के ये शृङ्गार हुये ॥

जनमे 'पोदनपुर'-राजा के,
नारायण पद अभिराम मिला।
पर विषयलीनता से फिर से,
सातवें नरक का धाम मिला ॥

गङ्गा तट के 'वनिसिंह' अचल-
में इनको सिंह-शरीर मिला।
हिंसा-फल से फिर प्रथम नरक-
की वैतरिणी का नीर मिला ॥

तदनन्तर 'हिमगिरि' पर इनको,
वनराज-देह का लाभ हुवा ।
सम्यक्त्व यहाँ पा स्वर्ग गये,
सुर 'सिंह केतु' अमिताभ हुवा ॥

फिर जनमे 'पंख' खगेश्वर के,
'कनकोज्वल' नाम ललाम हुवा ।
तप तप कर देह तजी, इनसे-
शोभित 'लानत्व' सुरधाम हुवा ॥

फिर 'अवधपुरी' में 'वज्रसेन'-
औ' 'शीलवती' के लाल हुये ॥
कर पुनः समाधि मरण, दसवें-
सुरपुर में देव विशाल हुये ॥

फिर 'पुण्डरीकिणी' में इनको,
चक्री का पद सविलास मिला ।
जिसको तज कर तप तपने से,
द्वादशम स्वर्ग में वास मिला ॥

पश्चात् 'नन्दिवर्धन' नृप के,
सुत हुये 'नन्द' शुभ नाम हुवा ।
तीर्थंकरत्व बँध गया, पुनः-
शोभित 'अच्युत' सुरधाम हुवा ॥

इस समय वहीं से आकर यह,
त्रिशला-गृह किया पुनीत अहा।
यों सबने देखा, कैसा इन-
प्रभुवर का अखिल अतीत रहा॥

अवलोक पूर्वभव उनके सब,
मन में आनन्द अपार हुवा।
समझा, कितने भवधारण कर,
यह तीर्थंकर-अवतार हुवा !

तदनन्तर ही आरम्भ किया,
सुरपति ने ताण्डव नृत्य स्वयं।
अवलोक जिसे हर दर्शक ने,
निज दृग माने कृतकृत्य स्वयं॥

अति भावपूर्ण मुद्राओं मय,
इस ओर नृत्य व्यापार चला।
उस ओर हरेक प्रशंसाकर,
मन ही मन बारम्बार चला॥

जो नर्तन करते दिखते थे,
क्षण पूर्व एक सुरपाल वहाँ।
वे वैसे ही होकर अनेक,
दिखने लगते तत्काल वहाँ॥

कुछ किन्नरियाँ भी तो नर्तन—
करतीं थीं उनके पास वहीं।
कुछ महिला मण्डल के सम्मुख,
थीं नाच रहीं सोल्लास वहीं॥

भू पर नर्तन करने वाली,
उड़ दिखने लगती अम्बर में।
फिर वही नाचने लगती थी,
अवनी पर आकर क्षण भर में॥

कुछ तड़ित् रूप में नर्तन कर,
नयनों को अधिक लुभातीं थीं।
कुछ इन्द्र-अँगुलियों पर स्वनाभि—
रङ्ग नचतीं हुईं दिखातीं थीं॥

उनके इस कौशल से सबने,
स्वर्गीय सुखों का भान किया।
नरगति में रहते हुये सुरों—
के अति सुख का अनुमान किया॥

इस इन्द्र-प्रदर्शित नर्तन ने,
हर मन पर पूर्ण प्रभाव किया।
कुछ ने तो अधिक प्रभावित हो,
सुर बनने तक का भाव किया॥

पर राज दम्पती को सब से,
बढ़ हर्ष हुवा अनुभूत अहो।
कारण, इस सभी महोत्सव का,
कारण था उनका पूत अहो॥

'सिद्धार्थ'—मोद का आज नहीं,
कोई भी तो परिमाण रहा।
अवलोक जन्म कल्याणक को,
माना उनने कल्याण महा॥

अपना मातृत्व विशेष सफल,
माना था 'त्रिशला' माता ने।
निज माता उन्हें बनाया था,
नव युग के नव निर्माता ने॥

इससे सुख से उन दोनों का,
मन फूला नहीं समाता था।
सुर पूज्य नरोत्तम से उनका,
अत्यन्त निकट का नाता था॥

नाती स्वरूप पा तीर्थंकर,
'चेटक' को हुवा प्रमोद स्वयं।
सोचा, 'त्रिशला' का पूत खिला,
मैं पूत करूँगा गोद स्वयं॥

वह ताण्डव नृत्य निरखने की,
सबको थी और उमङ्ग अभी।
सब चाह रहे थे, यह नर्तन—
क्रम चले, न होवे भङ्ग अभी॥

पर उनकी चाह अपूर्ण रही,
क्रमशः नर्तन-गति मन्द हुई।
औ' गन्धर्वों के वाद्यों की,
ध्वनियाँ भी क्रमशः बन्द हुईं॥

प्रायः समाप्त सा ही था अब,
देवों का नियत नियोग सभी।
पर चित्र लिखित से खड़े हुये—
थे अभी वहाँ पर लोग सभी॥

हाँ, अभी इन्द्र को तीर्थंकर—
का पुण्य नाम भी रखना था।
जो भी तो हर नर-नारी को,
श्रद्धा से अभी निरखना था॥

तत्काल 'वीर' इस संज्ञा से,
शोभित वे जिन राज हुये।
यों निज नियोग कर पूर्ण सभी,
गमनोद्यत वे सुरराज हुये॥

गन्धर्व—अप्सरा—नर्तक सँग,
वे सुरपुर के सम्राट् चले।
अब यहाँ नरों के द्वारा कृत,
जन्मोत्सव विविध—विराट चले॥

जिनको विलोक कर लोचन निज,
सफलित मानेहर प्राणी ने।
पर जिनके सारे वर्णन में,
ली मान हार कवि वाणी ने॥

ऐसे अनेक आयोजन थे,
चलते रहते दिन रात वहाँ।
सम्बन्धी आते रहते थे,
ले ले सुन्दर सौगात वहाँ।

आते ही प्रथम बधाई सब,
देते थे राजा रानी को
फिर अपलक देखा करते थे,
उन भावी केवल ज्ञानी को॥

कारण, न विलोका था कोई,
बालक इतना अभिराम कहीं।
लगता था त्रिभुवन की सुषमा—
ने बना लिया हो धाम यहीं॥

नख से लेकर शिख तक के सब,
अङ्गों का रूप निराला था।
पर निर्विकार मुख मण्डल तो,
अत्यन्त मोहने वाला था ॥

जिसने भी दर्शन किया, उसी—
ने अपनी दृष्टि सराही थी।
उन 'परम ज्योति' से निज गोदी
ज्योतिर्मय करनी चाही थी ॥

'सिद्धार्थ' सदृश ही था उनके,
नयनों भौंहों का रूप अहो।
पर अधर, भाल, हनु लगते थे,
'त्रिशला' के ही अनुरूप अहो ॥

उनके तन की कोमलता की—
उपमा के योग्य सरोजन थे—
उन जैसी सुन्दर अन्य वस्तु—
की कवि कर सकते खोज न थे ॥

हर समय विहँसते रहते थे,
वे नहीं कभी भी रोते थे।
चिन्तित जन उनका दर्शन कर,
अपनी चिन्ताएँ खोते थे ॥

शुभ नियत समय पर जात कर्म—
सम्पन्न सविधि सोल्लास हुवा।
फिर चन्द्र, सूर्य के दर्शन का,
भी शुभ उत्सव सविलास हुवा॥

दस दिन तक यों ही महोत्सवों—
के ये अभिराम प्रवाह चले।
अवलोक जिन्हें आबाल-वृद्ध,
अपना सौभाग्य सराह चले।

वह 'कुण्ड ग्राम' ही नहीं, अपितु—
थी सजी पुरी 'वैशाली' भी।
वह थी निसर्ग से सजी किन्तु,
अब हुई विशेष निराली ही॥

बारहवें दिन 'सिद्धार्थ' नृपति—
ने सबका किया निमन्त्रण था।
प्रिय सुहृद्-स्वजन-सामन्तों से,
भर गया सकल राजाङ्गण था॥

नृप ने भोजन ताम्बूल वसन—
से सबका अति सत्कार किया।
तदनन्तर सबके सम्मुख यों,
घोषित निज उद्गार किया॥

"यह पुत्र गर्भ में आते ही,
मम कुल में वैभव कोष बढ़ा।
धन धान्य स्वर्ण की वृद्धि हुई,
औ' गोधन का भी घोष बढ़ा॥

इससे ही इसको 'वर्धमान'
कहना उपयुक्त दिखाता है।
कारण, गुण के ही सदृश नाम,
भी रखना मुझको भाता है॥

यदि मेरा सोचा हुवा नाम,
यह आप सभी को उचित लगे।
सबको ही इसका उच्चारण—

करना प्रिय एवं ललित लगे॥

औ' अर्थ व्याकरण द्वारा भी
यह सबको सार्थक जान पड़े।
निर्दोष कहें यदि इसको सब,
इस परिषद् के विद्वान् बड़े॥

तो नामकरण हो इसका यह,
जो मैंने अभी सुझाया है।
अब सब दें अपनी सम्मति यदि
यह नाम सभी को भाया है॥"

इतना कह नृप चुप हुये, सभी—
ने कहा—"नाम यह सुन्दरतम।
हो 'वर्धमान' ही नाम करण,
करते समोद अनुमोदन हम।।

सब की सहमति पा नामकरण—
हो गया, सभी सन्तुष्ट हुये।
वे 'वर्धमान' संवर्धित हो,
क्रमशः अतिशय परिपुष्ट हुये।।

वय संग हुई थी वर्धमान,
उनके तन की सुन्दरता अब।
थे मति, श्रुति, अवधि जनमते ही,
पर इनमें हुई प्रखरता अब।

सित चन्द्रकला सा उनका नित—
बढ़ना सबको सुखदाता था।
उन 'वर्धमान' के वर्धन से,
नृप-वैभव बढ़ता जाता था।।

उनकी परिचर्या हेतु नियत—
थी पाँच धात्रियाँ, दास कई।
खेला करते थे बाल मित्र,
हर समय उन्हीं के पास कई।।

वे सदा प्रफुल्लित रहते थे,
मुख होता कभी उदास न था।
सुर पुर से आने के कारण,
रोने का भी अभ्यास न था॥

इससे ही उन्हें खिलाने में,
थकती न एक भी दासी थी।
खो देती उनकी सुस्मिति में,
हर दासी निजी उदासी थी॥

क्रमशः निज कोमल घुटनों के—
बल चलने वे जगदीश लगे।
प्रिय मधुर वाक् में कहने निज
भावों को वे वागीश लगे॥

जिस दिन 'त्रिशला' ने प्रथम बार
उनको भूपर चलते देखा।
उस दिन की उनकी पुलकन का
कवि आज लगाये क्या लेखा!

उनका संस्पर्शन तक तत्क्षण,
आमोद विलक्षण देता था।
इससे समोद ही गोद उन्हें,
हर सजन परिजन लेता था॥

वे जो क्रीड़ाएँ करते, वे-
होतीं निर्मल निर्दोष सभी।
मानो शैशव में ही उनको-
था मिला ज्ञान का कोष सभी॥

वैभव की गोदी में पलने-
पर भी तो उनमें दम्भ न था।
प्रिय अधिक परिग्रह था न उन्हें,
रुचता भी अति आरम्भ न था॥

वे सदा सामने की धरणी-
को देख चरण निज धरते थे।
औ' नहीं किसी भी बाल मित्र-
के सङ्ग कलह वे करते थे॥

उनके मुख से कटु शब्द कभी,
सुन पायी कोई धाय नहीं।
औ' उन्हें किसी के सङ्ग कभी,
करते देखा अन्याय नहीं॥

वे किसी वस्तु के पाने को-
भी नहीं कदापि अधीर दिखे।
निज शैशव में भी वृद्धों सम,
अतिधीर वीर गम्भीर दिखे॥

था गया जन्म में नाम धरा,
फिर धरा किसी ने नाम नहीं।
पाया न किसी भी बालक में,
उन सम स्वभाव अभिराम कहीं॥

उठते थे उनके अन्तस् में,
शुभ उच्च विचार पुनीत सदा।
अतएव हीनता का अनुभव,
उनमें होता न प्रतीत कदा॥

जो बने किसी को दुख कारक,
रुचता वह मनो विनोद न था।
जो बने किसी का सुखहारक,
भाता ऐसा आमोद न था॥

वे नहीं तोड़ते कलियाँ तक,
निष्फल न बहाते पानी तक।
करते न कभी विकथाएँ तक,
कहते न असत्य कहानी तक॥

उन पुण्यवान् को छू न सका-
था साधारण भी पाप कदा।
उनकी चेष्टाएँ सब शुभ,
होतीं थीं अपने आप सदा॥

हिंसात्मक वृत्ति न सपने में-
भी आती उनके पास कभी।
वे चरणों से न कुचलते थे,
उद्यानों की भी घास कभी॥

निपुणों के बिना सिखाये ही,
उनमें आया नैपुण्य अहो।
गुणियों से शिक्षा लिये बिना
वे हुये स्वयं ही गुण्य अहो॥

उनकी वय के ही सङ्ग स्वयं,
सम्यक्त्व ज्ञान भी बढ़ता था।
उनके तन के ही सङ्ग स्वयं,
संयम ऊपर को चढ़ता था॥

लगता था, धर्म स्वयं उनके,
मन वचन कर्म पर बसता है।
औ' जन्म काल से ही जीवन-
सङ्गिनी बनी समरसता है॥

जन देख सुरुचि उनकी अँगुली-
निज दाँतों तले दबाते थे।
एवं दयालुता देख सभी,
आश्चर्य चकित रह जाते थे॥

अतएव अल्प वय में भी वे,
प्रख्यात, प्रवीण, प्रबुद्ध हुये।
जिसने भी उनका दर्श किया,
उसके परिणाम विशुद्ध हुये॥

उनके समक्ष आ जाते ही,
विभ्रम संशय सब भगता था।
सुस्पष्ट विषय हो जाता था,
सत्यार्थ ज्ञान भी जगता था॥

वे एक बार निज मित्र जनों-
के सङ्ग खेलते थे निर्भय।
इतने में आये दो चारण,
मुनिनायक 'संजय' और 'विजय'॥

इनको जीवों के पुनर्जन्म-
में था विभ्रम का मान हुवा।
उनका यह संशय हरने में,
असफल था हर विद्वान हुवा॥

पर 'वर्धमान' के दर्शन का,
उन पर अति प्रबल प्रभाव हुवा।
मति का भ्रम मिटा, मिली सन्मति,
सुस्पष्ट स्वयं सब भाव हुवा॥

यह दे उन्होंने 'वर्धमान'—
का नाम सभक्ति रखा 'सन्मति ।
निःसंशय हो फिर चले गये,
गन्तव्य दिशा को दोनों यति ॥

इस घटना से अति मुदित हुये,
'सिद्धार्थ' पिता, त्रिशला' माता ।
प्रायः यों सुत का पुण्य निरख,
दोनों का अन्तस् हर्षाता ॥

यों क्रमशः बढ़ कर आठ वर्ष—
के अब वे 'वीर' कुमार हुये ।
लो, देखो, देव-परीक्षा-नद,
किस कौशल से वे पार हुये ॥

———

नवाँ सर्ग

विद्यालय में बिना प्रविष्ट हुये,
विद्या वारिधि वे 'वीर' हुये।
गुरु बिना 'जगद्गुरु बने तथा,
जिन धर्म-धुरंधर-धीर हुये ॥

निज देव-सभा में एक दिवस,
सुख से देवेन्द्र विराजे थे।
अप्सरीं नाचती थीं सम्मुख,
बजे रहे मधुरतम बाजे थे॥

संगीत सुधा रस पीने को,
बैठी भी इन्द्राणी थीं।
औ' अन्य देवियों देवों संग,
सुन रहीं गीत की वाणी थीं॥

कुछ समय अनन्तर ही गीतों-
की गति पर पूर्ण विराम लगा।
औ' पारस्परिक सुचर्चा से,
मुखरित होने वह धाम लगा॥

सुरपति ने बालक 'सन्मति' की
सन्मति औ' शक्ति सराही थी।
सुन जिसे परीक्षा 'सङ्गम' सुर-
ने उनकी लेनी चाही थी॥

अतएव पहुँच कर 'कुण्ड ग्राम'
एवं निज सर्प शरीर बना।
वह आया वहाँ जहाँ क्रीड़ा-
करते थे वे गम्भीर मना॥

वे मित्रों सँग जिस पर वट पर चढ़,
थे खेल रहे सोल्लास वहाँ।
फुङ्कार छोड़ते हुये फणी,
पहुँचा उस वट के पास वहाँ ॥

औ' तरु की जड़ से लिपट गया,
फण को फैला सविलास लिया।
अपनी भीषण फुङ्कार सहित,
आरम्भ छोड़ना श्वास किया ॥

ज्यों ही उस अहि पर दृष्टि पड़ी,
सब सहचर चिन्तालीन हुये।
आमलिकी क्रीड़ा भूल गयी,
मुख मण्डल महा मलीन हुये ॥

हो गये रोंगटे खड़े तथा,
भय से विशेष संक्लेश हुवा।
इतने में उनकी ओर स्वयं,
ही उन्मुख वह उरगेश हुवा ॥

ज्यों उसकी लोहित-हित लोलुप,
लपलप जिह्वा को अवलोका।
त्यों लगे सोचने, कैसे अब-
इसका प्रहार जाये रोका ?

पर इस अवसर में उनके सब,
कौशल साहस का लोप हुवा।
औ' इधर काल के जैसा ही,
इस काल नाग का कोप हुवा ॥

इससे अब उनके अन्तस् में,
भीषणतम अन्तर्द्वन्द हुवा।
जीवन की आशा क्षीण हुई,
श्वासों का गति कम मन्द हुवा ॥

अब मात्र पलायन-वृत्ति उचित,
समझी उन सभी सखाओं ने।
तत्काल कूदते हुये उन्हें,
देखा दिग्पाल दिशाओं ने ॥

भू पर गिरते ही उठे तथा,
भागे नगरी की ओर सभी।
भय से न किसी ने मुड़कर भी,
देखा पीछे की ओर अभी ॥

पर 'वर्धमान को उनकी यह,
कायरता अति निस्सार लगी।
इससे सुन्दर उनको इस,
फणधर की ही फुङ्कार लगी ॥

व्यापा न उन्हें भय किंचित भी,
सुस्थिर उनका उत्साह रहा।
उस विषधर को करना परास्त,
ही उनका मन था चाह रहा॥

अतएव उतर कर वे उसके,
फण पर निर्भय आसीन हुये।
जननी की शय्या सम उस पर,
क्रीड़ा करने में लीन हुये॥

मित्रों को पुनः बुलाते वे,
अपने दोनों ही हाथों से।
बोले-मित्रो ! क्यों भययुत हो,
भगते इस भाँति अनाथों से?

मेरे रहते तुम पर विषधर,
कर सकता कभी प्रहार नहीं।
देखो परास्त कर दिया इसे,
अब यह सकता फुङ्कार नहीं॥

फण नहीं हिला यह पाता है,
सुस्थिर है अतिशय हीन बना।
हो गया कोप का लोप तथा,
अब यह मेरे आधीन बना॥

देव-परीक्षा

अतएव उतर करवे उसके,
फण पर निर्भय आसीन हुये।
जननी की शय्या सम उस पर,
क्रीड़ा करने में लीन हुये ॥

(पृष्ठ २४८)

मम भार स्वतन पर होने से,
इसका मन अतिशय क्षुब्ध हुवा।
लगता है ऐसा जैसे वह
हो मम साहस पर लुब्ध हुवा॥

अतएव लौट अब आओ सब
देगा न तुम्हें यह त्रास यहाँ।
यह सुन कर सहचर लौट तुरत,
आ गये वीर के पास वहाँ॥

ये 'वीर' नाम के वीर नहीं,
यह 'संगम' सुर को ज्ञात हुवा।
उनका गुरु भार सहन करने—
में अक्षम उसका गात हुवा॥

यह नहीं सहन कर पाता अब,
यह देख 'वीर' वे उतर पड़े।
औ' बोले—'भागो शीघ्र उधर,
मन अभी तुम्हारा जिधर पड़े॥"

यह सुनते ही निज देव—रूप—
में परिवर्तित वह उरग हुवा।
कुछ समय पूर्व का काल नाग,
सुर रूप सुदर्शन सुभग हुवा॥

औ' बोला—वीर शिरोमणि ! तव
चरणों में शीश झुकाता हूँ।
मैं यहाँ परीक्षक बन आया,
औ' बना प्रशंसक जाता हूँ॥

सुन तव सराहना सुरपति से,
सुर पुर से था तत्काल चला।
तव शक्ति—परीक्षा लेने को,
ही था मैं ऐसी चाल चला॥

पर तव बल सिद्ध सुरेश्वर के—
कहने के ही अनुकूल हुवा।
औ' शक्ति—परीक्षा लेने का
मेरा सारा मद धूल हुवा॥

तुम 'वीर' नहीं हो 'महावीर'
मैं यह ही नाम रखाता हूँ।
जो भूल हुई वह क्षमा करें,
अब निज निवास को जाता हूँ॥"

यों उसने 'सन्मति' की संस्तुति—
में प्रकट किये उद्गार स्वयं।
हो अन्तर्धान पुनः सुरपुर—
को किया तुरन्त विहार स्वयं॥

इस घटना द्वारा हुवा सभी—
को उनके बल का निश्चय था।
सब समझ गये उन 'महावीर'—
का हृदय पूर्णतः निर्भय था॥

था समय अधिक हो चुका अतः—
सब नगरी को स्वच्छन्द चले।
थी 'वीर' कृपा से विपद् टली,
अतएव सभी निर्द्वन्द चले॥

मित्रों ने कर दी प्रकट नृपति—
से वह सब घटना जाते ही।
नृप ने भी सुत—पुरुषार्थ सुना,
छाती से उन्हें लगाते ही॥

यह बात नगर में फैल गयी,
जनता उनका बल जान गयी।
वह 'वीर' समझती थी अब तक,
पर 'महावीर' अब मान गयी॥

वे इसी नाम से ख्यात हुये,
घटना का यह परिणाम हुवा।
जनता को उनके सब नामों—
से बढ़ कर प्रिय यह नाम हुवा॥

यों उनको 'इन्द्र' 'जनक' 'मुनि' 'सुर'—
से नाम अभी थे चार मिले।
संभव है पञ्चम नाम उन्हें,
अब सत्वर इसी प्रकार मिले॥

वे महापुरुष थे जन्मजात,
शैशव से करुणा धारी थे।
थी अभी कुमारवस्था ही,
पर अद्वितीय उपकारी थे॥

सुन पड़ा एक दिन उन्हें—"एक—
मतवाला गज स्वाधीन हुवा।
हो पूर्ण निरंकुश जनता को,
पीड़ा देने में लीन हुवा॥

उसके उत्पातों से नगरी—
के सारे व्यक्ति अधीर हुये।
है नहीं किसी में साहस जो,
उसका विकराल शरीर छुये॥

चरणों से कुचल अनेक पुरुष,
उसने अतिशय अन्धेर किया।
कर जीवन से खिलवाड़, पथों—
पर लगा शवों का ढेर दिया॥"

सुनते ही वे नागरिकों का–
भय हरने को सन्नद्ध हुये।
मतवाले हस्ती को अपने,
वश करने को कटिबद्ध हुये॥

सब बोले–"गज मतवाला है,
अतएव न जाएँ नाथ! वहाँ।
निश्चिन्त विराजें राजभवन–
में हम सुभटों के साथ यहाँ।

पर 'महावीर' अति निर्भय थे,
उनमें भय का तो नाम न था।
पर कष्ट देखते हुये उन्हें,
भाता सुख से विश्राम न था॥

इससे न किसी की बात सुनी,
निर्भय उस गज के पास गये।
निज संग न अन्य लिये सैनिक,
एकाकी ही सोल्लास गये॥

गज उन्हें देखते ही सहसा,
अत्यन्त उग्र हो कुपित हुवा।
आ रहे उसी के पास स्वयं,
यह देख द्विरद कछु चकित हुवा॥

था ज्ञान न उसको 'महावीर'–
की महावीरता का, बल का।
सोचा, 'मेरा क्या कर सकता,
यह राजकुमार अभी कल का!'

अतएव हुवा अब पहले से–
भी बढ़कर आग बबूला था।
'मैं अभी पछाड़े देता हूँ',
यह सोच हृदय में फूला था॥

इनमें देवों से अधिक शक्ति,
इनका न उसे था बोध अभी।
वह समझा था साधारण नर,
इससे विशेष था क्रोध अभी॥

सोचा, 'यम के ही सम्मुख ले–
आया इसका दुर्भाग्य इसे।
अब मृत्यु-गोद में सोने का,
मिल जायेगा सौभाग्य इसे॥

यह सोच वेग से झपटा वह,
पर 'महावीर' निर्भीक रहे।
उस क्षण पुरुषार्थ पराक्रम के,
वे अनुकरणीय प्रतीक रहे॥

हस्ती ने अपनी शुण्ड उठा,
आक्रमण किया उन 'सन्मति' पर।
उस समय उन्हें आ गयी हँसी,
उस पशु की पशुता दुर्मति पर॥

वह शुण्ड पकड़कर ही उस पर,
चढ़ने वे 'वीर' कुमार लगे।
यह देख दूर से ही दर्शक,
करने उनकी जयकार लगे॥

वे बैठ गये गज-मस्तक पर,
जनता ने फेंकीं मालाएँ।
वातायन से उन पर पुष्प वृष्टि,
कर चलीं नगर की बालाएँ॥

यों शत्रु बना जो हस्ती था,
वह ही अब उनका मित्र बना।
जो हिंस्र वृत्ति अपनाये था,
वह करुणा सिक्त पवित्र बना॥

यह घटना सुनकर 'त्रिशला' ने—
भी अनुभव अति आमोद किया।
ज्यों अन्तःपुर में आये वे,
त्यों उन्हें उठा निज गोद लिया॥

उस दिन से ही 'अतिवीर' नाम-
भी उनके लिये प्रयुक्त हुवा।
जो उनके अति वीरत्व हेतु,
अतिशय ही तो उपयुक्त हुवा ॥

यों प्रायः नित्य असाधारण,
गुण प्रकटित होते रहते थे।
जो उनके भावी जीवन की,
पावन गरिमा को कहते थे ॥

था अद्वितीय ही ज्ञान उन्हें,
आगम का और पुराणों का।
अविरोध विवेचन करते थे,
हर नय का, सकल प्रमाणों का ॥

अवलोक योग्यता उनकी यह,
विद्वान् सभी चकराते थे।
बन जाते उनके चेला जो,
उनके गुरु बनने आते थे ॥

तत्वों की व्याख्या करने की-
थी उनकी रीति निराली ही।
इससे न मात्र वह 'कुण्डग्राम',
पर गर्वित थी 'वैशाली' भी ॥

पटुतर्क शास्त्रियों ने उनके,
तर्कों को स्वयं सराहा था।
दार्शनिकों ने उनसे दर्शन—
शास्त्रों को पढ़ना चाहा था॥

लगता था, मानों सरस्वती—
को ही उनसे थी प्रीति हुई।
हैं मेरे प्राणाधार यही,
थी ऐसी उसे प्रतीति हुई॥

था हेतु कदाचित यही कि जो,
स्वयमेव उन्हें गुण लाभ हुये।
संगीत, काव्य औ' चित्रकला—
सब में पटु वे अमिताभ हुये॥

इतिहास गणित के ज्ञाता भी,
वे 'त्रिशला' माँ के लाल हुये।
उन 'स्वयं बुद्ध' की बुद्धि देख
आनन्दित अति भूपाल हुये॥

निर्दोष वाक्य वे कहते थे,
लिपि भी अति सुन्दर लिखते थे।
औ' वाद्य बजाने में भी तो
वे अद्वितीय ही दिखते थे॥

विहगों की बात समझने के—
भी तो थे वे विद्वान अहो ।
अभ्यस्त उन्हें थी राजनीति,
था ज्ञात मनोविज्ञान अहो ॥

अतएव अल्प वय में प्रसिद्ध—
हो गये ज्ञान के द्वारा वे ।
कहलाते ज्ञान-दिवाकर थे,
त्रिशला-नयनों के तारा वे ।

जितनी भी ललित कलाएँ थीं,
सबमें वे पूर्ण प्रवीण हुये ।
जितनी उत्तम विद्यायें थीं,
सब में ही सर्वाङ्गीण हुये ॥

विद्यालय में बिना प्रविष्ट हुये
विद्यावारिधि वे 'वीर' हुये ।
गुरु बिना जगद्गुरु बने तथा,
जिन धर्म-धुरंधर-धीर हुये ॥

सुकुमार कुमारावस्था में—
ही इतना आत्म विवेक जगा ।
यह देख सशंकित हो मन्मथ—
करने सन्देह अनेक लगा ॥

बोला यौवन से—'जाओ तुम,
जिससे इनको निर्वेद न हो।
तुम उन पर निज अधिकार करो,
पर ज्ञात उन्हें यह भेद न हो॥'

बस, फिर क्या था ? आ यौवन ने,
उनके तन मध्य प्रवेश किया।
थे जन्म काल से सुन्दर, पर—
अब सुन्दर और विशेष किया।

अब तो उनकी सुन्दरता की,
दिखती न कहीं भी समता थी।
उनकी सुषमा में मन्मथ का—
भी मद हरने की क्षमता थी॥

पर यौवन में भी उनके मन—
में शैशव सदृश सरलता थी।
तन पर ही यौवन सफल हुवा,
मन पर पायी असफलता थी॥

उनके तन की ऊँचाई अब,
बढ़ कर हाथों में सात हुई।
पर मन में बढ़ा न राग, यही—
सबको विस्मय की बात हुई॥

शैशव में खेला करते थे,
जो सहचर उनके साथ अहो ।
वे सब अनुरूप युवतियों के
बनते जाते थे नाथ अहो ॥

पर इन्हें प्रेयसी पाने की
किंचित् भी तो थी साध नहीं ।
कंकड़ गिर पड़ने से शोभित—
होता क्या सिन्धु अगाध कहीं ?

अतएव विजन में जा चिन्तन—
करना उनका व्यवसाय हुवा ।
यों उनकी जीवन-पुस्तक का
आरम्भ नया अध्याय हुवा ॥

वे यही सोचते रहते थे,
'क्यों बना हुवा संसारी मैं ?
क्यों नहीं मुक्ति पद पाने को
बनता मुनिमुद्राधारी मैं ?

श्री मन्त बना यों बैठा हूँ,
बन जाता क्यों मैं सन्त नहीं ?
क्यों नहीं तपस्या द्वारा मैं
करता कर्मों का अन्त यहीं ?

खो रहा व्यर्थ ही राजभवन—
में जीवन के अनमोल प्रहर।
औ' मुझे मृत्यु की ओर लिये—
जाती क्षण क्षण ये काल-लहर॥

जब तक कर्मों को जीत न लूँ,
है निष्फल 'वीर' कहाना भी।
यदि नहीं मोक्ष को प्राप्त किया,
तो निष्फल नर गति पाना भी॥

यों तो पशु में भी होते हैं,
भय, नींद, काम, आहार सभी।
पर नहीं मुक्ति पद पाने का
उनको मिलता अधिकार कभी॥

अतएव मुझे यदि भाग्योदय—
से नर गति का उपहार मिला।
है मिला गोत्र भी उच्च तथा,
श्रावक कुल जैनाचार मिला॥

तो यही उचित मुनि बनकर मैं
निज कर्मों का संहार करूँ।
अरहन्त स्वयं बन अन्य जनो—
का भी दुख से उद्धार करूँ।

मैं फँसा रखूँ निज कण्ठ नहीं,
इन हीरों के ही हारों में।
औ' नहीं मग्न दिन रात रहूँ,
इन राज्य प्राप्त अधिकारों में॥

इसके अतिरिक्त जगत में अब,
प्रोत्साहन मिलता हिंसा को॥
नर भूल रहे श्री 'पार्श्वनाथ'
के मुख से प्राप्त अहिंसा को॥

जा रहा किया अब यज्ञों में,
जीवित पशुओं का होम यहाँ।
उनके जलने से उठे धूम—
से कलुषित होता व्योम यहाँ॥

ले नाम धर्म का उन पशुओं—
से खेली जाती होली है।
यों मात्र स्वार्थ के लिये धर्म—
से होती आज ठिठोली है॥

जो इन्हें पाप से रोक सके,
ऐसी न किसी में क्षमता है।
यह समझ अर्थ का भी अनर्थ
करने में इन्हें सुगमता है॥

बन गये खिलौने विप्रों के,
अब वेदों के भी अक्षर सब।
औ' उनका ही अन्धानुकरण,
करने लग गये निरक्षर सब॥

'हिंसा न वैदिकी हिंसा' यह—
कह भी न तनिक वे क्षुब्ध हुये।
पशुओं के मृदुल कलेवर को
खाने में इतने लुब्ध हुये॥

हों अश्वमेध गोमेध जहाँ,
है वहाँ जीव का क्षेम कहाँ?
नरमेध जहाँ हों, वहाँ नरों—
से होता नर को प्रेम कहाँ?

जब तक न अहिंसा का प्रचार
तब तक पशु-त्राण असम्भव है।
औ' विश्व प्रेम के भाव बिना,
मानव-कल्याण असम्भव है॥

नृप रन्ति देव कृत महायज्ञ—
का जो विवरण है ज्ञात हुवा।
उससे यह जाना जाता है,
पशुओं का कितना घात हुवा!

वह यज्ञ जहाँ था, वहां बही—
शोणित की ऐसी धार प्रखर।
जिससे न मात्र यज्ञ स्थल ही,
रक्तिम हो गया समस्त नगर॥

शोणित भरने से सरिता तक,
देती आरक्त दिखायी थी।
हो चर्ममयी वह उस दिन से—
ही 'चर्मवती' कहलायी थी॥

जिसके जो मन में आता वह,
वेदों का अर्थ लगाता है।
पशु बलि से मिलता स्वर्ग, यही—
सबको समझाया जाता है॥

औ' शूद्र न सुनने भी पाते—
हैं सामवेद के गीत कहीं।
वे शिक्षा दीक्षा हीन बने,
कर सकते कार्य पुनीत नहीं॥

यदि शूद्र भूल से भी कोई,
कर लेता वेदोच्चार कहीं।
तो उसकी जिह्वा काट तुरत,
होता इसका प्रतिकार नहीं॥

यदि धर्म शब्द भी किसी शूद्र—
के कर्णों में पड़ जाता है।
तो उसके कर्णों में शीशा,
भर देता धर्म विधाता है॥

यदि किसी शूद्र ने धर्म श्लोक,
कण्ठस्थ कहीं से कर डाले।
तो उसके तन को खण्ड खण्ड,
करते धर्मान्धों के भाले॥

द्विज महापाप बतलाते हैं,
छू लेना शूद्रों का तन भी।
औ' जाति भ्रष्ट कहलाता है,
उनको छूने वाला जन भी॥

पुज रही आज है उच्च जाति,
औ' नीच निरखते दूर खड़े।
वे मार निहत्थे पशुओं को,
बनते जगती में शूर बड़े॥

अब आज तीन सौ त्रेसठ विधि—
के माने जाते धर्म यहाँ।
जन नहीं समझ यह पाते हैं,
यह सत्य धर्म का मर्म कहाँ?

देवी देवों तक के स्वरूप—
में भी फैला अन्धेर यहाँ।
पुजते हैं नद नाले पर्वत,
रवि, शशि, पत्थर के ढेर यहाँ॥

सर्वत्र मान है नर का ही,
पाती न समादर नारी है।
औ' मात्र भोग सामग्री ही,
समझी जाती बेचारी है॥

यों वीर सोचते रहते थे,
जाकर निर्जन में नित्य कहीं।
देखो, अस्ताचल मध्य अधिक,
अब ठहरेगा आदित्य नहीं॥

—×—

दसवाँ सर्ग

ये युवक हुये पर ज्ञात अभी,
उनको यौवन का मर्म न था।
उनसे विवाह की चर्चा भी—
करना साधारण कर्म न था ॥१॥

जग दशा सोच यों 'सन्मति' में,
सन्मति जग रही अनूठी थी।
औ' उधर पुत्र के परिणय को,
माता की ममता रूठी थी ॥

निज भावी पुत्र-वधू चुनने—
में ही आता आनन्द उन्हें।
सपने में दिखने लगते थे
मन के ये अन्तर्द्वन्द उन्हें ॥

निज सम्मुख राजसुताओं को
देखा करतीं मुद्रित पलकें।
कुछ की होती पतली कटि औ,
कुछ की होतीं लम्बी अलकें ॥

पर 'महावीर' से गुप्त अभी,
वे रखतीं ये व्यापार सभी।
कारण, उनको ही करना था,
इस पर कुछ और विचार अभी ॥

निज सुता 'वीर' को देना, थे—
कह चुके अभी नर पाल कई।
औ' नित्य सामने आती थी,
चित्रावलि प्रातःकाल नयी ॥

सुन्दर चित्रों का ढेर लगा—
रहता था उनके पास सदा।
जिनके गुण दोषों पर चिन्तन
वे करतीं थीं सोल्लास सदा॥

अतएव किसी को अस्वीकृत—
करना थी लघुतम बात उन्हें।
कारण, तन रचना-सुषमा का
वैशिष्ट्य सभी था ज्ञात उन्हें॥

राजाओं के सन्देशे भी,
मिलते थे बारम्बार उन्हें।
पर स्वयं टालती रहतीं थीं,
कौशल से किसी प्रकार उन्हें॥

केवल न भूप ही उत्सुक थे,
मोहित थीं उनकी बालाएँ।
वे भावुकता में गूंथ लिया—
करतीं थीं नित वर मालाएं॥

अभिलाष उन्हीं की कर करतीं—
थी 'मोहनीय' का बन्ध कई।
करना न चाहतीं थीं उनके
अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध कई॥

पर वे न जानतीं थीं, हमसे—
है रुष्ट हमारा भाग्य हुवा।
केवल न हमीं से, हर नारी—
से 'सन्मति' को वैराग्य हुवा॥

वे मुक्ति-मोहनी पर मोहित,
इसका न उन्हें था भान हुवा।
अनभिज्ञ 'वीर' के मन से रह
उनका मन था अनजान हुवा॥

कुछ 'महावीर' की सुषमा सुन—
ही उन पर अधिक लुभायीं थीं।
पर उनकी दशा विलक्षण थी,
जो उन्हें निरख भर पायीं थीं॥

पर 'वीर' कभी सुन्दरियों की,
सुन्दरता पर न लुभाये थे।
उनने नारी के चित्रों की—
भी ओर न नेत्र उठाये थे॥

नारी में आकर्षण होता;
इसका न उन्हें आभास हुवा।
इस अनासक्ति को देख स्वयं,
आश्चर्य नमग्न विलास हुवा॥

क्या रुप वासना का होता ?
इसकी न उन्हें अनुभूति हुई।
उनमें आसक्ति जगाने में,
असफल साम्राज्य विभूति हुई॥

घेरे रहते सुख भोग उन्हें,
पर बन न सके वे भोगी थे।
योगों के साधन के अभाव—
थे, पर वे मन से योगी थे॥

चौबीस, वर्ष की आयु हुई,
पर मुख शिशु जैसा भोला था।
जाता न जननि के सिवा किसी
नारी से उनसे बोला था॥

थे युवक हुये, पर ज्ञात अभी
उनको यौवन का मर्म न था।
उनसे विवाह की चार्चा भी—
करना साधारण कर्म न था॥

वे दृढ़ थे अपने निश्चय पर
करते थे कभी प्रमाद नहीं।
चाहे जो होता रहे जहाँ।
उनको था हर्ष विषाद नहीं॥

यह वीतरागता 'त्रिशला' को
जैसे ही सहसा भान हुई।
वैसे ही उनकी आशा की,
अधखिलीकली कुछ म्लान हुई॥

पर कहा मोह, ने माता का--
कहना अवश्य वह मानेगा।
जननी की इच्छा के विरुद्ध,
कोई भी कार्य न ठानेगा॥

इस नव विचार के आते ही,
मन फूला फिर न समाया था।
तत्काल उन्होने महावीर,—
को पास बुला बैठाया था॥

पश्चात् कहा--"रह गयी शेष
अब थोड़ी आयु हमारी है।
अतएव चाहती कहना वह
जो मैंने बात विचारी है॥

यों तो चाहे कहती न इसे,
पर मान रहा है मोह नहीं।
यह मेरा कोमल अन्तस् भी—
तो मातृ-हृदय है लोह नहीं॥

मुझको है ज्ञात, इसी भव में —
पाना है निश्चित मोक्ष तुम्हें।
हो तीन ज्ञान के धारक तुम,
इससे कुछ भी न परोक्ष तुम्हें॥

बस, यही विचार दबाये थी,
मन में ही स्वीय उमङ्ग अभी।
औ' अब तक नहीं उठाया था,
मैंने यह दिव्य प्रसङ्ग कभी॥

इसको कहने का लोभ किन्तु,
मन आज सका है त्याग नहीं।
अतएव मौन रह पाता है,
मेरे मन का अनुराग नहीं॥

औ' तोड़ आज अब बन्धन सब,
मुखरित मेरा यह प्यार हुवा।
जो नहीं चाहिये कहना, वह—
कहने को व्यग्र दुलार हुवा॥

विश्वास मुझे है तुमको भी
यह अपनी माता प्यारी है।
हो भले ज्ञान में हीन किन्तु
जननी तो यही तुम्हारी है॥

बस, यही सोच तव सम्मुख मैं,
अपनी अभिलाषा रखती हूँ।
औ' आज इसी के द्वारा अब,
तव जननी-भक्ति परखती हूँ॥

तो सुनो ध्यान से, बेटा! अब,
निज माँ के मुख्य मनोरथ को।
स्वीकार करो तुम 'आदि नाथ'-
के द्वारा प्रचलित ही पथ को॥

परिणयन 'सुनन्दा' 'सुमंगला'-
से कर उनसे अनुराग किया।
दे दो कन्या सौ पुत्र उन्हें,
दोनों का सफल सुहाग किया॥

यों प्रथम बने वे रमा-रमण,
तदनन्तर उनने राज्य किया।
फिर रमा तथा साम्राज्य उभय,
परित्याग पूर्ण वैराग्य लिया॥

यह मार्ग उन्हीं का अपना अब,
तुम सुख दो मेरे प्राणों को।
यदि कहो उपस्थित अभी करूँ,
मैं ऐसे अन्य प्रमाणों को॥

निज कन्या देना चाह रहे,
मको अगणित राजा रानी ।
अगणित कन्याएँ चाह रहीं,
मैं बनूँ तुम्हारी पटरानी ॥

एवं सुख भोग गृहस्थी के,
मुनि बनना रीति पुरानी भी ।
इससे न चाहिए तुमको अब,
करना कुछ आनाकानी भी ॥

मैं चिर से आश लगाये हूँ,
अतएव मुझे न निराश करो ।
परिणय की स्वीकृति दे बेटा !
पूरी मेरी अभिलाष करो ॥

यह बात मान लो तो मैं भी,
तव जननी भक्ति सराहूँगी ।
जो तुम्हें रुचेगी उससे ही,
मैं तुमको शीघ्र विवाहूँगी ॥

यों मैं निश्चित कर चुकी एक,
कन्या अनुरूप तुम्हारे ही ।
गुण औ' स्वभाव सुन्दरता में,
अभिराम अनूप तुम्हारे सी ॥

विश्वास मुझे, हो आयेगा—
तुमको भी उससे प्रेम स्वयं।
औ' प्रकृति मिलेगी दोनों की,
होगा दोनों का क्षेम स्वयं॥

वह नख से शिख तक सुन्दर है,
काया का रङ्ग मनोहर है।
आकार करूं क्या वर्णित मैं,
उसका हर अङ्ग मनोहर है॥

उसमें नारी के सुगुण सभी,
लावण्य, शील औ' लज्जा भी।
रुचि भी अत्यन्त परिष्कृत है,
मोहक रहती तन-सज्जा भी॥

उस जैसी छवि की अन्य सुता,
मिल सकती कहीं न लाखों में।
जिस दिन से देखा, उस दिन से,
वह झूल रही मम आंखों में॥

होते अतीव ही आकर्षक,
उसके सब क्रिया कलाप स्वयं।
यदि तुम उसको लो देख, पड़े,
तो तुम पर उसकी छाप स्वयं।

तन जैसा मन भी निर्मल है,
करती है वार्तालाप मधुर।
मुख से मोती सी झरती है
शब्दावलि अपने आप मधुर॥

मैंने उसके ही संग अभी,
परिणय की बात चलायी है।
औ' उसकी माता तथा पिता—
की भी तो स्वीकृति आयी है॥

'जितशत्रु' कलिंग महीपति हैं
उनकी है राजदुलारी यह।
औ' नाम 'यशोदा' द्वारा ही,
विश्रुत है राजकुमारी यह॥

अतएव इसी के सँग परिणय,
स्वीकृत ऐ मेरे लाल! करो।
वर रूप बनाकर चलो तथा
स्वीकृत उसकी वरमाल करो॥

सम्बन्ध यही सर्वोत्तम है,
स्वीकार इसे सोल्लास करो।
सन्देह करो मत इसमें कुछ,
मम बातों पर विश्वास करो॥

वह कलावती थी रूपवती,
गुणवती अतीव कुलीना थी।
यदि उसे अंगूठी मैं मानूँ,
तो तुम हो लाल! नगीना ही॥

उसको जीवन-सहचरी बना,
होगा न तुम्हें भी क्लेश कदा।
आदर से तुमको देखेंगे,
'जितशत्रु' कलिंग नरेश सदा॥

अतएव करा गठबन्धन तुम,
साधो कुछ दिवस त्रिवर्ग यहीं।
पश्चात् दिगम्बर मुद्रा धर,
साधित करना अपवर्ग कहीं॥

सोचो, मम कथन यथार्थ न क्या!
तुम भी तो हो विद्वान स्वयम्।
तुम भी अपने हित और अहित—
को सकते हो पहिचान स्वयम्॥

यौवन में नर को वामा से
रहना न चाहिये वाम कभी।
तुम 'महावीर' हो, नारी से—
डरने का मत लो नाम अभी॥

निज मातृ भक्ति का परिचय दो,
अपनी स्वीकृति के द्वारा तुम।
तव वधू खोज ली मैंने, अब—
वर बनो नयन के तारा तुम ॥

मँगवाये हैं जौहरियों से
मैंने हीरों के हार नये।
कह दिया सुनारों से कि बना—
दें द्रुत स्वर्णालंकार नये ॥

तुम स्वीकृति दो, यह नगर सजे
सुन्दरतम बन्दनवारों से।
वर यात्रा देखें 'कुण्डग्राम'—
की वधुएँ अपने द्वारों से ॥

होगी न व्यवस्था में त्रुटियाँ,
चिन्ता न करो, विश्वास करो।
निज मुख से 'हाँ' भर कह कर तुम
मेरी यह अन्तिम प्यास हरो ॥"

इतना कह चुकने पर 'त्रिशला'—
का यह वक्तव्य-प्रवाह रुका।
'सन्मति' का उत्तर सुनने को
उनके मन का उत्साह झुका ॥

अत्यन्त ध्यान से जननी की—
बातें सुनते थे 'वीर' रहे।
पर नहीं प्रभावित हुये तथा
वे पूर्व तुल्य गम्भीर रहे ॥

माँ की ममता के आगे भी,
हारा उनका सुविवेक नहीं।
उनके अनेक थे तर्क किन्तु
जँच सका 'वीर' को एक नहीं ॥

ध्रुवतारा जैसा ही सुस्थिर,
उनके मन का निर्वेद रहा।
केवल माता की ममता को
अवलोक उन्हें कुछ खेद रहा ॥

अतएव उन्होंने सोचा, माँ
को समझाऊँ कुछ कौशल से।
उनकी ममता की ज्वाला को,
मैं शान्त करूँ समता-जल से ॥

मेरी विरागता के कारण—
ही इनको क्षोभ विशेष हुवा।
इससे द्रुत मेरा गठबन्धन—
करना इनका उद्देश हुवा ॥

अब निज विचार इस भांति रखूँ,
जिससे इनको दुख न हो।
औ' मुझे विरागी बनने में,
इनके द्वारा फिर रोक न हो॥

यह सोच विनय से पूर्ण गिरा—
में लगे बोलने समता से।
"माँ! रखा आपने परिणय का,
प्रस्ताव अधिक उत्तमता से॥

वास्तव में पुत्र-वधू चुनने—
में अनुपम अध्यवसाय किया।
जो एक कुशल मां कर सकती,
ऐसा प्रत्येक उपाय किया॥

जो 'आदिनाथ' का मार्ग मुझे,
बतलाया वह निस्सार नहीं।
औ' मुझे आपके तर्कों के,
खण्डन का भी अधिकार नहीं॥

पर सोचो, तब से अब कितना,
परिवर्तित यह संसार हुवा।
तब से अब कितना ह्रास पूर्ण
नर-आयु-देह-आकार हुवा॥

इससे हे माता! मम तुलना,
हो सकती उनके सङ्ग नहीं।
उन सम महान मम आयु नहीं,
उन सम विशाल मम अङ्ग नहीं॥

एवं तब मनुज अहिंसक थे,
ऐसी न बढ़ी भी हिंसा थी।
सब सत्य बोलते थे एवं,
सबको प्रिय दया अहिंसा थी॥

पर स्वार्थी बन कर आज मनुज,
अब सत्य अहिंसा हीन हुवा।
वह नाम धर्म का लेकर भी,
पशु बलि देने में लीन हुवा॥

शूद्रों से भी तो पशु जैसा,
व्यवहार आज अब होता है।
हँस रहा आज है जातिवाद,
औ' साम्यवाद अब रोता है॥

होते जा रहे अधर्मी जन,
दुर्दशा धर्म की होती है।
सामाजिक दशा विषम, नारी—
निज मुख आँसू से धोती है॥

अतएव बन्द करवाना है,
सत्वर पशुओं के होम मुझे।
पवि सम कठोर जन गण मन को,
कर देना सत्वर मोम मुझे॥

यह ऊँच नीच का भाव मिटा,
करना शूद्रों का क्षेम मुझे।
हर प्राणी को सिखलाना हर
प्राणी से करना प्रेम मुझे॥

जिनधर्म—तत्व—उपदेश सुना,
करना समाज का त्राण मुझे।
धर्माधिकार दे नारी को,
करना उसका कल्याण मुझे॥

अतएव न मुझको मात्र एक,
अबला का बनना त्राता है।
मम मन हर निर्बल का त्राता,
बनने को ही ललचाता है॥

निज प्रेम भेंट कर देना है,
अब सर्व—जीव—हित अर्थ मुझे।
निज स्वर्थों की आहुति देकर,
देना है रोक अनर्थ मुझे॥

उद्देश्य पूर्ण वह करना है,
जो लेकर जग में आया हूँ।
जो धर्म प्रचारण करने को,
यह तीर्थंकर पद पाया हूँ॥

कुण्ठित सी दया अहिंसा को,
है केवल मुझसे आशा यह।
मैं उनकी पीड़ा दूर करूं,
हर पीड़ित की अभिलाषा यह॥

हो रहा पतन नैतिकता का,
इसको भी मुझे उठाना है।
निज प्रेम न केवल एक प्रिया,
हर प्राणी हेतु लुटाना है॥

देखो कि 'नेमि' ने पशुओं का—
क्रन्दन सुन त्यागे थे कङ्कण।
इस भाँति मौर को फेंका था,
मानो हो विषधर का ही फण॥

'श्री कृष्ण' न उनको रोक सके,
समझा यदुवंशी थके कई।
पर लिया 'द्वारिका'-राज्य नहीं,
ओ' वरी न 'राजुल' रूप मयी॥

थी सुनी सारथी के मुख से,
उनने पशुओं की करुण कथा।
देखी न लोचनों द्वारा थी,
वह उनकी अन्तिम मरण व्यथा॥

पर इतने से ही विरत हुये,
माना न किसी का भी कहना।
औ' क्षण भर के भी लिये नहीं,
स्वीकार किया गृह में रहना॥

पर आज निरन्तर पशुओं का
चीत्कार सुनायी देता है।
उनके रोदन सँग मन्त्रों का
उच्चार सुनायी देता है॥

यह देख मुझे भी लगता है
यह राज भवन अब कारा सा।
मेरा ही पौरुष अब मुझको,
प्रायः करता धिक्कारा सा॥

मैं नहीं चाहता सदा रहूँ,
इस पिंजड़े का ही कीर बना।
उन्मुक्त विचरने को रहता—
है मेरा हृदय अधीर बना॥

इससे परिणयन कराना अब,
मेरे पथ के अनुकूल नहीं ।
मैं अतः किसी भी कन्या के-
दृग में डालूँगा धूल नहीं ॥

निज पथ में मान रहा, नागिन-
के सम नारी के केशों को ।
इससे हे माँ ! मैं पूर्ण नहीं,
कर पाता तव आदेशों को ॥

मेरा जो कुछ भी निश्चय था,
वह मैंने निस्सङ्कोच कहा ।
करना अब पुनर्विचार नहीं,
सब कुछ सम्यक ही सोच कहा ॥

लो मान, किसी भी कान्ता का-
बनना है मुझको कन्त नहीं ।
करना निवास इस राजभवन-
में भी जीवन पर्यन्त नहीं ॥

इससे अब हार मँगाएँ मत,
गहनें भी आप गढ़ायें मत ।
औ' मुझे विवाह कराने का,
भी पाठ कदापि पढ़ायें मत ॥

वर की भूषा में मुझे नहीं,
देखेगा कुण्डन नगर कभी।
औ' नहीं कहेंगे 'प्रिये' किसी—
को भी मेरे ये अधर कभी॥

कह नहीं रहा भावुकता वश,
पालूंगा ये उद्गार सदा।
कर रहा आपके सम्मुख प्रण,
रहने के हेतु कुमार सदा॥

दें आप अशीष हिमाचल सा,
मैं अपने प्रण पर अचल रहूँ।
निज पथ से रवि शशि टलें भले,
पर मैं निज पथ पर अटल रहूँ॥

कुछ कष्ट आपको यदि मेरे,
निश्चय ने पहुँचाया हो।
औ' ध्यान विनय का रहते भी,
यदि कुछ अप्रिय कह आया हो॥

तो क्षमा करें औ' पुत्र वधू—
पाने को अब ललचायें मत,
अवलोक कुमार मुझे अपना,
सुकुमार शरीर सुखाएं मत॥

हे माँ! न आज तक कभी आप—
ने मेरी कोई हठ टाली।
विश्वास अतः, गत अन्य हठों—
सी यह हठ जायेगी पाली॥

यों 'महावीर' ने 'त्रिशला' से,
सूचित निज सकल विचार किये।
जो कई दिनों से सोच रहे—
थे प्रकट वही उद्गार किये॥

माता की ममता विफल हुई,
सुन सुत के नये विचारों को।
माना उस समय वृथा उनने,
अपने सारे अधिकारों को॥

छिन गया हृदय से क्षण भर में,
सासू बनने का चाव सभी।
लुट गये पुत्र हित नवल वधू—
ले आने के भी भाव सभी॥

औ' व्यर्थ राजकन्याओं के—
वे सुन्दर सुन्दर चित्र लगे।
निष्फल विवाह हित सञ्चित वे,
आभरण, वसन औ' इत्र लगे॥

सुत-वधू निमित्त मँगायीं जो,
अब व्यर्थ लगीं वे चोलीं थीं।
औ' सकल साड़ियाँ विफल लगीं,
जो उनने मँगा सजो लीं थीं॥

अब उनने 'सन्मति' के विवाह—
की चर्चा करना छोड़ दिया।
अपनी भी जीवन धारा को,
संयम के पथ पर मोड़ दिया॥

आओ, अब देखें 'महावीर'—
की इस विरक्ति का छोर कहाँ?
उन चिर कुमार के जीवन की—
सरिता जाती किस ओर कहाँ?

—×—

ग्यारहवाँ सर्ग

सिंहासन क्या ! इन्द्रासन भी,
कर सकता मुझको लुब्ध न अब ।
यह 'कुण्डग्राम' क्या ! 'अलका' का—
वैभव कर सकता लुब्ध न अब ।।
—विरक्त महावीर

उन चिर कुमार को समझाने
में असफल पुरजन स्वजन हुये।
पर सज्जन 'सन्मति' नहीं किसी—
भी तो सजनी के सजन हुये ॥

उनका यह शील अखण्डित है,
प्रत्येक व्यक्ति यह जान गया।
उनके लोकोत्तर ब्रह्मचर्य—
को भी हरेक पहिचान गया ॥

यों विश्व विजेता कामदेव—
से भी कुमार वे जीत गये।
संयम से रहते हुये तथा,
कुछ दिवस और भी बीत गये ॥

पर अपनी भीष्म—प्रतीज्ञा पर,
ज्यों की त्यों उन्हें अटलता थी।
यह देख पिता—माँ में प्रायः
जग उठती मौन विकलता थी ॥

पर नहीं किसी ने फिर उनसे,
परिणयन—प्रसङ्ग उठाया था।
अपने मन की अभिलाषा को,
मन के ही मध्य छिपाया था ॥

उनका कोई भी मित्र कभी,
उनसे करता न ठिठोली भी।
आती थी और निकल जाती,
चुपचाप श्रावणी–होली भी ॥

झूला-न झूलते सावन में–
भी तो रसाल की डालों पर।
फागुन में भी मलते अबीर,
वे नहीं किसी के गालों पर ॥

इस चेष्टा से सर्वत्र बजा,
उनके संयम का डंका अब।
वे प्रण से कभी शिथिल होंगे,
थी यह न किसी को शंका अब ॥

अपने नियमों पर थे कठोर,
देते कदापि थे ढील नहीं।
जो किसी प्रलोभन में आये,
ऐसा था उनका शील नहीं ॥

आता मधुमास न किन्तु विकृत,
होते उनके परिणाम कभी।
मधु पात्र तथा मधुबाला का,
लेते न स्वप्न में नाम कभी ॥

किन्नरियाँ कर आबद्ध नहीं—
पातीं थीं बाहु-मृणालों से।
अप्सरा हरा भी नहीं उन्हें,
पातीं थीं अपनी चालों से॥

उनकी न कभी इच्छा होती,
देखूँ नर्तन नर्तकियों का।
वे तो अब रखना चाह रहे—
थे वेष दिगम्बर यतियों का॥

इच्छा न उन्हें थी होती मैं,
सुन लूँ गणिका की तान कभी।
लगते थे भार समान उन्हें,
तन पर के भी परिधान सभी॥

सम्यग्दर्शन औ' ज्ञान, चरित—
थे इष्ट रत्न ये तीन उन्हें।
इसके अतिरिक्त लगा करते—
थे सारे रत्न मलीन उन्हें॥

अतएव रत्न मय भूषण निज,
तजने की भी आतुरता थी।
असमर्थ उन्हें उलझाने में'
शासन-ऐश्वर्य-प्रचुरता थी॥

यों इधर सोचते थे वे, मैं—
कैसे त्यागूँ यह राजभवन ?
औ' उधर सोचते राजा थे,
अब राज्य करे युवराज वहन ॥

अभिराम आज कल सता रहा—
था उनको अन्तर्दाह यही ।
अतएव एक दिन 'सन्मति' से—
की प्रगट उन्होंने चाह यही ॥

बोले—"मैं अब अति वृद्ध हुवा,
यह बात तुम्हें भी दिखती है ॥
यमराज—निमन्त्रण हेतु जरा,
अब आज पत्रिका लिखती है ॥

इससे मैं अब यह राज्यकार्य,
विधिवत् सकता हूँ देख नहीं ।
औ' दृष्टि क्षीण हो जाने से
पढ़ पाता आज्ञा— लेख नहीं ॥

अतएव राज्य—संचालन के—
उपयुक्त रही मम देह नहीं ।
औ' तुम अब इसके योग्य हुये,
इसमें कोई सन्देह नहीं ॥

यह देख चाहता, राजमुकुट,
मैं तव मस्तक पर धर दूँ अब ।
औ' बिठा राज्य-सिंहासन पर,
राज्याभिषेक भी कर दूँ अब ॥

दूँ बना शीघ्र इस 'कुण्डग्राम'-
का तुमको भाग्य विधाता अब ।
दूँ बता प्रजा को, नहीं रहा—
मुझसे राजा का नाता अब ॥

स्वीकृति दे दो, मैं उत्सव का-
अविलम्ब समस्त विधान करूँ ।
सचिवों, सामन्तों, सुभटों के,
सम्मुख साम्राज्य प्रदान करूँ ॥

सब प्रजा चाहती है यह ही,
अब तुम उसके आधार बनो ।
कह रही राज्य की लक्ष्मी भी,
अब तुम उसके शृङ्गार बनो ॥

सम्राट तुम्हारे बने बिना,
इस शासन का उद्धार नहीं ।
स्वीकार करो यह पद सहर्ष,
समझो इसको गुरु भार नहीं ॥

यह कई दिनों से कहने को-
था मेरा चित्त अधीर बना।
इससे निज स्वीकृति देने में,
मत देर करो गम्भीर मना ॥

'हाँ' कहते ही राज्याभिषेक-
की मच जायेगी धूम अभी।
औ' भूप रूप में पा तुमको,
सब प्रजा उठेगी झूम अभी ॥

आबाल वृद्ध सब मानेंगे,
इस 'कुण्ड ग्राम' का नाथ तुम्हें।
सोल्लास नवायेंगे सैनिक,
सामन्त, सचिव निज माथ तुम्हें ॥

विश्वास मुझे, जनप्रिय होगी,
तव राज्यकार्य की नीति नयी।
सुखदेगी अधिक प्रजा को तव,
शासन करने की रीति नयी ॥

तुमसे पुण्यात्मा के शासन,
में मिट जाएँगे पाप सभी।
औ, उन्हें मिटाने हेतु तुम्हें,
लेना न पड़ेगा चाप कभी ॥

तव पुण्य देख कर पुण्यवान—
हो जायेंगे सब पापी भी।
कारण, तुम हो अति क्षमावान्—
हो कर अत्यन्त प्रतापी भी॥

अतएव करोगे शान्ति हेतु,
तुम करुणा पूर्ण उपाय सदा।
औ' न्याय मार्ग के द्वारा ही,
तुम प्राप्त करोगे आय सदा॥

तव शासन-छाया में रहकर,
होगी न किसी को पीड़ा भी।
कारण, तुम अपने सा समझा—
करते हो लघुतम कीड़ा भी।

पा तुम्हें रहेगा मेरा यह,
उद्यान फूलता फलता ही।
इसका संरक्षण संवर्धन,
जायेगा विधिवत् चलता ही॥

जो कार्य करोगे, उसमें तुम—
पाओगे पूर्ण सफलता ही।
मैंने जो दीप जलाया वह,
जायेगा अविरत जलता ही॥

प्रिय ऐक्य तुम्हें, इससे न प्रजा—
में भी फैलेगी फूट कदा।
अधिकारी सभी विभागों के,
देंगे सहयोग अटूट सदा॥

तुम विनयवान हो, अतः न वे—
पद के मद में आ फूलेंगे।
तुम सावधान हो, अतः न वे—
निज कर्त्तव्यों को भूलेंगे॥

उनके वशवर्ती रहने से,
होगी न धर्म में बाधा भी।
निज का पर का कल्याण उभय,
जा यहाँ सकेगा साधा भी॥

विश्वस्त सचिव हैं, अतः तुम्हें,
होगा न कष्ट का बोध कभी।
औ' नहीं तुम्हारी दिनचर्या—
में आयेगा अवरोध कभी॥

निर्विघ्न चलेगा अनायास,
ही उत्तम राज्य-प्रबन्ध सभी।
कारण कि पड़ोसी भूपों से—
भी है उत्तम सम्बन्ध सभी॥

सब राज्य कार्य के कर्त्ता जन
रहते शासन के भक्त स्वयं।
अवसर पर उनकी स्वामिभक्ति--
होगी तुमको भी व्यक्त स्वयं॥

कोई भी शत्रु प्रलोभन दे
हर सकता उनकी भक्ति नहीं।
उनसे अन्याय कराने का,
बल रखता कोई व्यक्ति नहीं॥

इससे न असुविधा का तुमको,
शासन में होगा भान स्वयं।
तुमसे सुयोग की सत्ता से,
होगा सबका उत्थान स्वयं॥

यह राज मुकुट लो, पुनः कभी,
यह नहीं लगेगा भार तुम्हें।
भासेंगे धर्म सहायक से,
इस शासन के अधिकार तुम्हें॥

होगा न दान में देने के--
भी हेतु सुवर्ण--अभाव कदा।
होगा प्रभावना करने में
साधक साम्राज्य--प्रभाव कदा॥

अतएव रहोगे हर धार्मिक
उत्सव के हेतु समर्थ सदा।
आज्ञा दे रोक सकोगे यदि—
देखोगे कहीं अनर्थ कदा॥

कितना जन हित कर डालोगे,
इसका कोई परिणाम नहीं।
राजा से बढ़ कर कोई जन,
कर सकता जन—कल्याण नहीं॥

अतएव अलंकृत राज मुकुट—
से अब अपना यह माथ करो।
अवकाश मुझे दे 'कुण्ड ग्राम'—
का राज्य न्याय के साथ करो॥

तुमको इसमें आपत्ति नहीं—
होगी, ऐसा अनुमान मुझे।
तुम राज्य सँभालो, करने दो,
अब कुछ आत्मिक उत्थान मुझे॥

यह मेरी हार्दिक इच्छा है,
अब इसको पूर्ण कुमार! करो।
कुछ भी न करो न नु च इसमें
साम्राज्य समुद स्वीकार करो॥

यह शासन लक्ष्मी उत्सुक है,
पहिनाने को जयमाल तुम्हें।
इससे इसमें करना विलम्ब,
उपयुक्त नहीं है लाल तुम्हें॥

यह राजमुकुट तो बँधवा लो,
बँधवाया यद्यपि मौर नहीं।
यह राज तिलक तो लगवा लो,
लगवाया यद्यपि खौर नहीं॥

कुछ वर्ष राज्य का भोग करो,
चाहे देना फिर त्याग कभी।
तप को तपने के लिये पड़ा,
जीवन का अन्तिम भाग सभी॥

मुझको प्रसन्नता होगी यदि
तुमने मम वच पर ध्यान दिया।
बँधवा समोद यह राजमुकुट
सिंहासन शोभावान किया॥

हर भाव तुम्हें समझाया है
यों अपने मुख्य मनोरथ का।
स्वीकार करो संचालन अब
इस मेरे शासन के रथ का॥"

'सिद्धार्थ' कथन को सावधान—
हो सुनते रहे विरागी वे।
पर द्रवित न राज्य-प्रलोभन से
हो सके अहो! बड़भागी वे॥

अपना वक्तव्य समाप्त सभी—
कर ज्यों ही चुप नरराज हुये॥
त्यों उनसे निज निश्चय कहने—
को उद्यत वे युवराज हुये॥

बोले कि "आपको मम वचनों—
से होगी यदपि निराशा ही!
पर मुझे उचित ही लगता है,
कह देना निज अभिलाषा भी॥

हे तात! राज्य के भोगों से,
है मुझे अल्प भी प्रीति नहीं।
औ' क्षणिक चञ्चला लक्ष्मी पर
मुझको अणुमात्र प्रतीति नहीं॥

अतएव राज्य-संघर्षों में
करना न शक्ति अवरुद्ध मुझे।
कारण, पाना है मोक्ष राज्य,
कर निज कर्मों से शुद्ध मुझे।

इस राज्य रमा से नहीं किन्तु
है मुक्ति रमा से प्रेम मुझे।
औ' प्राप्त उसे ही करने में,
दिखता है अपना क्षेम मुझे॥

ये राज्य-भोग सब लगते हैं,
मुझको प्राणान्तक रोगों से।
इससे मुझको किंचित भी तो,
अनुराग नहीं इन भोगों से॥

इस राजभवन में रहना भी,
अब मुझे भार सा लगता है।
निर्ग्रन्थ दिगम्बर बनने को
मन बारम्बार उमंगता है।

निज का पर का हित करने को,
मेरा अन्तस् अकुलाता है।
नर-पशु का क्रन्दन रोदन यह
अब मुझसे सुना न जाता है॥

अजमेध-यज्ञ की बेला में,
जब बलि के अज चिल्लाते हैं।
तब मुझको ऐसा लगता है,
मानो वे मुझे बुलाते हैं॥

जब अश्व मेघ के समय अश्व,
करते हैं करुण विलाप कहीं।
तो मुझको लगता, इसी समय—
जा रोकूँ मैं यह पाप वहीं॥

मानवता थर थर काँप रही,
मानव के क्रिया कलापों से।
सुकुमार अहिंसा झुलस रही,
हिंसानल के सन्तापों से॥

अतएव अहिंसा का प्रचार—
करने की है अभिलाष मुझे।
अविलम्ब रोकना यज्ञों में
होने वाला पशु-नाश मुझे॥

है यही हेतु, जो भाते हैं—
मुझको ये भोग विलास नहीं।
औ' राजमुकुट को लेने की
मुझको किंचित् भी प्यास नहीं॥

राज्यासन पाने की लिप्सा—
से मेरा चित्त मलीन नहीं।
इससे कदापि सिंहासन पर
मैं होऊँगा आसीन नहीं॥

सिंहासन क्या ? इन्द्रासन भी,
कर सकता मुझको लुब्ध न अब ।
यह 'कुण्डग्राम' क्या ? अलका का,
वैभव कर सकता लुब्ध न अब ॥

ध्रुव सत्य मान लें आप इसे,
साम्राज्य कदापि न लूँगा मैं ।
औ' अधिक दिनों इस, राजभवन,
में भी अब नहीं रुकूँगा मैं ॥

यह राज्य त्याग वैराग्य-राज्य–
अब मैं अविलम्ब सम्हालूँगा ।
दे हर प्राणी को अभयदान,
षट् काय प्रजा को पालूँगा ॥

राजा बन नहीं मिटाया जा–
सकता जनता का क्लेश कभी ।
कारण, न किसी को सच्चा सुख,
दे सकते राज्यादेश कभी ॥

जिस राज्य-सम्पदा को सुख का,
आवास समझता लोक स्वयं ।
मैं मान रहा हूँ, उसको ही–
मधु लिप्त खड्ग की नोक स्वयं ॥

पा राज्य न कोई तृप्त हुआ,
इनसे पनपा है लोभ सदा।
औ मात्र राज्य सत्ताओं से,
ही बढ़ा प्रजा में क्षोभ सदा॥

प्रोत्साहन भीषण युद्धों को,
भी मिलता इनके द्वारा है।
जिनमें लाखों की हत्या से'
बहती शोणित की धारा है॥

छल, कपट, प्रवञ्चन बढ़ते हैं,
आश्रय विश्वास न पाता है।
सुख भोग विलास पनपते हैं,
तप संयम पास न आता है॥

इनकी छाया में हो पाता
मानवता का निर्वाह नहीं।
पर सुख से क्रीड़ा रत रहती—
है दानवता सोत्साह यहीं॥

यह ही न सगे भ्राताओं में—
बढ़ता रहता विद्वेष यहाँ।
स्वयमेव पिता की हत्या कर
बनते हैं पुत्र नरेश यहाँ॥

जीवन अशान्त कर देते हैं,
उठ अगणित अन्तर्द्वन्द यहाँ।
दुर्व्यसन सभी औ' दुर्गुण सब,
जम कर रहते सानन्द यहाँ॥

निज स्वार्थ-सिद्धि ही करने में,
लगती है सारी शक्ति यहाँ,
दारिद्रय, क्षुधा, निष्क्रियता की,
ये ही करते अभिव्यक्ति यहाँ॥

यों राजसिंहासन बनते हैं,
जनता को कटु अभिशाप यहाँ।
राजा के हर अन्याय उसे,
सहने पड़ते चुपचाप यहाँ॥

दूँ एक वाक्य में कह, तो यह—
पापों की ही चटशाला है।
इसके भीतर तम ही तम, बस,
बाहर दिख रहा उजाला है॥

अतएव अलंकृत राजमुकुट—
से करना तात! न शीश मुझे।
इस 'कुण्ड ग्राम' का नहीं, अपितु-
बनना जग का जगदीश मुझे॥

अपने चेतन का सब कल्मष,
धो बनना चिन्मय शुद्ध मुझे।
और राज्य शत्रु से नहीं, आत्म-
रिपुओं से करना युद्ध मुझे ॥

इससे ले राज्य स्वयं पथ में,
फैलाऊँगा मैं शूल नहीं।
अपने ही हाथों मैं अपने–
दृग में डालूँगा धूल नहीं ॥"

युवराज 'वीर' का निश्चय सुन,
राजा को दुःख विशेष हुवा।
रानी की इच्छा जैसा ही–,
असफल उनका उद्देश हुवा ॥

अब किन्तु उपाय न था कोई,
इससे धारण की समता ही।
प्रभु-हृदय प्रभावित करने की,
उनमें न रही थी क्षमता ही ॥

कारण, कुमार के कहने में,
उनको यथेष्ट था सार दिखा।
अतएव उन्हें अब और अधिक,
समझाना भी निस्सार दिखा ॥

अतएव उन्होंने पुनः नहीं,
छेड़ा यह राज्य प्रसङ्ग कभी।
कारण, न 'वीर' पर चढ़ सकता—
था कोई भी तो रङ्ग कभी॥

यों गृह में रहते हुये उन्हें
बीते उनतीस बसन्त अभी।
माँ और पिता के कारण पर
वे बन न सके थे सन्त अभी॥

वे एक दिवस थे बैठे रख
माथे पर दायाँ हाथ स्वयं।
इतने में मूक रुदन सुनकर,
ठनका सा उनका माथ स्वयं॥

वे क्षण भर में ही समझ गये,
पशु बलि दी जाती हाय! कहीं।
कुछ मूकों दीन निरीहों पर
होता अनुचित अन्याय कहीं॥

देवी की भेंट चढ़ाने को
होता है अज--संहार कहीं।
जगदम्बा को सन्तति के शिर
जा रहे दिये उपहार कहीं॥

मानव ने निर्बल पशुओं के,
शोणित से खेली होली है।
बलिदान हुई मख—वेदी में,
जीवित पशुओं की टोली है॥

यह समझ दया से सिहर उठे,
सोचा, मैं कैसा क्षत्रिय हूँ?
क्यों त्राण क्षतों का करने को
मैं बना न अब तक सक्रिय हूँ?

इस नव विचार के आते ही,
उनका अन्तस् संक्षुब्ध हुवा॥
वैराग्य—कमल—मधु पीने को,
उनका मन मधुकर लुब्ध हुवा॥

अब राजभवन द्रुत तजने में—
ही दिखा स्वयं का क्षेम उन्हें।
निस्सार लगा 'सिद्धार्थ'—पिता'
'त्रिशला'—माता का प्रेम उन्हें॥

सब भौतिक बन्धन व्यर्थ लगे,
उनको इतना था क्षोभ हुवा।
प्रत्येक परिग्रह से उनका—
मन पूर्णतया निर्लोभ हुवा॥

जिन-मुनि-मुद्रा अपनाने में—
ही उन्हें स्वपर का त्राण दिखा।
औ' पञ्च महाव्रत पालन में—
ही उन्हें स्वपर कल्याण दिखा॥

वे क्यों कि परिग्रह द्वारा हर—
सकते थे जग का त्रास नहीं।
जलनिधि निज जल से हर सकता—
है किसी पुरुष की प्यास नहीं॥

सब भूषण दूषण से भासे,
भूषा भूसा सी ज्ञात हुई।
निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बनना—
अब उन्हें सरलतम बात हुई॥

अपने पावन कर्त्तव्यों का—
था आज उन्होंने ज्ञान किया।
अपने अभीष्ट को पाने का
सम्यक् पथ था पहिचान लिया॥

उनके मानस से करुणा की
ऐसी निर्झरिणी आज बही।
जिसकी गति कुण्ठित कर सकते—
थे विघ्नों के गिरिराज नहीं॥

देखो, वैराग्य बढ़ाने को
क्या क्या विचार अब आते हैं ?
निज अवधिज्ञान में उन्हें पूर्व
भव कैसे आज दिखाते हैं ?

किस भाँति भावना द्वादश का
वे मन में चिन्तन करते हैं ?
किस भाँति विरक्ति-किशोरी में,
यौवन के चिन्ह उभरते हैं ?

संक्षेप रूप में ही कवि को,
यह सारा वर्णन करना है।
प्रभु-चिन्तन-सागर को छन्दों—
की लघु गागर में भरना है॥

बारहवाँ सर्ग

किसका रहता यह राज्य विभव !
राजा भी रहता कौन यहाँ !
चलता रहता है काल-चक्र,
सब देखा करते मौन यहाँ ॥

एकाकी 'वीर' विराजे थे,
नासा पर दृष्टि झुकाये थे।
इस समय उन्हें संस्मरण स्वतः,
निज पूर्व जन्म हो आये थे ॥

या भील-जन्म से अब तक का,
हर जन्म उन्हें तत्काल दिखा।
था मोहक देव स्वरूप दिखा,
नारकी रूप विकराल दिखा ॥

'नन्दन वन' का भी दृश्य दिखा,
'वैतरिणी' की भी कीच दिखी।
पर्याय उन्हें प्रत्येक उच्च—
से उच्च नीच से नीच दिखी ॥

देखा, तज स्वर्ग निगोद गया,
औ' कई बार ही कीट हुवा।
कर साठ लाख यों जन्म मरण,
'नारायण' धार किरीट हुवा ॥

हो सिंह निरन्तर हत्या की,
'चक्री' हो जय षट् खण्ड किया।
'क्षेमङ्कर' मुनि से प्राप्त पुनः
मैंने यह रत्न करण्ड किया ॥

तीर्थंकरत्व का बन्ध किया,
फिर मैं सोलहवें स्वर्ग गया।
देवेन्द्र हुवा, फिर प्राप्त यहाँ,
यह तीर्थंकर पद किया नया॥

यों देखा, पुण्य-सुधा भी पी,
औ' पापों का भी गरल पिया।
देखा विमान भी सुरपुर का,
अनुभव नरकों का पटल किया॥

उनकी विरागता और बढ़ी,
इन पूर्व भवों की गाथा से।
वैराग्य-दिवाकर की किरणें—
सी निकलीं उनके माथा से॥

वे लगे सोचने निज मन में,
मैं देख चुका भूगोल सभी।
औ' पाप-पुण्य के द्वारा मैं,
ले चुका दुःख सुख मोल सभी॥

दुर्गन्ध नरक की भी सूँघी,
सूँघी मन्दार-सुगन्ध तथा।
बाँधी 'निगोद' की आयु, किया—
तीर्थंकरत्व का बन्ध तथा॥

हो सिंह जीव-हत्याएं कीं,
मैंने गंगा के घाटों पर
हो चक्री भी साम्राज्य किया,
बत्तिस सहस्र सम्राटों पर ॥

चरणों से कुचला गया कभी
मैं होकर पथ की घास अहो ।
औ' कभी बैठ इन्द्रासन पर
सुख भोगे हैं सोल्लास अहो ॥

सुर, नर, पशु, नर्क चतुर्गति में,
अब तक अनादि से घूम चुका ।
सह चुका यातना नरकों की
औ' मचा स्वर्ग में धूम चुका ।

हो हिंसक निर्मम जीव कभी,
मैंने की हिंसा घोर अहो ।
औ' कभी अहिंसक मुनि होकर
मैं बढ़ा दया की ओर अहो ॥

क्रमशः ये दृश्य सभी उनके,
शुचि अवधि ज्ञान में चमक गये ।
गत सभी भवों के दृश्य उन्हें,
चल चित्र सदृश ही झलक गये ॥

वे लगे सोचने, कर्मों ने—
ये क्या क्या नाच नचाये हैं ?
मैंने जग-नाटकशाला में—
ये क्या क्या स्वाँग रचाये हैं ?

पापोदय से 'पुरुखा' भील—
हो मैंने पापाचार किया।
औ' पत्नी सहित अहिंसा व्रत—
मैंने मुनि से स्वीकार किया॥

व्रत फल स्वरूप मैं 'भरत' नाम—
के चक्री की सन्तान हुवा।
मम पिता 'भरत' को दीक्षा के
लेते ही केवल ज्ञान हुवा॥

मम चाचा 'बाहुबली' ने भी
शिवनगरी को प्रस्थान किया।
मम बाबा 'ऋषभ' जिनेश्वर ने—
भी शोभित मोक्षस्थान किया॥

पर मुनि के पद से डिगने से
मेरी अब तक यह रही दशा।
अब तक इन आठों कर्मों के
दृढ़तम बन्धन में अहो फँसा॥

इस चिन्तन से उनकी विरक्ति--
का रूप और अवदात हुवा।
पर राग, द्वेष औ' ममता पर
सहसा ही उल्कापात हुवा॥

भय के मारे मोहादिक सब
दुर्भाव सर्वथा दूर हुये।
भय, गर्व, अरति, आश्चर्य, खेद,
चिन्तादिक चकनाचूर हुये॥

द्वादश अनुप्रेक्षा भाने में,
अब लगी न किंचित देर उन्हें।
कोई भी बाधक तत्व नहीं'
पाये इस क्षण में घेर उन्हें॥

सोचा, अमरत्व नहीं पाते--
हैं अमर कहा भी देव कभी।
हो जाते नष्ट सुरेश्वर औ'
चक्री आदिक स्वयमेव सभी॥

हो जहाँ न मैंने जन्म लिया,
ऐसा है कोई देश नहीं।
रह नहीं सका मैं इन्द्र सदा,
रह सका सदैव नरेश नहीं॥

१—अनित्यानुप्रेक्षा

औ' नहीं रहेगा बना सदा,
मेरा यह सुन्दर देह अहो।
अन्यत्र अलभ सुन्दरता का,
जो है लोकोत्तर गेह अहो॥

[२]कोई इसको न बचा सकता,
इसमें किंचित् सन्देह नहीं।
विपदा की बेला आने पर
दिखलाता कोई स्नेह नहीं॥

आदीश-जन्म में बरसायी,
जिनने रत्नों की धार यहीं।
वे कहाँ गये ? जब प्रभुवर को,
षट् मास मिला आहार नहीं॥

जिन 'रामचन्द्र' ने 'सीता का'
'रावण'-गृह से उद्धार किया।
उस गर्भवती को उनने ही
वन भेज क्रूर व्यवहार किया॥

[३]अतएव सकल सांसारिक सुख,
मधु से लिपटी असिधारा है।
इससे सुख की आशा करना,
अतिशय अज्ञान हमारा है॥

---

२. अशरणानुप्रेक्षा। ३ संसारानुप्रेक्षा।

जैसे अमृत का दान कभी,
दे सकता विषधर नाग नहीं।
वैसे सच्चा सुख दे सकता,
सांसारिक सुख का राग नहीं ॥

इनमें फँसने से ही प्राणी,
चारों गतियों में नाच रहा।
औ' सच्चा हीरा समझ जुटा
हर भव में कच्चा काँच रहा ॥

[४]निश्चय ही क्षणभङ्गुर यह
पुरजन परिजन का नाता है।
यह जीव अकेला ही आता-
है तथा अकेला जाता है ॥

वह यहाँ अकेला ही भोगा-
करता है दुख-आनन्द सभी।
औ' स्वयं अकेले ही गाता-
है विरह-मिलन के छन्द सभी ॥

हर पुण्य पाप की पोथी को,
यह स्वयं अकेले पढ़ता है।
सब अशुभ तथा शुभ कर्मों की
हर मूर्ति अकेले गढ़ता है ॥

---

४. एकत्वानुप्रेक्षा।

[5] ज्यों सौरभ पृथक् स्वतन्त्र वस्तु,
परतन्त्र बना पर फूलों में।
त्यों तन से चेतन पृथक् वस्तु,
नर एक समझता भूलों में॥

चेतन ज्यों का त्यों रहता है,
तन मात्र बिगड़ता बनता है।
पर इसकी अन्य विकृति अपनी-
ही विकृति समझती जनता है॥

तन त्यों ही बदला करता है,
बदला करता नर बाना ज्यों।
जब यही नहीं है अपना तो,
फिर इससे प्रीति लगाना क्यों?

[6] यह तो अत्यन्त अपावन है,
पद-नख से शिर के बालों तक।
पुजने वाले पद से, चूमे-
जाने वाले मृदु गालों तक॥

भीतर यह महा भयानक है,
बाहर दिखता अलबेला है।
भीतर प्रदर्शिनी मज्जा की,
बाहर सज्जा का मेला है॥

---

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा। ६. अशुच्यानुप्रेक्षा।

प्रतिदिन मल मल कर धोते हैं,
बाहर के मल को भोले जन।
पर यदि भीतर का मल बाहर-
हो तो न नयन भी खोले जन॥

[7]मिथ्यात्व-मद्य को पीने से-
ही हुवा महा उन्माद इसे।
कर रहे निमग्न भवोदधि में,
व्रत हानि, कषाय प्रमाद इसे॥

यह जीव वृथा ही औरो को,
निज महा शत्रु है मान रहा।
वास्तविक शत्रु तो आश्रव है,
पर इसे न यह पहिचान रहा॥

यह आस्रव रोक मुझे करना
निज कर्मों को उन्मूल स्वयं।
भव सागर-पार पहुँच पाना-
है मुक्ति नाम का कूल स्वयं॥

[8]अतएव बनूँगा निर्मोही,
अविलम्ब त्याग कर मोह सभी।
अनुराग किसी से नहीं, किसी-
से नहीं करूँगा द्रोह कभी॥

---

७. आस्रवानुप्रेक्षा। ८. संवरानुप्रेक्षा।

मैं समिति, महाव्रत, इन्द्रिय-जय
मन वचन कर्म के संयम से ।
कर्मों के आस्रव का संवर,
प्रारम्भ करूँगा निज श्रम से ॥

अनुप्रेक्षा, धर्म, परीषद-जय,
धारण करना उपयुक्त मुझे ।
कारण, ये ही तो कर्मों से,
कर सकते क्रमशः मुक्त मुझे ॥

*संवर से होगा नहीं नये-
कर्मों का मुझसे योग पुनः ।
पूर्वार्जित कर्मों के क्षय का,
करना होगा उद्योग पुनः ॥

अति घोर तपस्या करने से,
हो जायेगा यह कार्य सरल ।
अविपाक निर्जरा होने से
भागेंगे सारे कर्म निकल ।

मैं एक एक कर आठों ही
कर्मों को शीघ्र खिराऊँगा ।
इनका अब तक आतिथ्य किया,
अब इन्हें निकाल भगाऊँगा ॥

---

*. निर्जरानुप्रेक्षा ।

[10]चिरकाल लोक में मुझको इन,
कर्मों ने भ्रमण कराया है।
सुर नर पशु नर्क चतुर्गति में,
मुझको अब तक भटकाया है ॥

पर इन्हें खिरा अब देने पर,
धरना होगा न शरीर पुनः।
औ' नहीं मरण की चिन्ता से,
होगा मम चित्त अधीर पुनः ॥

देवेन्द्र नरेन्द्र नहीं बनना-
होगा फिर बाँध किरीट कभी।
बनना न नारकी भी होगा,
होना न पड़ेगा कीट कभी ॥

[11]अगणित ही बार यहाँ मुझको
दुर्लभ मानव का रूप मिला।
नारायण-पद भी प्राप्त हुवा,
चक्री पद चारु अनूप मिला ॥

पर मैंने न किया अब तक भी,
रत्नत्रय का संकलन कभी।
औ' आत्म बोध के अमृत से
की दूर न भव की जलन कभी ॥

---

१० लोकानुप्रेक्षा ११ बोधि दुर्लभनुप्रेक्षा

अतएव शीघ्र हो अब तो मैं,
आध्यात्म ज्ञान का लाभ करूँ।
इस परम ज्योति की आभा से,
अब अपने को अमिताभ करूँ॥

[१२]इस युग में 'ऋषभ' जिनेश्वर ने,
जो मुनि का धर्म चलाया है।
जो परम्परा से तब से ही,
अब तक भी चलता आया है॥

है आज वही अपनाने में,
मेरी वास्तविक भलाई अब।
इस धर्म-कवच को बाँध अतः,
कर्मों पर करूँ चढ़ाई अब॥

उत्तम क्षमादि दश योद्धा ले,
कर्मों पर जय सोल्लास करूँ।
कैवल्य-प्राप्ति के लिये सतत,
तप-संयम का अभ्यास करूँ॥

द्वादश-अनुप्रेक्षा-चिन्तन से,
अवशिष्ट ममत्व विलीन हुवा।
तत्क्षण वैराग्य वहाँ उसके-
सिंहासन पर आसीन हुवा॥

---

१२. धर्मानुप्रेक्षा

इससे ही उसने राजभवन—
को तृण समान ही लेखा था।
तन के वसनों आभरणों को,
अति तुच्छ दृष्टि से देखा था॥

अविलम्ब उन्हें तज राजभवन,
वन में जा दीक्षा लेना था।
भव-सिन्धु कूल पर जाने को,
निज जीवन नौका खेना था॥

अतएव पिता औ' माता से,
आज्ञा लेने वे वीर गये।
अति कोमल वाणी में बोले,
इस भाँति वाक्य गम्भीर नये॥

"अब आज मुझे जग के वैभव—
से है विशेष निर्वेद हुवा।
उनतीस वर्ष जो खोये हैं,
उनका अतिशय ही खेद हुवा॥

इतना जीवन खो दिया वृथा,
धारा अब तक मुनिवेश नहीं।
त्यागे तन के परिधान नहीं,
स्वयमेव उखाड़े केश नहीं॥

अब तक अनेक हो बार यदपि,
मेरे मन में यह द्वन्द चला।
पर बिना आपकी आज्ञा के,
मैं नहीं कभी स्वच्छन्द चला॥

जब तक न तपस्या करता मैं,
तब तक है मेरी कुशल नहीं।
इससे इस मेरी अभिलाषा —
को आप करें अब विफल नहीं॥

दीक्षा लेने की आज्ञा दें,
पाने दें आत्मिक शान्ति मुझे।
औ' सत्य, अहिंसा के द्वारा
करने दें धार्मिक क्रान्ति मुझे॥

तप की ज्वाला में सोने सा,
होने दें निर्मल शुद्ध मुझे।
निर्वाण लाभ हित करने दें,
आठों कर्मों से युद्ध मुझे॥"

'त्रिशला' के नन्दन मौन पुनः;
इन शब्दों के ही साथ हुये।
उनके समझाने को उद्यत,
अब 'कुण्डग्राम' के नाथ हुये॥

बोले—"जो कुछ तुम कहते हो,
वह निराधार निस्सार नहीं ।
पर तव वियोग को सहना तो,
मेरे मन को स्वीकार नहीं ॥

इससे मेरा यह कहना है,
तुम राज्य अभी सोत्साह करो ।
रह राजभवन में ही अपने,
व्रत नियमों का निर्वाह करो ॥

कर रहे शीघ्रता क्यों इतनी ?
जब निश्चित मिलना सिद्धि तुम्हें ।
स्वयमेव प्राप्त हो जाना है,
इस भव में मुक्ति-समृद्धि तुम्हें ॥

अतएव नहीं तुम कर्मों के,
क्षय करने का कुछ सोच करो ।
यह राज्य सम्हालो, मन में मत,
किंचित् भी तो सङ्कोच करो ॥"

सुन प्रभु ने कहा—"उठायें फिर,
वह ही प्राचीन प्रसङ्ग नहीं ।
इस राज्य-प्रलोभन का मेरे—
मन पर चढ़ सकता रङ्ग नहीं ॥

यह राजपाट क्षणभंगुर है,
यह नहीं सदैव ठहरता है।
निज पुण्य क्षीण हो जाने पर,
क्षण में सब ठाट बिखरता है॥

भूगोल यही बतलाता है,
बतलाता है इतिहास यही।
जाने कितनों ने राज्य किया,
पर रहा किसी के पास नहीं॥

षट् खण्ड जिन्होंने राज्य किया,
सम्राट् 'भरत' वे आज कहाँ?
उन पर भी जय पाने वाले,
वे बाहूबलि नरराज कहाँ?

'कैलाश' उठाने वाले वे,
'रावण' लंका के ईश कहाँ?
औ' उन्हें हराने वाले भी,
वे 'रामचन्द्र' जगदीश कहाँ?

यों इस भू पर जाने कितने–
ही भूपों के अधिकार हुये।
यों इस नभ के नीचे जाने–
कितनों के जय जयकार हुये॥

यह अवनि किसी की नहीं, किसी-
का भी तो यह आकाश रहा।
शासक कहलाने वालों पर,
भी शासन करता नाश रहा॥

मैं भी नारायण, चक्री का,
पद पाया, सब अनुकूल हुवा।
पर पलक सदा को मुँदते ही,
सब कुछ पल भर में धूल हुवा॥

किसका रहता यह राज्य विभव,
राजा भी रहता कौन यहाँ!
चलता रहता है काल-चक्र,
सब देखा करते मौन यहाँ॥

अनुमति दें, तप-तरणी से,
मैं पार करूँ भवसागर यह।"
हो मौन विशेष प्रशान्त हुये,
इतना वे ज्ञान-दिवाकर कह॥

सुन राजा राज्य-विषय पर फिर-
कह सके अन्य उद्गार नहीं।
पर उनके मन की ममता ने,
मानी अब भी थी हार नहीं॥

कह उठे–"न लो यह राज्य किन्तु,
सोचो पुनरपि इस निश्चय पर।
बस, एक बार दो और ध्यान,
मेरे कहने के आशय पर॥

सोचो, यदि तुम वन चले गये,
माँ नित्य भिगोयेंगी अञ्चल।
कारण, बस तुम ही हो इसकी––
इस वृद्धावस्था के सम्बल॥

इसका तुम पर है मोह अधिक,
इसको पीड़ा पहुँचाओ मत।
बस, सोच दशा भर इसकी ही,
तुम राज भवन से जाओ मत॥"

हो पिता न सुत के अन्तस् को––
उनने अब तक पहिचाना था।
अब तक न 'वीर' की हिमगिरि सी––
दृढ़ता को उनने जाना था॥

सम्भवतः इस ही कारण से
इन शब्दों का उच्चार किया।
उत्तर में 'सन्मति' ने यों फिर
सूचित अपना उद्‌गार किया॥

"हे पिता ! जगत की संस्थिति पर,
हो कर गम्भीर विचारो तो।
अपने अन्तस् में ममता की—
यह चादर आज उतारो तो॥

जितने भी हैं सम्बन्ध यहाँ,
सब मात्र मोह की छलना है।
तप में न वृथा ही विघ्न बनो,
होनी को भी कब टलना है !

मैंने हैं जन्म अनन्त धरे
त्रिभुवन का कण कण छाना है।
जाने कितने माँ पिता हुये,
पर किसका कहाँ ठिकाना है॥

इस उत्तर से भी 'त्रिशला' की,
आशा न हुई थी छिन्न अभी।
समता से ममता के गढ़ को,
वे कर न सकीं थी भिन्न अभी॥

अत्यन्त असह्य दिखाता था,
यह भावी पुत्र-बिछोह उन्हें।
'सन्मति' को आज मनाने को
ही मना रहा था मोह उन्हें॥

बोलीं—'तुमको समझाने की—
मति पाऊँ मैं अनजान कहाँ ?
पर नहीं लगा क्या सकते हो,
तुम राज भवन में ध्यान यहाँ ?

चाहे जो भी तप यहाँ करो,
आवश्यकता क्या वन जाने की ?
जो साधन लगें, व्यवस्था द्रुत,
करवा दूं मैं उन्हें मँगाने की ॥

वन जाने में क्या सार रखा !
हैं वहाँ कँटीली झाड़ी ही।
वन में तो रहते हैं केवल,
वन मानुष, मूर्ख, अनाड़ी ही ॥

औ' वहाँ लटकते रहते हैं,
विष धर वृक्षों की डाली पर।
अजगर भी लेटे रहते हैं,
भू पर फैली हरियाली पर ॥

बिच्छू भी होते हैं, रहते—
हैं विषमय जिनके डङ्क सदा।
वनराज दहाड़ा करते हैं,
रहता उनका आतङ्क सदा ॥

अतएव विपिन की ओर पुत्र !
निज कोमल चरण बढ़ाओ मत।
यह क्वांरा अभी सताया है,
अब आगे और सताओ मत ॥"

'सन्मति' ने देखा, माता के—
समझाने का यह ढङ्ग सभी।
फिर बोले—"माँ ! न करो चिन्ता,
सह सकते हैं मम अङ्ग सभी ॥

सिंहों के गर्जन से भययुत,
होंगे मेरे परिणाम नहीं।
औ' देख विषैले जीवों को,
मैं लूँगा डर का नाम नहीं ॥

यह समझो, तन मेरा नहीं तथा,
मेरा तो है यह चेतन भर।
तुम भी तन का मत सोच करो,
दो ध्यान विशेष निवेदन पर ॥

नर तन जो पाया है मैंने,
उससे मुझको तप तपने दो।
जो कण्ठ मिला है उससे बस—
अब 'सोऽहं' 'सोऽहं' जपने दो ॥"

इस 'परम ज्योति' से दोनों के,
मन का ममत्व सब दूर हुवा।
उन 'महावीर' को समझाने—
का सारा उद्यम चूर हुवा॥

दोनों हो गये निरुत्तर थे,
सुन कर उनके इस उत्तर को।
क्या पथ के कङ्कड़ रोक सके,
अविरत गतिशाली निर्झर को॥

देखो, त्रिशला' के प्राङ्गण में,
लौकान्तिक देव उतरते हैं।
प्रभु की वैराग्य-प्रशंसा भी,
वे किन शब्दों में करते हैं॥

—+—

तेरहवाँ सर्ग

इस भाँति अटल हो बैठे वे,
जिस भाँति अटल ध्रुवतारा था।
कर रहा चकित नभ-तारों को,
'त्रिशला' नयनों का तारा था॥

'सन्मति' के मानस-अम्बर पर
फहरी वैराग्य-पताका थी।
भग गयी अमा थी ममता की,
आयी समता की राका थी॥

हो चुके पूर्णतः छिन्न भिन्न,
सब राग द्वेष के तागे थे।
औ' वीतरागता के पावन—
सद्भाव हृदय में जागे थे॥

अतएव तपस्या करने को
जाना था उन्हें वनस्थल अब।
जंगल में होने वाला था,
उनका यह दीक्षा-मंगल अब॥

ज्यों परिजन पुरजन ने जाना,
होगा उनका प्रस्थान अभी।
त्यों राजभवन की ओर चले,
करते उनका गुण गान सभी॥

प्रौढ़ाएँ उनके नीराजन—
के हेतु सजाने थाल लगीं।
बालाएँ उनके दर्शन को,
छत पर आने तत्काल लगीं॥

माँ लगीं सिखाने बच्चों को,
करना प्रभुवर का वन्दन यों।
कर जोड़ नवाना शीश तुरत,
निकलें वे त्रिशला-नन्दन ज्यों॥

अति भक्ति भाव से गद्गद हो
करना जयकार समादर से।
बरसाना उन पर पुष्पों की
पंखुड़ियाँ गृह की छत पर से॥

यों इसी विषय की चर्चा थी,
नगरी की सभी दिशाओं में।
जो बिजली जैसी फैल रही—
थी आस पास के गाँवों में॥

औ' इधर 'वीर' मुँह माँगा धन,
देते जाते थे दीनों को।
श्रीमन्त बनाते जाते थे,
वे आज सभी श्रीहीनों को॥

कर डाला दीन दरिद्रों का,
दारिद्रय सर्वथा दूर सभी।
दे डाले तन के भूषण तक
कण्ठी, कुण्डल, केयूर सभी॥

अतएव अलौकिक दृश्य वहाँ,
उस दिन दिखलायी देता था।
सुख भोग त्याग पर तुला हुवा,
वह योग-मार्ग का नेता था॥

यह जान वन्दना करने को,
आये लौकान्तिक देव वहाँ।
कर वन्दन 'त्रिशला नन्दन' का
वे बोले यों स्वयमेव वहाँ॥

"था अभी आपकी सत्ता से,
यह राजभवन ही धन्य प्रभो।
अब किन्तु आपको पाकर हो—
जायेगा धन्य अरण्य प्रभो॥

क्षयशील विनश्वर अम्बर ही
थे अब तक नव परिधान विभो।
अब अक्षय अम्बर-अम्बर से
होवेंगे शोभावान विभो॥

जब आप त्याग कर चल देंगे,
यह जन्म भूमि का धाम प्रभो।
तब नहीं रोक भी पायेगा,
यह 'कुण्ड' नाम का ग्राम प्रभो॥

हैं धन्य आप, जो इस वय में,
निर्ग्रन्थ वेष को धारेंगे।
कोमल तन से कर तप कठोर
चेतन का रूप निखारेंगे॥

औ' 'कुण्ड ग्राम' के ही न अपितु,
त्रिभुवन के नाथ कहायेंगे।
केवल न यहाँ के पुरजन ही,
शत इन्द्र स्वमाथ नवायेंगे॥

हम अतः आपका यह दीक्षा—
कल्याण मनाने आये हैं।
निज मार्ग प्रदर्शक प्रति श्रद्धा—
से शीश झुकाने आये हैं॥

जिन-मुनि की मुद्रा धारण कर,
होवेंगे आप मुनीश प्रभो।
कर आत्म योग का साधन फिर
हो जायेंगे योगीश प्रभो॥

इस युग का है सौभाग्य महा,
जो मिला आपसा नेता है।
जिसने सिंहासन त्यागा है,
जो सच्चा काम-विजेता है॥

वैराग्य आपका धन्य कि जो,
है रहा किसी से स्नेह नहीं।
औ' आज रोकने पाता है,
यह राज्य नहीं, यह गेह नहीं॥

अतएव आपके दर्शन कर
अति धन्य हमारे नेत्र हुये।
देवों के द्वारा पूज्य सदा—
को'कुण्ड ग्राम' के क्षेत्र हुये॥

कथनीय नहीं वह शब्दों से,
जो आज हमें आनन्द हुवा।
हे ज्ञान सूर्य! तव दर्शन कर
अज्ञान-निशाकर मन्द हुवा॥

निश्चय तव धर्म-प्रचारण से,
सारी जगती सुख पायेगी।
हिंसा का पतझड़ बीतेगा,
करुणा की मधु ऋतु आयेगी॥

अत्यन्त मन्द हो जायेगा,
पापों का भी व्यापार यहाँ।
औ' आत्म धर्म हो जायेगा,
हर आत्मा में साकार यहाँ॥

मिथ्यात्व त्याग कर, जन-मन-गण,
सम्यक्त्व सुरुचि से पालेगा ।
तव परम ज्योति का दर्शनकर,
अपने में ज्योति जगा लेगा ॥

तव पथ पर चल कर खोलेंगे,
जाने कितने निज पाश यहाँ ?
जाने कितने कर डालेंगे,
अपने कर्मों का नाश यहाँ ?

अतएव आपके चरणों में,
अर्पित कर श्रद्धा-फूल प्रभो ।
हम लगा रहे निज मस्तक पर,
इन चरणों की यह धूल प्रभो ॥"

लौकान्तिक देवों ने यह कह,
मस्तक नत बारम्बार किये ।
फिर उनके माता तथा पिता-
से सूचित यों उद्गार किये ॥

"हे पूज्य ! वस्तुतः आज आप-
दोनों का है सौभाग्य महा ।
जो स्वतः आपके प्रिय कुमार,
को उपजा है वैराग्य महा ॥

अत्युक्ति नहीं कह रहे, आप-
का पुत्र बड़ा बड़भागी है ।
जो बिना किसी की शिक्षा के,
इनमें विरागता जागी है ॥

इसको सौभाग्य समझिये, जो-
है इन्हें आत्म-अनुभूति हुई ।
हम देव तरसते हैं जिसको,
इनको वह प्राप्त विभूति हुई ॥

अतएव आज इस बेला में,
त्यागें निज मन की ममता सब ।
सम दृष्टि बना सुत, अतः आप-
दोनों ही धारें समता अब ॥

हम अमर कहा भी अमर न, पर-
पायेंगे अमर अमरता ये ।
हम सिद्धि लिये भी 'सिद्ध' नहीं,
होंगे प्रसिद्ध शिवभर्त्ता ये ॥

इनमें कितनी है शक्ति भरी ?
इसका कोई परिमाण नहीं ।
जीतेंगे आठों कर्म, किन्तु-
लेंगे त्रिशूल या बाण नहीं ॥

त्रिशले ! हम भाग्य सराहें क्या
अब आज आप सी माता का !
जिनने स्वकुक्षि के मध्य किया
निर्माण सुपथ–निर्माता का ॥

अतएव आपके चरणों में,
नत आज हमारा माथा है।
औ' आज हमारी वाणी भी
गाती तव गौरव–गाथा है ॥"

यों उनने सविनय वाणी में,
माँ और पिता का मान किया।
सुन जिसे उन्होंने भी अपने,
उर में समता का भान किया ॥

निज भाग्य कल्पना कर उनका,
मन फूला फिर न समाया था।
देवों के नम्र प्रबोधन ने,
उनका सब मोह भगाया था ॥

इससे सहर्ष वन जाने की
अनुमति दी राजा रानी ने।
पाया अब निज वास्तविक रूप,
इस पावन काव्य कहानी ने ॥

जिस कामदेव के वश में हो,
'रावण' ने हर ली 'राम-प्रिया'।
खो दिया राज्य 'त्रय-खण्डों का'
औ' डुबा वंश का नाम दिया ॥

जिस मकरध्वज ने अपना ध्वज
'शान्तनु' पर भी फहराया था।
उन 'भीष्म पिता' को मछियारे,
का हा! दामाद बनाया था ॥

जिस पञ्चबाण ने 'उपश्रेणिक'
पर भी निज बाण चलाया था।
वनवासी-भील सुता के सँग,
उनका परिणयन कराया था ॥

जिसने उन 'विश्वामित्र' तपी
से ऋषि का हृदय मलीन किया।
औ' डिगा 'मेनका' के द्वारा,
उनका सारा तप छीन लिया ॥

उस कामदेव की सेना के
द्वारा भी हारे 'वीर' नहीं।
क्या तृण से क्षोभित हो सकता—
है क्षीरोदधि का नीर कहीं ॥

जिस राज्य निमित्त 'भरत' ने रण,
श्री 'बाहूबलि' के सङ्ग किया।
भ्राता पर चक्र चला कर निज,
कुल मर्यादा को भङ्ग किया ॥

जिस राज्य लोभ में आ 'रावण'
ने था छलमय व्यवहार किया।
'उपरम्भा' को आश्वासन दे,
कर स्वार्थ सिद्ध दुतकार दिया ॥

सुत को जो राज्य दिलाने को,
'केकई' ने जाल बिछाया था।
वनवास 'राम' को भी चौदह—
वर्षों के लिये दिलाया था ॥

जिस राज्य-मोह ने 'कंस राज'
का हृदय दया से हीन किया।
निज बहिन 'देवकी' के पुत्रों—
की हत्या करने में लीन किया ॥

जिस राज्य हेतु 'दुर्योधन' ने,
भ्राताओं सँग सँग्राम किया।
'कुरुक्षेत्र'—समर में अगणित ही,
वीरों का काम तमाम किया ॥

पाकर जो राज्य धरोहर वत्,
श्री 'वीर दमन' ललचाये थे।
'श्रीपाल' भतीजे से लड़ने—
में भी वे नहीं लजाये थे॥

उस राज पाट की 'सन्मति' ने
की किंचित् भी अभिलाष नहीं।
उन अनासक्त को बाँध सके,
उस राज्य-रमा के पाश नहीं॥

उस 'कुण्ड ग्राम' का सिंहासन'
उनने ऐसे सोल्लास तजा।
जैसे कि कुलीन सदाचारी,
करते हैं जूठा ग्रास तजा॥

उनमें अब किसी परिग्रह के—
प्रति था किंचित् भी लोभ नहीं।
अतएव उन्हें सर्वस्व दान—
कर देने में था क्षोभ नहीं॥

अब तक तो थे वे भाग्यवान,
अब बनना था भगवान उन्हें।
इससे सम्पूर्ण परिग्रह को,
तजने का ही था ध्यान उन्हें॥

दीक्षा लेने के पूर्व खुला,
उनने स्वकोष का द्वार दिया।
ले लो, जिसको जो लेना हो,
ऐसा सबको अधिकार दिया॥

जिनसे जितना बन सका, लिया—
उस क्षण में लेने वालों ने।
निज सात पीढ़ियों तक को धन,
पा लिया दीन कंगालों ने॥

खाने वे छप्पन भोग लगे
हो जाते थे उपवास जिन्हें।
घृत दीप लगे जलने उनके,
मिलते थे रूखे ग्रास जिन्हें॥

उस समय 'कल्पतरु' 'कामधेनु',
'चिन्तामणि' से बढ़ 'वीर' लगे।
रत्नों को देते हुये दान,
रत्नाकर से गम्भीर लगे॥

इस भाँति उन्होंने जिन जिन को,
अपना वैभव सविवेक दिया।
उनने कृतज्ञता से उनके,
चरणों पर मस्तक टेक दिया॥

सब बाह्य परिग्रह त्याग चले,
वे यों अत्यन्त कुशलता से।
इन सङ्ग परिग्रह अन्तरङ्ग,
भी त्याग चले निश्छलता से॥

उद्यत हो गये तपस्या को,
पर कर में लिया त्रिशूल नहीं।
औ' वाहन रूप किसी वृष को
रखने की भी की भूल नहीं॥

अवलोक उन्हें यों वन जाते,
सबको आश्चर्य विशेष हुवा।
हर दर्शक को कौतूहल का—
उत्पादक उनका भेष हुवा॥

छुट रहे पिता माँ बान्धव थे,
फिर भी था उनको शोक नहीं।
पर परिजन, पुरजन आज सभी
पाते थे आँसू रोक नहीं॥

खल रहा 'वीर' का जाना था,
उनके सब बाल-सखाओं को।
लगता था, असह उन्हें, सहना—
अब भावी विरह-व्यथाओं को॥

पर 'महावीर' की मुख मुद्रा—
में झलक रही अति समता थी।
अब उन्हें शत्रु से द्वेष न था,
औ' नहीं मित्र से ममता थी॥

अति निर्विकार वे दिखते थे,
इस गेह त्याग के अवसर में।
करुणा का सागर लहर रहा—
था उनके दृग की गागर में॥

एवं भोले मुखमण्डल पर,
दिखती थी ज्योति सरलता की।
ये चिह्न सूचना देते थे,
भावी-संसिद्धि-सफलता की॥

चरणों में थी दृढ़ शक्ति भरी,
शङ्का थी नहीं फिसलने की।
अब लक्ष्य प्राप्ति थी निश्चित नहीं,
देरी थी केवल चलने की॥

युवराज-विशेषण छुटता है,
इसका उनको अवसाद न था।
मुनिराज-परम-पद मिलता है,
इसका उनको उन्माद न था॥

बस, वीतराग ही रहने में,
दिखता था अब तो सार उन्हें।
सागार धर्म तज करना था,
अनगार धर्म स्वीकार उन्हें॥

पर योग-साधना द्वारा भी,
पानी थी कोई सिद्धि नहीं।
औ' कठिन तपस्या कर भी तो,
पानी थी कोई ऋद्धि नहीं॥

है सिद्धि ऋद्धि में सीमित सुख,
पाना था सुख निस्सीम उन्हें।
इससे लौकिक सीमाएँ तज,
बनना था आज असीम उन्हें॥

उनतीसवर्ष त्रय मास बीस—
दिन की वय में पाने चिर सुख।
मगसिर कृष्णा की दशमी को,
शिव-पथ की ओर हुये उन्मुख॥

जब 'चन्द्र प्रभा' शिविका पर हो—
आरूढ़ चले वे त्रिशला-सुत।
तब अपलक नयनों से दर्शनीय,
था दृश्य वहाँ का अति अद्भुत॥

घेरे थे उनकी शिविका को,
नर, नारी, विद्याधर औ' सुर।
पशु-पक्षी तक में उपजे थे,
उनके प्रति श्रद्धा के अँकुर ॥

ली उठा मनुष्यों ने शिविका,
सब महामोद के सङ्ग चले।
विद्याधर, सुर भी तो शिविका,
लेने को लिये उमङ्ग चले ॥

क्रमशः फिर विद्याधरों, सुरों-
ने की शिविका सोल्लास वहन।
आ गया शीघ्र यों 'शान्ति खण्ड'
नामक दीक्षा-उद्यान गहन ॥

अब यहाँ 'वीर' की दीक्षा का,
आयोजन हुवा मनोहर था।
अतएव वहाँ की पावनता-
का वर्णन वचन-अगोचर था ॥

आम्रों पर बैठीं पिक-वधुएँ,
करतीं थीं गान सहर्ष वहाँ।
दिखता था प्राकृत जीवन क्रम-
का मूर्तिमान आदर्श वहाँ ॥

विकसित सुमनों के छल से हो,
मानो सारा वन हँसता था।
थी नहीं कृत्रिमता किंचित् भी,
सब कुछ निसर्गतः लसता था॥

कण कण पर शान्ति थिरकती थी,
इससे वन अधिक सुहाता था।
निज मौन-गिरा में हर दर्शक
को शान्ति सँदेश सुनाता था॥

'सन्मति' को इसी तपोवन में,
निर्ग्रन्थ दिगम्बर होना था।
अतएव स्वभाग्य सराह रहा,
इस कानन का हर कोना था॥

शिविका विलोकते ही गाया,
मधु स्वागत गान विहङ्गों ने।
अपने अन्तस् की पुलकन भी
सूचित की सभी कुरङ्गों ने॥

पर नहीं एक भी तो वनचर,
उस समय वहाँ संक्षुब्ध हुवा।
दीक्षा-उत्सव के दर्शन को
हर पशु-पक्षी था लुब्ध हुवा॥

कारण, अब उनको प्राप्त हुवा,
ऐसा करुणामय त्राता था।
जो जीव मात्र के प्रति हर क्षण,
निज मैत्री भाव दिखाता था॥

अतएव विलोक उन्हें सबने,
सौभाग्य सराहा आँखों का।
अब तक उनसा न सुरूप दिखा,
देखा स्वरूप था लाखों का॥

जिनके दर्शन को देव स्वर्ग-
को त्याग धरा पर आते थे।
औ' इन्द्र स्वयं निज माथे पर,
जिनकी पद धूल लगाते थे॥

वे ही अब आज वहाँ उनके,
सहवासी बनने आये थे।
इस ही कारण वनवासी सब,
तब फूले नहीं समाये थे॥

उस क्षण मङ्गल साकार हुवा,
उस जङ्गल के हर कण कण में।
'सन्मति' उस सुन्दर शिविका से,
नीचे उतरे थे जिस क्षण में॥

तत्काल सभी ने भाव सहित,
निज भाल सहर्ष झुकाये थे।
हो नम्र विटप-शाखाओं ने,
श्रद्धा से फूल चढ़ाये थे॥

यों 'शान्ति खण्ड' के कण कण ने,
उनका स्वागत सत्कार किया।
जिसको जितनी थी शक्ति मिली,
उसने उसके अनुसार किया॥

हो गया समीरण शान्त तथा,
मल रहित शुभ्र आकाश हुवा।
यों शुभ सूचक प्रत्येक शकुन,
उस समय बिना आयास हुवा॥

आसीन रत्नमय एक शिला-
पर ज्यों ही 'वीर' कुमार हुये।
त्यों ही तो दशों दिशाओं में,
गुञ्जित उनके जयकार हुये॥

उत्तर को मुख कर बैठे वे,
फिर क्रमशः सब शृंगार तजे।
तन के सब ही परिधान तजे,
एवं सब मुक्ताहार तजे॥

शूलों से रक्षा हेतु रखीं—
तक नहीं पादुका चरणों में।
औ' गिना उन्होंने छतरी तक—
को भी बाधक उपकरणों में॥

वस्त्रों की कौन कहे? तन पर,
तागा तक नहीं बचाया था।
हो जात रूप निज काया को,
उनने निर्ग्रन्थ बनाया था॥

कोई न बनाया गुरु अपना,
औ' बने नहीं भी चेले वे।
स्वयंमेव बनाने को निज पथ,
उद्यत हो गये अकेले वे॥

चिमटा भी उनने लिया नहीं,
बाँधा न कहीं मृग छाला भी।
औ' नहीं कण्ठ में डाली थी,
उनने रुद्राक्षी माला भी॥

यों विधिवत् चौदह अन्तरङ्ग,
दश बाह्य परिग्रह छोड़े थे।
पश्चात् विनय से सिद्धों को,
अपने दोनों कर जोड़े थे॥

महावीर की दीक्षा
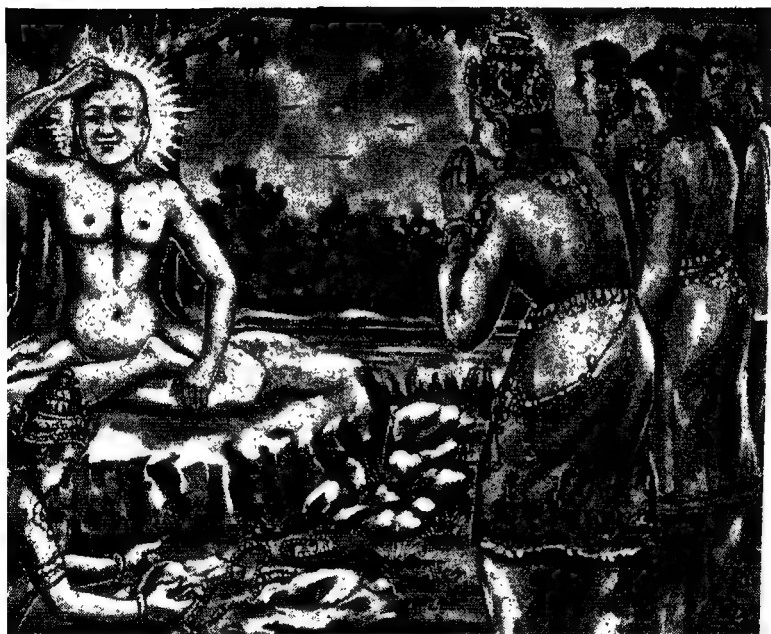
शिरपर के केश लगे उनको,
निज पथ के बाधक कण्टक से।
इससे उखाड़ कर पञ्चमुष्टि-
से दूर किया निज मस्तक से।।

(पृष्ठ ३६१)

फिर अन्तर्मुखी स्वदृष्टि बना,
उनने भीतर को झाँका था।
तन का वैभव तज चेतन का,
अविनश्वर वैभव आँका था॥

शिर पर के केश लगे उनको,
निज पथ के बाधक कण्टक से।
इससे उखाड़ कर पञ्च मुष्टि—
से दूर किया निज मस्तक से॥

टल गये केश, आ गयी अतः,
अब और विशेष अटलता थी।
एवं आरम्भ परिग्रह की—
रह गयी न शेष विकलता थी॥

जिस जिसको समझा पर पदार्थ,
उस उसको दूर हटाया था।
निज के अट्ठाइस मूल गुणों—
से निज चैतन्य सजाया था॥

मन, वचन, काय को शुद्ध बना,
बैठे निश्चल परिणाम किये।
दर्शक स्व वास को लौट चले,
मन में संस्मृति अभिराम लिये॥

इस भाँति अटल हो बैठे वे,
जिस भाँति अटल ध्रुवतारा था।
कर रहा चकित नभ-तारों को,
'त्रिशला'-नयनों का तारा था॥

उनकी प्रदक्षिणा देते थे,
दिन पति प्रति दिन ही आदर से॥
राकेश उतारा करते थे,
नीराजन नित्य समादर से॥

आओ, अब देखें भाग्य-उदय—
हो रहा कहाँ किस दाता का?
आहार प्रथम अब कहाँ ग्रहण,
करता सुत त्रिशला-माता का?

———

चौदहवाँ सर्ग

चाहे विपत्ति जो आये सब,
सह लेते थे वे समता से।
निज निश्चय नहीं बदलते थे,
डर कर पथ की दुर्गमता से॥

अति शान्त भाव से ध्यान निरत,
थे विश्व शान्ति के दूत वहाँ।
कर रहे अर्थ थे सिद्ध स्वयं,
अब वे सिद्धार्थ-सपूत यहाँ॥

अपनी आत्मा से आत्मा में
वे आत्माराधन करते थे।
चेतन से ध्यान तथा तन से
दुर्धर तप साधन करते थे॥

हो गयीं लब्धियाँ सात प्राप्त-
थीं उन्हें ध्यान के धरते ही।
औ' ज्ञान मनः पर्यय पाया-
था तपारम्भ के करते ही॥

फिर सत्वर 'अप्रमत्त' नामक
शुभ गुणस्थान पा धन्य हुये।
शुभ सामायिक चारित्र हुवा,
गुण प्रकट और भी अन्य हुये॥

वन में थे 'वीर' अकेले पर,
मन में थे हुये अधीर नहीं।
कण भर भी भोजन किया न था,
था पिया बूँद भर नीर नहीं॥

पर क्षुधा तृषा के चिह्न नहीं,
आ पाये उनके आनन में।
वे राजभवन से बढ़ प्रसन्न,
थे दीख पड़े उस कानन में॥

उस निर्जन वन में एकाकी-
थे, फिर भी भय का नाम न था।
बहता था शीत पवन, फिर भी-
विचलित होता परिणाम न था॥

कारण, निज कोमल काया को,
दृढ़ मेरु समान बनाया था।
जो भोगों में थी पली हुई,
योगों में उसे लगाया था॥

मृगपति दहाड़ते रजनी में,
पर दृष्टि न हटती नासा से।
सम्मुख से व्याघ्र निकल जाते,
पर कँपते न वे दुराशा से॥

यों ध्यान दशा में रात्रि दिवस,
क्रम वार गये थे निकल वहीं।
पर अन्न पान के भी अभाव,
में हुये अल्प भी विकल नहीं॥

फल भी तरु तले न बीने औ'
था पिया स्रोत का नीर नहीं।
औ' वृक्ष-पल्लवों के द्वारा,
ढाँका था स्वीय शरीर नहीं॥

धूनी भी नहीं जलायी थी,
सम्मुख बिखरे द्रुम पातों की।
यह दृढ़ता देख चकित सी थी,
मति शीतकाल की रातों की॥

अवलोक उन्हें निर्वसन, पवन—
को भी आश्चर्य अपार हुवा।
सोचा, इनका तन कैसा ? जो—
कम्पित न एक भी बार हुवा॥

हर समय ध्यान में मग्न देख,
अति चकित दशों दिग्पाल हुये।
यों सबको विस्मय के कारक,
'त्रिशला' माता के लाल हुये॥

कहने का सारांश, ध्यान—
में मिली अपूर्व सफलता थी।
था यह प्रयास भी प्रथम, किन्तु—
आयी अतिशय निर्मलता थी॥

यह विजय-सूचना थी, फिर भी——
वे नहीं हर्ष से फूले थे।
निज वीतरागता क्षण भर के——
भी लिये नहीं वे भूले थे॥

वे 'महावीर' थे, अतः उन्हें——
छू सकी नहीं दुर्बलता थी।
नव दीक्षित साधक होने पर——
भी भावों में अविचलता थी॥

इस अल्प समय में भूल चुका——
था अपना ही घर बार उन्हें।
'सिद्धार्थ' पिता, 'त्रिशला' माता——
का भी आया न विचार उन्हें॥

यों ध्यान दशा में एक एक—
कर तीन दिवस अब बीते थे।
इस बीच कई ही चक्कर भी,
दे गये वहाँ के चीते थे॥

हर कोई हिंसक वन्य जन्तु—
भी नहीं 'वीर' से बोला था।
मानों पशुओं ने भी उनका,
करुणामय हृदय टटोला था॥

अब आत्म ध्यान हो गया पूर्ण,
स्वयमेव उन्हें जब भान हुवा।
बस, तभी पारणा हित उनका,
'कुल ग्राम' हेतु प्रस्थान हुवा॥

यह देख वहाँ के 'कूल' नृपति,
ने पड़ गाहा मृदु भाषा से।
फिर दी प्रदक्षिणा तीन सविधि,
आहार दान की आशा से॥

पश्चात् पदों पर शीश झुका-
कर अनुभव की अनुभूति नयी।
यह समझा, साधु-समागम से,
है मिली त्रिलोक-विभूति नयी॥

शुचि नवधा भक्ति प्रदर्शित की,
औ' किसी क्रिया में भूल न की।
उन 'कूल' नृपति ने कोई विधि,
जिन-आगम के प्रतिकूल न की॥

योगी-पद के अनुकूल किया,
सम्मान स्वयं उन भोगी ने।
कारण कि दान का योग दिया-
था उनके गृह आ योगी ने॥

अतएव योग के योग्य उन्हें,
देना शुचि सात्विक भोजन था।
इस कारण विधिवत् किया गया,
उत्तम सारा आयोजन था॥

इस प्रथम पारणा के दिन में,
कानन से करते हुये भ्रमण।
आये थे नृप के प्राङ्गण में,
वे महा तपस्वी महा श्रमण॥

था यही हेतु जो जनता का,
समुदाय जुड़ा उस समय वहाँ।
आकर्षण का केन्द्रस्थल सा,
बन गया नृपति का निलय वहाँ॥

देकर नरेश ने उच्चासन,
धोये जिनेश के चरण-कमल।
फिर अर्घ्य आदि से पूजन कर,
माना अपना नर-जन्म सफल॥

इस शुभ क्षण में उन दाता का,
मन फूला नहीं समाता था।
कारण, उनका आतिथ्य ग्रहण-
कर रहा परम सुख दाता था॥

यह सोच विनय से बार बार,
झुकता था उनका माथ स्वयं।
'कुल'—ग्राम-नाथ-गृह आये थे,
अब आज त्रिलोकीनाथ स्वयं॥

यह दुर्लभ लाभ मिला था, पर—
नृप में आया उन्माद न था।
उर हर्ष विभोर हुवा था, पर—
दिखता तिल मात्र प्रमाद न था॥

मैंने प्रभु को पड़गाह लिया,
इसका भी था अभिमान नहीं।
कारण, दाता के सप्त गुणों—
से भी वे थे अनजान नहीं॥

औ' 'महावीर' भी उनके इस—
स्वागत पर हुये विमुग्ध नहीं।
उनको समता से लेना था,
जल मिले कहीं या दुग्ध कहीं॥

जब तक आहार न पूर्ण हुवा,
वे पूर्णतया ही मौन रहे।
संकेत मात्र तक किया नहीं,
याञ्चा करने की कौन कहे!

कटु क्या है और मधुर क्या ? यह--
परखा न अहो ! मुनि नायक ने !
क्या नीरस और सरस क्या ? यह--
जाना न जगत के ज्ञायक ने ।।

आहार ग्रहण कर वन जाने--
को वे तत्काल हुये उद्यत ।
कारण, उन जिन पति का जीवन--
क्रम था अतिशय ही संयत ।।

ज्यों 'कूल' नृपति के प्राङ्गण से,
बाहर निकले वे पावन यति ।
त्यों वहाँ पञ्च आश्चर्य प्रकट--
हो गये, हुये प्रमुदित नरपति ।।

आहार दान का फल विलोक,
अत्यन्त प्रफुल्लित नयन हुये ।
उस दिन के उनके पुण्य-कथन--
में अक्षम ये कवि-वचन हुये ।।

प्रभु को ग्रामों से घृणा न थी,
औ' नगरों से भी प्यार न था ।
लगती न अप्रिय दुतकार उन्हें,
लगता प्रिय भी सत्कार न था ।।

अति साम्यभाव से सह लेने-
का उनको था अभ्यास सभी।
अतएव न सुख में हँसते वे,
दुख में होते न उदास कभी ॥

पहुँचे न किसी को पीड़ा, वे-
करते ऐसा आयास सदा।
उनकी करुणा के भाजन थे,
नर पशु खग कृमि तरु घास सदा ॥

वे तन पोषण के लिये नहीं,
करते थे कोई युक्ति स्वयं।
यह वीतरागता देख मुग्ध,
होती थी उन पर मुक्ति स्वयं ॥

क्रमशः आ उनने 'कमरि ग्राम'-
में धारण पावन योग किया।
औ' रात्रि व्यतीत वहीं करने-
को सुस्थिर निज उपयोग किया ॥

इतने में आकर एक ग्वाल-
बोला—"ये बैल रखाना तुम।
मैं तनिक ग्राम में जाता हूँ,
तब तक न कहीं भी जाना तुम ॥"

यह कह वह गया उधर, जिनवर
रत रहे इधर आराधन में।
कर कार्य ग्राम से लौटा वह,
ये निरत रहे तप-साधन में॥

उस ठौर बैल पर दिखे नहीं,
जिस ठौर उन्हें ठहराया था।
पूँछा प्रभुवर से कई बार,
उत्तर तक किन्तु न पाया था॥

अतएव 'वीर' का मौन देख,
वह ग्वाला अधिक निराश हुवा।
की खोज रात भर, विफल रहा,
इतने में प्रात-प्रकाश हुवा॥

वह वहीं लौट आ गया, जहाँ-
'सन्मति' निज ध्यान लगाये थे।
इस बार उन्हीं के निकट शान्ति-
से बैठे बैला पाये थे॥

यह देख 'वीर' पर निष्कारण
कर कोप गोप वह झल्लाया।
बोला कि जानते हुये बैल-
भी तुमने मुझको भटकाया॥

यह बोल मारने दौड़ पड़ा,
पर बोले त्रिशला-लाल नहीं।
उनका यह मौन विलोक स्वयं,
सब समझ गया गोपाल वहीं॥

हो गया हृदय परिवर्तन औ'
हिंसा की अमा विलीन हुई।
एवं उपदेश बिना प्रकटित
करुणा की उषा नवीन हुई॥

पछताया, 'मैंने व्यर्थ इन्हें
कटु वचनों से संक्लेश दिया।'
यों उसने अपने मन ही मन-
में पश्चात्ताप विशेष किया॥

पश्चात् भक्ति से उनके पद-
पर अपना शीश नवाया था।
औ' बैल लिये फिर उधर गया,
वह यहाँ जिधर से आया था॥

यों 'वीर' विविध उपसर्गों को,
सह लेते समता द्वारा थे।
औ शत्रु मित्र को एक दृष्टि
से करते सदा निहारा थे॥

चलते सदैव थे पैदल ही,
चढ़ते न कदापि सवारी पर।
औ' नहीं ठहरना भी चाहा--
करते थे किसी अटारी पर॥

उस 'कमरि ग्राम' से आगे चल,
'कोल्लाग' पहुँच कर वास किया।
पश्चात् गये 'मोराक' तथा,
फिर भ्रमण उसी के पास किया॥

औ' वर्षा में पन्द्रह पन्द्रह
दिन का उनने उपवास किया।
यों आठ तपस्या से पूरा
वह पहला चातुर्मास किया॥

फिर 'अस्थिक' से 'वाचाला' की-
ही ओर तपस्वी 'वीर' चले।
जो मार्ग विषम था, उससे ही--
निर्भय हो वे गम्भीर चले।

वे महा साहसी मानव थे,
भय में उनका विश्वास न था।
चाहे जो विपदा सम्मुख हो,
पर होता उनको त्रास न था॥

प्रतिद्वन्दी भले प्रहार करे
आता न किन्तु आवेश कभी।
हर क्लेश स्वयं सह लेते, पर—
देते न किसी को क्लेश कभी॥

कारण, न प्राप्त हो जाता था,
जब तक कैवल्य विशुद्ध उन्हें।
तब तक स्व-घातिया कर्मों से
करना था अविरत युद्ध उन्हें॥

इससे तप द्वारा करते थे,
वे चेतन का परिशोध सतत।
अध्यात्म-साधना हेतु तथा
करते थे योग-निरोध सतत॥

प्रस्तुत रहते थे करने को
स्वागत प्रत्येक विषमता का।
आने न हृदय में पाता था,
भय भी पथ की दुर्गमता का॥

वे उदित न होने देते थे
क्रोधादिक चतुर्कषायों को।
निज कर्म निर्जरा हेतु सतत,
करते थे विविध उपायों को॥

चाहे विपत्ति जो आये, सब—
सह लेते थे वे समता से।
निज निश्चय नहीं बदलते थे,
डर कर पथ की दुर्गमता से॥

गोपों ने उन्हें सचेत किया,
"यह मार्ग निरापद सरल नहीं।
रह रहा दृष्टि विष सर्प यहाँ,
सकता कोई भी निकल नहीं॥

कारण, उसकी विष-ज्वाला को,
कोई न कभी सह पाया है।
जो गया हठात् इधर होकर,
जीवित न निकल वह पाया है॥

जो भी जन वहाँ पहुँचता है,
डस लेता उसको साँप वहीं।
इससे इस पथ से होकर अब,
प्रस्थान कीजिये आप नहीं॥"

यह सत्य सूचना सुनकर भी
प्रभु ने त्यागा उत्साह नहीं।
औ' विषम दृष्टि विष विषधर से
डर कर बदली निज राह नहीं॥

वे उसी मार्ग से चल उसके
बिल के समीप आसीन हुये।
वह सर्प जहाँ पर रहता था,
वे वहीं ध्यान में लीन हुये॥

जब सर्प वहाँ पर आया तो,
उसको ध्यानस्थित सन्त दिखे।
उनके से निर्भय व्यक्ति उसे,
थे नहीं आज पर्यन्त दिखे॥

निज राज्य—क्षेत्र में देख उन्हें,
हो रहा उसे अति संशय था।
यह पुरुष नहीं साधारण है,
हो गया उसे यह निश्चय था॥

फिर भी उस विषधर ने उनसे—
मानी न सहज ही हार स्वयं।
विषमयी दृष्टि से देख उन्हें,
छोड़ी विषमय फुंकार स्वयं॥

पर जाने क्यों अब आज बिफल
उसका यह दृष्टि—प्रहार रहा।
फेंकी फिर दृष्टि अनेक बार
फल किन्तु वही हर बार रहा॥

इतने पर भी उस नागराज,
का साहस आज न हारा था।
काटा तत्काल अँगूठे में,
या विष से चरण पखारा था॥

पर नहीं वीर ने नयन खोल
उस अहि की ओर निहारा था।
उनकी इस दृढ़ता से विषधर,
पर चढ़ा क्रोध का पारा था॥

फण पुनः चलाया कई बार,
जो सहे उन्होंने शान्ति सहित।
यों पूर्ण शक्ति व्यय कर भी अहि,
कर सका न उनका आज अहित॥

पा नहीं सका जय महानाग
उन 'महावीर' पर हिंसा से।
पर 'महावीर' ने महानाग—
पर जय की प्राप्त अहिंसा से॥

यह अपनी प्रथम पराजय उस,
विषधर को बनी पहेली अब।
सोचा, यह कौन पुरुष ? जिसने
ये मेरी चोटें झेलीं सब॥

दृष्टि विष विषधर

पा नहीं सका जय महानाग,
उन 'महावीर' पर हिंसा से ।
पर 'महावीर' ने महानाग-
पर जय की प्राप्त अहिंसा से ॥

(पृष्ठ ३८०)

मुझसे होकर भयभीत यहाँ,
रहना तज दिया विहङ्गों ने।
मेरे भय से इस आश्रम में,
तृण चरना तजा कुरङ्गों ने॥

पर फणाघात के करने पर—
भी बना हुआ है अक्षत यह।
समता से करता रहा सतत,
मम हर प्रहार का स्वागत यह॥

जाने उपसर्ग सहन करने—
की इसमें कितनी क्षमता है!
क्या इसको अपनी काया से,
किंचित् भी रही न ममता है॥

इसकी मुख मुद्रा पर मुझको,
दिख रही अलौकिक शान्ति क्षमा।
मैंने इतना उत्पात किया,
पर अब तक इसका ध्यान जमा॥

यह सोच सोच कर महानाग,
निज अन्तस में संक्षुब्ध हुवा।
उन 'महावीर' की महा क्षमा,
औ' महा शान्ति पर लुब्ध हुवा॥

इससे अब उनका पद-वन्दन--
करने में उसको क्षेम दिखा।
उन विश्व बन्धु के अन्तस में,
था उसे विश्व का प्रेम दिखा॥

कुछ बोले अभी न 'सन्मति' थे,
पर स्वयं हुवा था ज्ञान उसे।
अक्षम्य स्वीय अपराधों का
हो गया स्वयं था भान उसे॥

अतएव शान्त हो बैठा वह,
कुछ सुनने को उन ज्ञानी से॥
वह विषधर उत्सुक था वचना—
मृत पीने को उन ध्यानी से।

कुछ ही क्षण में हो गयी पूर्ण,
उस नागराज की आशा यह।
'हो शान्त चण्ड कौशिक ! सोचो,
प्रभु-मुख से निकली भाषा यह॥

ज्यों सुना 'चण्ड कौशिक' पिछला-
भव सोच गया वह काँप अहो।
जाना कि 'चण्ड कौशिक' कुलपति,
अब यहाँ हुवा था साँप अहो॥

यह जान पूर्व क्रम सजा, मार्ग-
स्वीकार किया तत्काल नया।
औ' पन्द्रह दिन के अनशन से,
मर स्वर्ग लोक वह व्याल गया॥

पश्चात् गये 'वाचाला' प्रभु,
फिर 'सेयविया' को गमन किया।
आ यहाँ 'प्रदेशी' राजा ने,
उनको श्रद्धा से नमन किया॥

पश्चात् 'सुरभिपुर' गये पुनः,
'थूणाक' नाम के गाँव गये।
पथ में तट-रज पर अनायास-
ही अङ्कित होते पाँव गये॥

पर 'पुष्य' नाम के सामुद्रिक-
ने देखा ज्यों वह घाट तभी।
सोचा कि यहाँ से निकले हैं,
पैदल कोई सम्राट अभी॥

सम्भवतः वे पथ भूले हैं,
होंगे समीप में निश्चय ही।
अतएव खोज कर शीघ्र उन्हें,
दूँ मार्ग बता मैं सविनय ही॥

केवल न यही, मैं स्वयं उन्हें-
उनके निवास तक पहुँचाऊँ ।
औ' पाकर उनसे पुरस्कार,
निश्चिन्त सदा को हो जाऊँ ॥

यह सोच, देखते हुये चिन्ह-
उसने निज चरण बढ़ाये थे।
यों पहुँच गया वह वहाँ जहाँ,
'सन्मति' निज ध्यान लगाये थे ॥

ज्यों उस सामुद्रिक ने देखा,
उनका निर्ग्रन्थ दिगम्बर तन।
त्यों वह निराश हो गया तथा,
बढ़ गयी अधिक उसकी उलझन ॥

था हुवा नहीं निज जीवन में,
वह आज समान उदास कदा।
इससे वह शास्त्र निकाला फिर,
जो रखता था निज पास सदा।

औ' पृष्ठ पलट कर एक एक,
अति मनोयोग से सब देखा ।
उससे मिलान की ध्यान सहित,
श्री 'वीर' चरण की हर रेखा ॥

तो सिद्ध हुवा, चक्री होते—
ऐसी रेखाओं वाले नर।
पर एक लँगोटी तक भी तो,
दिख नहीं रही इनके तन पर॥

सोचा उसने निज अन्तस में,
मिथ्या यह ग्रन्थ जनाता है।
धोखा देकर उपहास-पात्र,
मुझको यह ग्रन्थ बनाता है।

मैं समझ रहा था अब तक यह,
सामुद्रिक शास्त्र अनूठा है।
पर आज ज्ञात हो गया मुझे,
यह शास्त्र सर्वथा झूठा है॥

यह सोच शीघ्र हो गया वहीं,
वह ग्रन्थ फाड़ने को तत्पर।
यह देख पूँछने लगे 'वीर'—
प्रभु के दर्शन को आगत नर॥

"हे पण्डितवर! यह शास्त्र फाड़,
क्यों करते सहसा पाप महा?"
सुन कही 'पुष्य' ने बात सभी,
जिससे था यह सन्ताप महा॥

जन बोले--"तुम्हें लँगोटी तक,
दिखती है इनके पास नहीं।
पर 'कुण्ड ग्राम' के राज पुत्र,
ये करते तप-अभ्यास यहीं॥"

यह सुन कर सही परिस्थिति का,
उस सामुद्रिक को बोध हुवा।
नत हुवा 'वीर' के चरणों में,
एवं प्रशान्त सब क्रोध हुवा॥

देखो, वर्षा ऋतु आती है,
होता अब चातुर्मास कहाँ ?
रह चार मास तक एक ठौर,
प्रभु करते तप-अभ्यास कहाँ ?

--×--

पन्द्रहवाँ सर्ग

मत समझो, कवि यह अपने मन-
से गढ़ गढ़ कर सब कहता है।
विश्वास रखो, ध्रुव सत्य छन्द-
में पिघल पिघल कर बहता है॥

'थूणाक' ग्राम से राजगृही'
पहुँचे लोकोत्तर ध्यानी वे।
फिर पहुँच वहाँ से नालन्दा'
शाला में ठहरे ज्ञानी वे ॥

विरमे इन चार महीनों का-
करने को सत् उपयोग यहीं।
औ' हुवा भिक्षु 'गोशालक' से
उनका पहला संयोग यहीं ॥

जो 'महावीर' की दिनचर्या,
प्रति दिन चुपचाप निरखता था।
इनमें कितनी सच्चाई ? यह-
जो अपने आप परखता था ॥

पर छाप उसी पर पड़ती थी,
उनकी प्राकृतिक सरलता की।
अतएव प्रशंसा करता वह,
उनके मन की निर्मलता की ॥

वे कहीं मास भर जा करते-
थे नहीं एक भी ग्रास ग्रहण।
बस, तभी पारणा करते थे,
हो जाता था जब मास क्षपण ॥

पञ्चेन्द्रिय के भी किसी विषय-
से था उनको अनुराग नहीं।
उसने न अभी तक देखा था,
उनके जैसा यह त्याग कहीं॥

वे मैत्री भाव दिखाते थे,
लघु औ' महान हर प्राणी से।
हित मित प्रिय भाषा ही बोला-
करते थे अपनी वाणी से॥

जग को दिखलाने हेतु नहीं,
वे करते आत्माराधन थे।
औ' नहीं प्रतिष्ठा पाने को,
वे करते तप का साधन थे॥

इससे उनका 'गोशालक' पर
पड़ चला प्रभाव निराला था।
फलतः उसने शिष्यत्व ग्रहण-
का भी निश्चय कर डाला था॥

निश्चयानुसार वह एक दिवस,
उनसे बोला—"हे संत प्रवर।
अब आप आज से मुझको भी,
निज शिष्य बना लें करुणाकर॥"

यह नम्र निवेदन सुन कर भी
कुछ भी बोले श्री वीर न थे।
कारण, निज शिष्य बनाने को
वे किंचित् मात्र अधीर न थे॥

फिर भी उनके ही सँग रहने—
लग गया स्वयं 'गोशालक' वह।
था अधिक 'वीर' से वय में पर,
बातों से लगता बालक वह॥

चल पड़े 'वीर' 'नालन्दा' से,
ज्यों ही समाप्त बरसात हुई।
पर नगर गये 'गोशालक' को'
यह बात नहीं थी ज्ञात हुई॥

जब आने पर प्रभु दिखे नहीं,
तो उसने अति अवसाद किया।
औ' उन्हें खोजने में क्षण भर—
का भी तो नहीं प्रमाद किया॥

वह पुनः नगर में गया तथा—
खोजीं उसने गलियाँ सारी।
इतने पर भी जब मिले न वे,
तो उसे हुवा विस्मय भारी॥

पर असफल होकर भी उसके—
साहस ने मानी हार नहीं।
था यह विश्वास मिलेंगे ही,
मुझको 'सिद्धार्थ—कुमार' कहीं ॥

कारण की शरण में उनके ही
दिखता था अपना त्राण उसे।
औ' उनकी ही सत्संगति में,
दिखता था निज कल्याण उसे ॥

अतएव खोजने निकल पड़ा,
पर कहीं न कुछ भी ज्ञात हुवा।
'कोल्लाग' किन्तु जब पहुँचा तो,
ऐसा कुछ कुछ प्रतिभात हुवा ॥

जिससे समझा, हो जायेगा—
इस अन्वेषण का अन्त यहीं।
अविलम्ब आज मिल जायेंगे
मुझको अब मेरे सन्त यहीं ॥

यों ही विचारता जाता था,
इतने में साक्षात्कार हुवा।
प्रत्यक्ष 'वीर' को देख उसे
सहसा आनन्द अपार हुवा ॥

अतएव जोड़कर हस्त युगल,
उसने प्रणाम तत्काल किया।
श्रद्धा से गद्गद हो निज शिर,
उनके चरणों पर डाल दिया॥

यों 'महावीर' के प्रति उसने
निज श्रद्धा भाव दिखाया था।
औ' उनके चरणों की रज को,
माथे पर समुद लगाया था॥

फिर कहा—'न त्यागें मुझे गुरो!
कृपया निज सङ्ग विरचने दें।
चरणों में आश्रय दे मुझको
यह जीवन सार्थक करने दें॥

यह कह कर वह अनुगामी बन,
उन 'महावीर' के साथ चला।
आगे जा देखा, ग्वाले कुछ—
हैं खीर पकाते अग्नि जला॥

यह देख खीर खा लेने को
'गोशालक' का मन ललचाया।
बोला वह—"गुरो! ठहरिये कुछ,
मैं खा यह खीर अभी आया॥"

यह सुनते ही प्रभु ने तत्क्षण,
कह दी यह बात विचार वहीं।
"यह खीर पकेगी नहीं, चलो—
आगे करना आहार कहीं॥"

प्रभु से भविष्य यह सुन भी वह
तज सका खीर का चाव नहीं।
कारण, परिवर्तित हो पाया—
था उसका पूर्व स्वभाव नहीं॥

थी हाँड़ी बँधी खपचियों से,
औ' तेज अग्नि भी जलती थी।
चावल औ' दूध अधिक से थे,
इससे वह खीर उबलती थी॥

जब चावल पक कर फूले तो
सम्पूर्ण खपचियाँ टूट गयीं।
कोई न यत्न हो सका, अतः—
वह हाँड़ी क्षण में फूट गयी॥

'गोशालक' अधिक निराश हुआ,
जो खीर हेतु ही ठहरा था।
पड़ गया आज इस घटना का
उस पर प्रभाव अब गहरा था॥

वह बोला—"मनपर्ययज्ञानी—
प्रभु का कहना ही ठीक हुवा।
होती न अन्यथा होनहार,
इसका यह एक प्रतीक हुवा॥"

ऐसी अनेक घटनाओं ने
अब तक प्रभाव था डाला ही।
जिससे हो गया उसे निश्चय
है प्रभु का ज्ञान निराला ही॥

प्रभु जहाँ पहुँचते वहीं बजा—
करता उनके यश का डंका।
ये ही अन्तिम तीर्थंकर हैं,
इसमें न किसी को थी शंका॥

कारण, वे पञ्च महाव्रत के,
पालन में देते ढील न थे।
औ' रञ्चमात्र भी तो दूषित—
होने देते निज शील न थे॥

बाईस परीषह सह लेते,
विचलित करते परिणाम न पर।
करते तप घोर परिश्रम से,
चाहा करते विश्राम न पर॥

अतएव कहीं रुकते न अधिक,
हर ग्राम शीघ्र ही तजते थे।
प्रायः जा विजन तपोवन में,
वे 'सोऽहं' 'सोऽहं' भजते थे॥

यदि विघ्न पारणा में आता,
तो भी करते सन्ताप न थे।
कोई कितना उपसर्ग करे,
पर देते वे अभिशाप न थे॥

इससे कुछ दुष्ट अकारण ही,
उनको दिन रात सताते थे।
कुछ तप से उन्हें डिगाने को
सम्मुख उत्पात मचाते थे॥

पर किंचित् कुपित न होते थे,
वे करुणा के अवतार कभी।
औ' पास न आने देते थे,
वे कोई शिथिलाचार कभी॥

उनमें कोई भी तो प्रमाद
होता था कभी प्रतीत नहीं।
उनका क्षण मात्र असंयम में
होता था नहीं व्यतीत कभी॥

पैदल सदैव ही चलते थे,
तो भी न कभी वे थकते थे।
पथ के कङ्कण औ' कण्टक भी
तो उनको नहीं खटकते थे॥

यों चल वे 'ब्राह्मण ग्राम' रुके,
फिर 'चम्पा' को प्रस्थान किया।
कर चातुर्मास तृतीय यहीं,
उनने निज आत्मोत्थान किया॥

औ' दो दो मास क्षपण के दो-
तप किये न किन्तु उदास हुये।
यों हुई पारणा केवल दो,
औ' पूरे चारों मास हुये॥

इस चतुर्मास में क्लिष्टासन-
से किया उन्होंने आत्म मनन।
एवं विशेषतः रुद्ध रखी,
मन वचन काय की हलन चलन॥

पश्चात् वहाँ से कर विहार
'कालाय' ग्राम वे नाथ गये।
औ' 'गोशालक' भी छाया से
उन विश्व बन्धु के साथ गये॥

वे रात खण्डहर में ठहरे,
प्रस्थान किया फिर प्रात समय।
अविलम्ब 'पत्तकालय' पहुँचे,
ईर्या से चलते हुये सदय॥

तदनन्तर सत्वर आगे को-
चल पहुँचे ग्राम 'कुमारा' वे।
जनता के श्रद्धापात्र यहाँ-
भी बने गुणों के द्वारा वे॥

पश्चात् वहाँ से कर विहार,
पहुँचे 'चोराक' यशस्वी वे।
औ' यहाँ गुप्तचर समझ लिये-
थे गये महान् तपस्वी वे॥

वस्तुस्थिति किन्तु समझते ही,
सम्मान हुवा उन त्यागी का।
फिर नहीं किसी ने रोका पथ,
उन जग से पूर्ण विरागी का॥

उनने कुछ दिन रुक वहाँ 'पृष्ठ-
चम्पा' की ओर प्रयाण किया।
कर चौथा वर्षावास वहीं,
निज आत्मा का कल्याण किया॥

अति कठिन आसनों से दुर्धर—
तप किया तथा शुभ ध्यान किया।
रह चार मास फिर 'कयंगला'—
की ओर पुण्य प्रस्थान किया॥

कुछ ठहर वहाँ फिर 'श्रावस्ती'—
जाकर धारण निज योग किया।
नगरी के बाहर ध्यान लगा,
सुस्थिर अपना उपयोग किया॥

कर ध्यान प्रपूर्ण 'हलिद्दुग पुर'
की ओर बढ़ाये स्वीय चरण।
पुर निकट एक तरु तले पहुँच —
कर ठहर गये वे महाश्रमण॥

कुछ अन्य यात्रियों ने भी तो,
आ की व्यतीत वह रात वहीं॥
औ' अग्नि जलायी, संग्रह कर—
तरुओं के सूखे पात वहीं॥

वैसी ही जलती अग्नि छोड़,
वे गये कि ज्यों ही प्रात हुवा।
पर इस प्रमाद से ध्यानस्थित,
प्रभु पर भीषण उत्पात हुवा॥

कुछ ही क्षण में वह अग्नि फैल—
हो और अधिक विकराल गयी।
बढ़ते बढ़ते वह ध्यानमग्न—
प्रभु के समीप तत्काल गयी॥

उपसर्ग जान यह प्रभुवर ने,
दृढ़ मेरु समान शरीर किया।
वह अग्नि ज्वाल सह लेने को
मन सागर सा गम्भीर किया॥

वह अग्नि और भी अरुण हुई,
वह दृश्य और भी करुण हुआ।
यह सहनशीलता देख स्वयं,
आश्चर्य चकित सा वरुण हुवा॥

'गोशालक' उठ कर भाग गया,
पर नहीं 'वीर' का रोम कँपा।
उनकी इस दृढ़ता को विलोक,
यह धरा कँपी, यह व्योम कँपा॥

अब मानो सारी शक्ति लगा,
वह अग्नि विशेष सुरङ्ग हुई।
अत्यन्त निकट आ गयी ज्वाल,
पर 'वीर' समाधि न भङ्ग हुई॥

उस समय वहाँ का करुण दृश्य,
अति हृदय विदारक लगता था।
इस तेज पुञ्ज से डर भी वह,
तेजस्वी किन्तु न भगता था॥

हो गया हताश हुताश निरख,
तप-तेज-प्रकाश विलक्षण यह।
अवलोक 'वीर' की शान्ति स्वयं,
हो गया शान्त फिर तत्क्षण वह॥

सब घास पत्तियाँ राख हुई
औ' रही न शेष ललामी अब।
निज नयन खोल इस भाँति उठे,
उस समय वहाँ से स्वामी अब॥

जैसे कि अग्नि ज्वालाओं ने,
हो उनसे प्यार दुलार किया।
या बन्धु समझ उन तेजस्वी—
का हो स्वागत सत्कार किया॥

पश्चात् 'नंगला' गये वहाँ—
से चल 'सिद्धार्थ-दुलारे' वे।
कुछ समय वहाँ पर रुक कर फिर,
'आवत्ता' ग्राम पधारे वे॥

कुछ ठहर वहाँ भी 'कलंबुका'—
को फिर वे त्रिशला-लाल गये।
पुर के निवासियों पर अपने—
तप का प्रभाव सा डाल गये॥

वह स्वयं प्रभावित होता, जो—
उनका दर्शन कर लेता था।
कारण उस समय न कोई भी,
उन सा उपसर्ग-विजेता था॥

कुछ भेंट चाहते देना नर,
पर वे कणमात्र न लेते थे।
निर्ग्रन्थ पूर्ण रह भवसागर—
में जीवन-नौका खेते थे॥

कर यथाशीघ्र निर्जरा उन्हें,
कैवल्य प्राप्त कर लेना था।
हो प्राप्त घातिया कर्मों को—
भी तो समाप्त कर देना था॥

बस, इसी हेतु वे समता से
सह लेते सारे क्लेश सदा।
औ' अपने चरणों से नापा—
करते प्रत्येक प्रदेश सदा॥

थे किये अभी तक 'आर्यभूमि'—
में ही सब वर्षावास यहीं।
एवं 'अनार्य' में जाने का,
अब तक था किया प्रयास नहीं॥

पर कर्म क्षयार्थ वहाँ जाने—
का अब इस बार विचार किया।
औ' राढ़ भूमि की ओर उन्हों—
ने अब इस बार विहार किया॥

अविवेक अनार्यों का विलोक—
भी हुये न क्षुब्ध विवेकी वे।
उनने अनेक उत्पात किये,
पर टिके रहे दृढ़ टेकी वे॥

औ' कभी अनार्यों के कार्यों—
से उन्हें हुवा उद्वेग नहीं।
विघ्नों के अड़े हिमालय पर
हारा उनका संवेग नहीं॥

यों वहाँ भ्रमण कर 'आर्य देश'—
में उनने पुण्य प्रवेश किया।
अपने विहार से अति पावन,
वह 'मलय' नाम का देश किया॥

वर्षागम हुवा कि चार मास–
तक को सस्थगित विहार किया।
निज पञ्चम वर्षावास यहीं,
'भद्दिलपुर' में इस बार किया ॥

पर कभी पारणा करने को,
वे नहीं नगर की ओर गये।
रह चार मास तक निराहार,
तप किये निरन्तर घोर नये ॥

अति जटिल तपस्या थी फिर भी–
तो शिथिल न उनके अङ्ग हुये।
हर दर्शक को विस्मय कारक,
उनके आसन के ढङ्ग हुये ॥

हर ग्राम ग्राम में फैल गयी,
उनके तप की यह करुण-कथा।
जनता ने ऐसा तप करता,
देखा कोई भी तरुण न था ॥

सब उन्हें निरखने लगते थे
पथ से जब कभी निकलते वे।
लगता, जैसे तप चलता हो
जिस समय मार्ग पर चलते वे ॥

उनका तप दर्शन सा दुरूह,
थी किन्तु सरलता कविता सी।
वाणी प्रिय चन्द्र कला सी थी,
मुख पर आभा थी सविता सी ॥

मत समझो, कवि यह अपने मन—
से गढ़ गढ़ कर सब कहता है।
विश्वास रखो, ध्रुव सत्य छन्द—
में पिघल पिघल कर बहता है ॥

यों कठिन आसनों से करते
निज ध्यान अनेक प्रकार सदा।
करते उपाय हर, करने को—
आत्मा से दूर विकार सदा ॥

तन तप करता, पर चेतन का—
सौन्दर्य निखरता जाता था।
औ' कर्म-वृक्ष से क्रमशः ही,
हर पल्लव झरता जाता था ॥

रच रहे तीर्थ थे वे संयम—
तप-ब्रह्मचर्य के संगम पर।
हो रही सफलता मोहित थी,
उन तीर्थंकर के विक्रम पर ॥

उपवास अधिक वे करते थे,
पर तन-सामर्थ्य न घटता था।
औ' चार घातिया कर्मों का,
बन्धन क्रम क्रम से कटता था।

जब निराहार ही तप करते,
पूरे हो महिने चार गये।
तब पारणार्थ मध्याह्न समय—
में वे सिद्धार्थ-कुमार गये॥

आहार ग्रहण कर चले पुनः,
अब 'कयलि' ग्राम को जाना था।
कारण, उनने निज जीवन में,
आगे बढ़ना ही ठाना था॥

औ' अधिक दिनों तक उन्हें कहीं
रुकना लगता था ठीक नहीं।
अतएव समझते जहाँ उचित,
जाते थे वे निर्भीक वहीं॥

फिर 'जम्बूसंड' पहुँचने को
उनने निज चरण बढ़ाये थे।
पश्चात् वहाँ से चल कर वे
'तंबाय' ग्राम में आये थे॥

फिर 'कूपिय' पहुँचे, तदनन्तर,
'वैशाली' को प्रस्थान किया।
कुछ ठहर वहाँ ग्रामाक गये,
फिर 'शालिशीर्ष' जा ध्यान किया॥

चल पुनः 'भद्दिया' में करने—
को वर्षावास पधारे थे।
यह छठवाँ चातुर्मास यहाँ,
करते सिद्धार्थ-दुलारे थे॥

चातुर्मासिक तप किया, यहाँ—
भी ग्रहण किया आहार नहीं।
रह निराहार ही बिता दिये,
वर्षा के महिने चार वहीं॥

कर चातुर्मास समाप्त पुनः,
चल 'मगध' ओर वे नाथ गये।
'गोशालक' भी अनुगामी से,
उन स्वामी प्रभु के साथ गये॥

औ' वहीं शीत ऋतु आतप ऋतु—
का समय बिता इस बार दिया।
फिर 'आलंभिया' पहुँचने को,
उनने अविलम्ब विहार किया॥

औ' नियत समय पर उस नगरी—
में पहुँचे करते हुये भ्रमण।
रुक चार मास के लिये वहाँ,
तप लीन हुये वे महाश्रमण॥

चातुर्मासिक तप से सार्थक,
यह सप्तम चातुर्मास किया।
जल नहीं एक भी बूँद पिया,
औ' नहीं एक भी ग्रास लिया॥

जब चतुर्मास हो गया, तभी—
आहार लिया उन त्यागी ने।
'कुण्डाक' ओर प्रस्थान किया,
फिर उन सच्चे वैरागी ने॥

तदनन्तर वे 'मद्दना' गये,
'बहुसाल' पहुँच फिर ध्यान किया॥
फिर 'लोहार्गला' नगर जाने—
को उनने था प्रस्थान किया॥

'जित शत्रु' भूप ने वहाँ किया॥
सम्मान स्वयं उन ध्यानी का।
फिर 'पुरिमताल' की ओर गमन,
हो गया शीघ्र उन ज्ञानी का॥

आ वहाँ नगर के बाहर रुक,
कुछ समय रहे वे ध्यान निरत।
पश्चात् वहाँ से 'राजगृही'--
आये वे चलते हुये सतत॥

कर यहीं आठवाँ चतुर्मास,
उनने तप-योग विराट् किया।
रह चार मास तक निराहार,
अगणित कर्मों को काट दिया॥

यों क्रमशः क्षय होते जाते—
थे, जितने कर्म पुराने थे।
करते न पुण्य औ' पाप अतः,
अब नूतन कर्म न आने थे॥

फिर भी जो शेष रहे उनके--
क्षय की उनको अभिलाष हुई।
अतएव 'अनार्य प्रदेशों में,
जाने की फिर से प्यास हुई॥

इस हेतु 'राढ' की वज्रभूमि'—
में गये वहाँ से वे प्रभुवर।
औ, वहाँ परीषह विविध सहीं,
उनने मानस में समता धर॥

वर्षागम देख किया अपना—
वह नवमा चातुर्मास वहीं।
औ' कर्म निर्जरा हेतु किये,
दुष्कर अनेक उपवास वहीं॥

छह मास वहाँ रह 'आर्य' भूमि—
को पुनः प्रशस्त विहार किया।
बन सका जहाँ तक उनसे निज,
चेतन का रूप निखार लिया॥

आओ, अब देखें यहाँ और,
क्या क्या तप करते 'वीर' अभी।
वे भावी अग्नि परीक्षाएँ,
सहते किस भाँति सधीर सभी॥

—×—

सोलहवाँ सर्ग

उनने निकाल कर दूर किया,
निज कोमल तन का मोह सभी।
औ' किये पराजित दृढ़ता से,
पाषाण वज्र औ' लोह सभी॥

'सिद्धार्थपुरी' से 'वीर' चले,
तो 'गोशालक' भी सङ्ग हुवा।
पथ मध्य उपस्थित अनायास—
ही एक नवीन प्रसङ्ग हुवा॥

'गोशालक' ने तिलक्षुप देखा,
जिसमें थे सात सुमन सुन्दर।
उसको अवलोक कहा प्रभु से—
"कृपया बतलायें यह गुरुवर॥

यह तिल का वृक्ष मरेगा क्या ?
होगा क्या पुनः प्रसूत कहीं ?"
सुन उसके प्रश्न कहा प्रभु ने-
"क्षुप मर होगा उद्भूत यहीं॥

सातों फूलों के जीव मरण—
कर पुनः यहीं पर आयेंगे।
औ, एक फली के ही भीतर,
ये सातों तिल बन जायेंगे॥"

प्रभु से भविष्य यह सुन कर भी,
उसको विश्वास न आया था।
इससे उखाड़ वह वृक्ष फेंक—
ही उसने चरण बढ़ाया था॥

प्रभुवर प्रस्थान यहाँ से कर,
फिर 'कूर्म ग्राम' में आये थे।
एवं उस ओर विचरने में,
उनने कुछ मास लगाये थे॥

पश्चात् सङ्ग उन दोनों ने,
'सिद्धार्थपुरी' को गमन किया।
पूर्वोक्त क्षेत्र में आ प्रभु ने,
संस्मृत अपना वह वचन किया॥

औ' कहा—"स्वयं लो देख, हुवा-
मम कहने के अनुकूल सभी।
मर वृक्ष वही यह वृक्ष हुवा,
ये तिला हुये वे फूल सभी॥

यह सुन प्रभु—कथन—परीक्षा द्रुत,
करने की उसने ठानी थी।
तिल क्षुप समीप जा उसी समय,
तोड़ी मृदु कली सुहानी थी॥

जो उसे फोड़ कर देखा तो,
विस्मय का नहीं ठिकाना था।
तिल के दाने थे सात अतः,
प्रभु—वाक्य सत्य अब माना था॥

इस लघुतम घटना ने भी तो,
उस पर प्रभाव अति डाला था।
सब का जन्मान्तर सम्भव यह,
सिखलाया ज्ञान निराला था॥

फिर भी प्रभु के आदर्श सभी,
वह जीवन में न उतार सका।
छह वर्ष शिष्य सा रह कर भी,
कर नहीं आत्म उद्धार सका॥

औ' यश-लिप्सा से प्रेरित हो,
करने स्वतन्त्र प्रस्थान लगा।
तेजोलेश्या की प्राप्त पुनः,
करने निमित्त का ज्ञान लगा॥

छह दिशाचरों से पढ़ निमित्त,
वह इस विद्या में दक्ष हुवा।
इस कारण कुछ ही दिवसों में,
वृद्धिंगत उसका पक्ष हुवा॥

अब अपने को आचार्य मान,
वह प्रभु से रहता दूर सदा।
'आजीवक' मत का नेता बन,
रहता था मद में चूर सदा॥

उसका महत्व था अभी क्यों कि,
प्रभुवर उपदेश न देते थे ।
औ' अभी किसी को शिष्य बना,
वे अपना वेश न देते थे ॥

कारण कि नहीं था पूर्ण हुवा,
उनका प्रशस्त उद्देश अभी ।
औ' जीत घातिया कर्मों को,
थे बने न 'वीर' जिनेश अभी ॥

अतएव मौन रह विचरण वे,
करते थे अभी प्रदेशों में ।
कैवल्य-प्राप्ति के लिये देह-
को तपा रहे थे क्लेशों में ॥

वे बनना चाह रहे थे द्रुत,
सम्पूर्णतया निर्दोष स्वयं ।
औ' बनना चाह रहे थे द्रुत,
वे विश्व ज्ञान के कोष स्वयं ॥

अतएव निरन्तर चलता था,
उनका यह अनुसन्धान अभी ।
तिल मात्र न आने देते थे,
इसमें कोई व्यवधान अभी ॥

उनकी इच्छा थी सर्व प्रथम,
निज आत्मा का उद्धार करूँ।
पश्चात् जगत्-उद्धार हेतु
आजीवन धर्म-प्रचार करूँ॥

'सिद्धार्थ पुरी' से चलकर फिर
'वैशाली' नगर पधारे वे।
पुर के बाहर ध्यानार्थ वहाँ,
बैठे सिद्धार्थ-दुलारे वे॥

तदनन्तर चल 'वैशाली' से,
'वाणिज्य ग्राम' वे नाथ गये।
पथ में ग्रामीण पुरुष उनके
पद पर नत करते माथ गये॥

'वाणिज्य ग्राम' से 'श्रावस्ती'-
की ओर उन्होंने किया गमन।
कर दसवाँ वर्षावास वहीं,
निर्विघ्न किया निज आत्म मनन॥

यह चतुर्मास हो जाने पर
चल दिया, वहाँ से उसी समय।
औ' पहुँच 'सानुलट्ठिय' पुर में
कर्मों से पाने हेतु विजय॥

सोलह उपवास निरन्तर कर,
विधिवत् शुभ ध्यान जमाया था।
दिन रात खड़े ही रहे गात,
दृढ़ मेरु समान बनाया था॥

इस दीर्घ अवधि में ध्यानी वे,
सम्पूर्णतया ही मौन रहे।
इस नश्वर स्वर से उनकी यह
अविनश्वर महिमा कौन कहे?

उनने निकाल कर दूर किया,
निज कोमल तन का मोह सभी?
औ' किये पराजित दृढ़ता से,
पाषाण, वज्र औ' लोह सभी॥

कर पुनः विहार वहाँ से चल,
'दृढ़ भूमि' गये निर्मोही वे।
ध्यानस्थ चैत्य में हुये लक्ष्य-
कर अपने चेतन को ही वे॥

अष्ठम तप धारण कर रजनी-
भर किये रहे अनिमेष नयन।
वे रहे जागते उस क्षण भी,
जब करता था सब देश शयन॥

इतनी तन्मयता से उनने
इस बार वहाँ पर ध्यान किया।
सुरपति ने देख जिसे उनके-
तप की महिमा का गान किया॥

वे बोले देवों के सम्मुख-
"उन तुल्य न कोई ध्यानी है।
शत जिह्वा से भी अकथनीय,
उनकी यह ध्यान-कहानी है॥

सुर तक भी डिगा न सकते हैं
उनने ऐसा अभ्यास किया।
यह सत्य बात भी सुन न एक-
सुर ने इस पर विश्वास किया॥

उसको तत्काल हुई इच्छा,
उनको प्रत्यक्ष निरखने की।
औ' बना योजना ली उसने
प्रभुवर का ध्यान परखने की॥

वह पूँछ इन्द्र से चला तथा
थे वे 'त्रिशला' के लाल जहाँ।
निज बल से उन्हें डिगाने को,
वह पहुँच गया तत्काल वहाँ॥

दन्तावलि बाहर को निकाल,
दृग-युग लोहित सा लाल किया।
औ' लगा भाल पर सींगों को,
निज रूप बना विकराल लिया॥

यों रुद्र रूप धर और मचा-
कर विविध उपद्रव क्लेश दिया।
माया से घोर भयानक वह,
सारा निकटस्थ प्रदेश किया॥

चिल्लाया, गरजा, चिंघाड़ा,
पर डरे 'वीर' भगवान नहीं।
उत्पात सामने होते थे,
पर तजते थे वे ध्यान नहीं॥

जब उसने देखा, मेरे ये-
सारे प्रयत्न हो गये विफल।
तो अन्य उपायों से उनको,
तपच्युत करने को हुवा विकल॥

माया से उसने भीलों की
सेना ली बना नवीन वहीं।
जो उन्हें डराने लगी किन्तु,
वे रहे ध्यान में लीन वहीं॥

यह देख देव ने सोचा यह
इनसे न डरे हैं 'वीर' अभी।
मेरे इन सभी उपायों से,
हैं डिगे न ये गम्भीर अभी॥

मैंने हैं विषम प्रयत्न किये,
पर तजी न इनने समता है।
क्या इनको अपनी काया से,
रह गयी न किंचित् ममता है?

सम्भवतः अपने पथ से ये
डिग पायेंगे न सरलता से।
पर मेरा भी देवत्व विफल
यदि टलते ये न अटलता से॥

यह सोच सिंह औ' चीतों की
सेना उसने सोत्साह रची।
घमसान वहाँ मच गया सभी
जीवों में चीख कराह मची॥

पर कोई भी न प्रभाव पड़ा,
उन महातपी उत्साही पर।
सुर की न एक भी युक्ति चली,
उन मुक्ति-मार्ग के राही पर॥

अतएव धूल की वर्षा की,
पर जमे रहे वे सन्त वहीं।
भू-नभ पर धूल दिखाती थी
दिखते थे और दिगन्त नहीं॥

पद से शिर तक दब गये धूल—
में, पर न ध्यान से 'वीर' हटे।
यह देख नीर बरसाया पर,
वे रहे जहाँ के तहाँ डटे।

यद्यपि यह दृढ़ता देख हुवा,
उसको आश्चर्य महान वहाँ।
पर सहसा आया ध्यान कि मैं
आया मन में क्या ठान यहाँ!

यह सोच पुनः निज माया से
रच जन्तु विषैले त्रास दिया।
अहि, वृश्चिक, कर्णखजूर आदि—
को छोड़ 'वीर' के पास दिया॥

फिर भी इनसे भयभीत नहीं,
हो सके मनःपर्यय ज्ञानी।
यह देख देव ने उन प्रभु की,
धृति, शान्ति, वीरता पहिचानी॥

औ, अपनी माया को समेट,
स्वयमेव शान्त वह अमर हुवा।
इस अग्नि परीक्षा में तप कर
प्रभु-तेज और भी प्रखर हुवा॥

तदनन्तर कर प्रस्थान वहाँ—
से 'वीर' 'नालुका' आये थे।
कुछ रुक 'सुभोग' 'सुच्छेत्ता' की—
ही ओर स्वपाद बढ़ाये थे॥

फिर 'मलय' और फिर 'हत्थिसीस'
फिर 'तोसलि' जाकर भ्रमण किया।
पश्चात् पहुँच 'सिद्धार्थ पुरी''
कर ध्यान आत्म का मनन किया॥

'व्रज ग्राम' गये फिर, उस सुरने—
भी अब तक था सहगमन किया।
सर्वत्र विघ्न थे किये, जिन्हें—
प्रभु ने था निर्भय सहन किया॥

इससे अब हो प्रत्यक्ष प्रगट,
प्रभु की महिमा का गान किया।
बोला कि "आपकी दृढ़ता को
मैंने सम्यक् पहिचान लिया॥

षट् मास अभी तक सँग रह कर,
उपसर्ग आप पर घोर किया।
पर सदा आपकी दृढ़ता ने,
है मुझको हर्ष विभोर किया॥

था देवराज ने ठीक कहा,
हो गया मुझे अब निश्चय यह।
तप से च्युत करने आया था,
अब जाता हूँ मैं जय जय कह॥

यों की सराहना मुक्त कण्ठ—
से उनकी शान्ति अटलता की।
औ' बारम्बार प्रशंसा की,
उनके तप की निर्मलता की॥

पश्चात् भक्ति से उनके पद—
पर अपना मस्तक टेक दिया।
औ' कहा—"प्रभो! वह क्षमा करें
अब तक जो कुछ अविवेक किया॥"

यह कह कर उसने प्रभुवर के—
चरणों से भाल उठाया फिर।
औ' होकर अन्तर्धान शीघ्र,
वह स्वर्ग लोक में आया फिर॥

सुरपति समक्ष जा प्रकट किया,
"था नाथ ! आपने ठीक कहा ।
वे 'महावीर' हैं महाधीर,
हैं महातपी, निर्भीक महा ॥

मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ,
उनकी धृति और निडरता को !
मैं तो विमुग्ध हो गया देख-
कर उनकी ध्यान-प्रखरता को ॥

मैंने तप से च्युत करने को,
उन पर अति धूल उड़ायी थी ।
मिट्टी भी बरसायी थी,
पानी की झड़ी लगायी थी ॥

अहि, वृश्चिक, कर्ण खजूरों को,
उनकी काया पर डाला था ।
पर नहीं अल्प भी भङ्ग हुवा,
उनका वह ध्यान निराला था ॥

सब व्यर्थ हुये, तप-च्युत करने-
के मैंने जितने ढङ्ग किये ।
वे आत्म ध्यान में लीन रहे,
दृढ़ मेरु सदृश निज अङ्ग किये ॥"

इतना कह कर वह मौन हुवा,
सबने प्रभु-ध्यान-प्रताप सुना।
हर वाक्य देवियों ने भी तो,
अति शान्ति सहित चुपचाप सुना॥

फिर कहा—"आपने धूल-नीर
बरसा कर उन्हें सताया है।
कुछ कीड़ों और मकोड़ों को,
उनके तन से चिपटाया है॥

पर यह सोचा भी नहीं कि तन-
से रखते मोह यतीश नहीं।
इससे ऐसे उद्योगों से,
तजते स्वयोग योगीश नहीं॥

इन पर तो रङ्ग चढ़ा सकती-
है मात्र वासना की तूली।
अतएव आपने व्यर्थ वहाँ-
जा कर बरसायी है धूली॥

इस कार्य हेतु तो हमसे बढ़,
होते न आप सब दक्ष कभी।
अब देखो, उन्हें परखतीं हैं
हम जाकर वहीं समक्ष अभी॥

देखें, न मुग्ध कैसे होते,
अवलोक हमारा चन्द्रवदन ?
कैसे न मचाता है उनके
अन्तर में अन्तर्द्वन्द मदन ?

यह कह वे चलीं तपस्या-च्युत-
करने अपनी सुन्दरता से ।
अति दिव्य आभरण वसन पहिन,
तन सजा लिया तत्परता से ॥

श्री 'वीर' समक्ष उन्होंने जा
निज को सविलास दिखाया फिर ।
अति हाव भाव से निज छवि का
वैशिष्ट्य सलास दिखाया फिर ॥

पर 'महावीर' ने एक बार-
भी उनकी ओर नहीं देखा ।
रस भरी स्वर्ग-सुन्दरियों को
नीरस तरु-ठूठों सा लेखा ॥

जब नहीं मुग्ध वे हुये, उन्हें-
तब निष्फल अपना देह लगा ।
भासा वह दिव्य स्वरूप विफल
जो नर में सका न स्नेह जगा ॥

रीझे न दिगम्बर वे जिन पर
निष्फल से वे परिधान लगे।
भूषण दूषण सम औ' दुकूल,
अब उनको शूल समान लगे॥

पर तत्क्षण आया ध्यान कि हम—
क्या कह कर यहाँ पधारी हैं!
हम इन्हें जीतने आयीं हैं,
जा रहीं स्वयं पर हारी हैं॥

यह सोच नाचने लगीं और,
गा चलीं प्रेम मय गान मधुर।
पर प्रभु का हृदय न तान सकी,
उनके गीतों की तान मधुर॥

उनकी धुन में घुन नहीं लगा—
पायी नूपुर की रुनन झुनन।
यह देख लगे मुरझाने थे,
उनकी आशा के सौम्य सुमन॥

फिर भी वे नहीं निराश हुईं
औ' रचा उन्होंने जाल नया।
प्रभु को तप से च्युत करने को,
सोचा उपाय तत्काल नया॥

बोलीं कि "आपको हम अपने
आने का हेतु सुनातीं हैं।
अतएव ध्यान से उसे सुनें,
हम सब जो बात बतातीं हैं॥

मुनिनाथ! आपके इस तप से,
हैं मुदित हुये सुरनाथ वहाँ।
फलरूप आपकी सेवा में,
भेजा हम सबको साथ यहाँ॥

जिनकी अभिलाषा से ही तप
करते हैं यहाँ मुनीश सभी।
जिनके पाने को योगों का
साधन करते योगीश सभी॥

जिनकी इच्छा से युद्धों में,
मरते हैं वीर अनेक यहाँ
जिनकी वांछा से करते हैं,
पूजक प्रभु का अभिषेक यहाँ॥

वे स्वतः आपके प्राप्त हुईं,
इससे अब हमसे स्नेह करें।
औ' देकर अपना अङ्गदान
अब सफल हमारी देह करें॥

यह सुन भी प्रभु ने उन सुरियों—
की ओर उठाये नेत्र नहीं।
कारण कि वासना से दूषित—
थे उनके अन्तस्-क्षेत्र नहीं॥

उन पर निज रङ्ग चढ़ाने में,
था अब भी विफल अनङ्ग हुवा।
सुर भामिनियों के भ्रू-भङ्गों—
से भी प्रभु-ध्यान न भङ्ग हुवा॥

उन पर उनकी चञ्चलता का,
चल पाया रञ्च प्रपञ्च नहीं।
बन सका राग का रङ्गस्थल,
उनके मानस का मञ्च नहीं॥

वे चिर उदार निज स्नेह दान—
के लिये बने थे महाकृपण।
था यही हेतु जो इतने पर—
भी मौन रहे वे महाश्रमण॥

पा उन्हें निरुत्तर उनने निज,
माया से और उपाय किया।
उनको उभारने हेतु राग—
उद्दीपक अध्यवसाय किया॥

देवाङ्गनाओं द्वारा परीक्षा
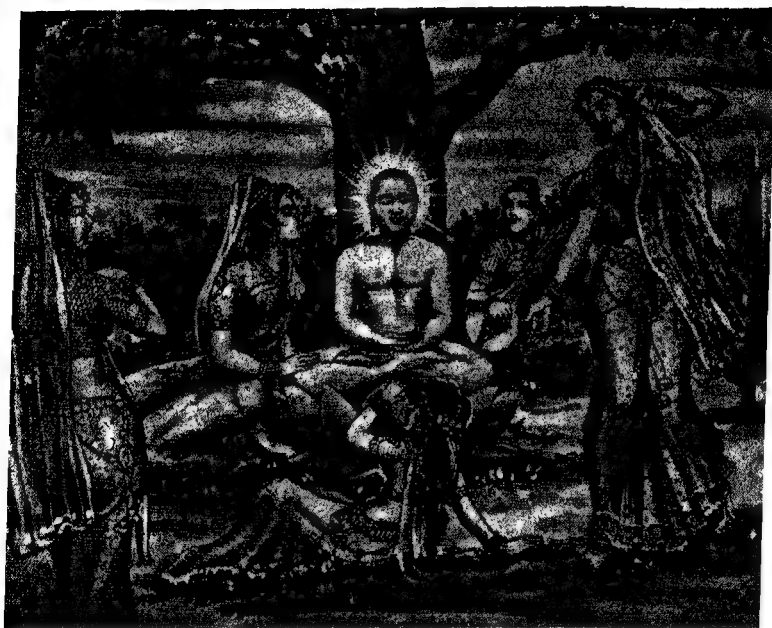
उन पर निज रङ्ग चढ़ाने में
था अबभी विफल अनङ्ग हुवा।
सुर भामिनियों के भ्रू-भङ्गों-
से भी प्रभु-ध्यान न भङ्ग हुवा॥

(पृष्ठ संख्या ४३०)

पर जागा काम-विकार नहीं,
निस्सार सकल व्यापार रहे।
असफल हो वे ही विकृत हुईं,
पर 'वीर' पूर्ण अविकार रहे।

आजानु बाहु के बाहु बाँध,
पाये उनके भुजपाश नहीं।
आशा तक उनको छोड़ चली,
पर छोड़ी उनने आश नहीं॥

बोलीं—"हमने था सुना आप,
हरते दुखियों की पीर सभी।
औ' पर -उपकार-निमित्त लगा-
देते मन वचन शरीर सभी॥

यह भी था सुना आपका मन,
मृदु है शिरीष के फूल सदृश।
पर आज यहाँ हम देख रहीं,
वह है करील के शूल सदृश॥

हम तो नवनीत समान बनी,
पर आप वज्र से बने रहे।
हम झुकीं लता सी किन्तु आप,
तो हैं खजूर से तने रहे॥

अति व्यर्थ हमारा गात हुवा,
अति व्यर्थ हमारी बात हुई ।
अति व्यर्थ कटाक्ष निपात हुवा,
अति व्यर्थ आज यह रीत हुई ॥

अतएव चकित हो अंगुलियाँ,
हम दाँतों तले दबातीं हैं ।
आयीं था हो आसक्त यहाँ,
पर भक्त बनी अब जातीं हैं ॥

इतना कह 'त्रिशला नन्दन' का,
अभिनन्दन बारम्बार किया ।
उन काम-निकन्दन के चरणों,
का वन्दन बारम्बार बारम्बार किया ॥

फिर तत्क्षण अन्तर्धान हुईं,
औ' स्वर्ग गयीं सुरबाला वे ।
पहनाने थीं वरमाल गयीं,
आयीं गाते जयमाला वे ॥

कारण कि वीर के नयन लुब्ध-
थे हुये न उनके बालों पर ।
उन आत्म-रसिक के अधर लुब्ध,
थे हुये न उनके गालों पर ॥

अतएव 'वीर' के सदाचार-
का आज उन्हें था बोध हुवा।
एवं अपने उस कदाचार-
पर आज उन्हें था क्रोध हुवा॥

थीं मान रहीं यह तुच्छ कार्य,
हमसे ही होगा सम्भव अब।
अब माना प्रभु को च्युत करना,
सब के ही लिए असम्भव अब॥

जो कहा इन्द्र ने था, वह अब-
अक्षरशः सच प्रतिभात हुवा।
जो गर्व रूप का करतीं थीं,
उस पर था उल्कापात हुवा॥

अब वे सुखधुएँ नहीं यहाँ,
जब प्रभु ने ऐसा भान किया।
तो उठे और चर्यार्थ नगर-
की ओर पुण्य प्रस्थान किया॥

छह मास पूर्ण हो जाने पर-
ही थी उनकी यह भुक्ति हुई।
उन निर्मोही का ऐसा तप,
अवलोक विमोहित मुक्ति हुई॥

पश्चात् वहाँ से 'श्रावस्ती'-
की ओर चले वे महा श्रमण।
औ' पहुँचे 'सेयविया' आदिक-
नगरों में करते हुये भ्रमण॥

'श्रावस्ती' से चल 'कौशाम्बी'
फिर 'वाराणसी' गये 'सन्मति'।
पश्चात् 'राजगृह' 'मिथला' हो,
'वैशाली' पहुँचे वे जिनपति॥

वर्षागम देख किया उनने,
ग्यारहवाँ चातुर्मास वहीं।
अब देखो, कितने दिन तक वे,
लेते न एक भी ग्रास कहीं॥

—×—

सत्तरहवाँ सर्ग

ध्रुव सत्य कथन है यह कोई,
उन्मत्त पुरुष की गल्प नहीं।
यह सब यथार्थ का चित्रण है,
इसमें न कल्पना अल्प कहीं॥

आहार हेतु बिनती करते—
थे 'वैशाली' के श्रेष्ठि प्रमुख।
पर 'वीर' अन्न औ' पानी से—
रहते थे प्रतिदिन पूर्ण विमुख॥

इससे अनुमान किया, मासिक—
तप है, इस कारण मूँद नयन।
ये ध्यानारूढ़ सदा रहकर,
करते रहते हैं आत्म मनन॥

सम्भवतः अब ये एक मास—
उपरान्त ध्यान यह त्यागेंगे।
बस, तभी उसी दिन अब मेरे—
ये भाग्य कदाचित् जागेंगे॥

पर मास समाप्त हुवा, फिर भी
प्रभु ने पुर को न प्रयाण किया।
रह निराहार ही ध्यान मग्न
उनने अपना कल्याण किया॥

की अतः कल्पना अब उनने—
होगा द्वैमासिक लगा ध्यान।
दो मास अनन्तर पर उनको
मिथ्या यह भी अनुमान लगा॥

क्रमशः त्रय मास समाप्त हुये,
पर उठे नहीं वे दृढ़ ध्यानी।
आहार दान के लिये बाट—
रह गये जोहते वे दानी॥

जब चार मास हो गये पूर्ण,
पूरा तब उनका योग हुवा।
मध्यान्ह समय चर्यार्थ चले,
पर कुछ विचित्र संयोग हुवा॥

जो श्रेष्ठि प्रमुख गत चार मास—
से उनका मार्ग निरखते थे।
औ' प्रायः उनके लिये शुद्ध—
आहार बनाकर रखते थे॥

जिनको आशा थी कि आज,
कर लूँगा सफल मनोरथ को।
औ' यही सोच जो देख रहे—
थे प्रभु के आने के पथ को॥

उन तक आने के पूर्व कहीं,
पड़गाह गये वे महा श्रमण।
कारण कि जहाँ विधिवत् मिलता,
कर लेते भोजन वहीं ग्रहण॥

वे वीतराग थे, निज भक्तों —
से भी अनुराग न करते थे।
इस वीतरागता का सपने—
में भी परित्याग न करते थे॥

अन्यत्र पारणा हुई, श्रेष्ठि—
को सुन यह हुई निराशा थी।
यद्यपि मन में रह गयी आज,
उनके मन की अभिलाषा थी॥

तो भी जिसने आहार दिया—
था, उस पर व्यक्त न रोष किया।
सौभाग्य सराहा उसका, निज—
दुर्भाग्य समझ परितोष किया॥

'वैशाली' से चल 'सुसुमार'
आये सिद्धार्थ-दुलारे वे।
पश्चात् 'भोगपुर' गये, वहाँ—
से 'नन्दी ग्राम' पधारे वे॥

फिर पहुँचे 'मेढिय गाँव' पुनः,
'कौशाम्बी' हेतु विहार किया।
औ' पौष-कृष्णा-प्रतिपदा-दिवस
यह घोर अभिग्रह धार लिया॥

आहार उसी से लूँगा मैं,
जो कन्या केश विहीना हो।
दासत्व प्राप्त, शृङ्खला बद्ध,
होकर भी सती कुलीना हो॥

जिसको त्रय दिवस अनन्तर कुछ
कोदों खाने को आया हो।
औ' वही मुझे दे देने को,
जिसका अन्तस् ललचाया हो॥

आहार करूँगा तभी ग्रहण,
जब होंगी बातें इतनी सब।
अब देखो, उन प्रभु के सम्मुख,
आती है दुस्थिति कितनी अब?

वे उक्त प्रतिज्ञा रख मन में,
जाते नगरी की ओर सदा।
पर कहीं प्रपूर्ण न होता था,
पूर्वोक्त अभिग्रह घोर कदा॥

यों निकल गये थे चार मास,
उनको चर्यार्थ निकलते अब।
पर नित्य लौट वे जाते थे,
रह जाते निज कर मलते सब॥

अब तक आहार न होने से,
भक्तों में बढ़ी विकलता थी।
पर 'महावीर' के अन्तस्तल--
में पूर्व समान अटलता थी॥

अब भी तो इसी कसौटी पर,
निज कर्म इधर वे कसते थे।
आहार दान के हेतु उधर,
सब श्रावक बन्धु तरसते थे।

पर 'वीर' कभी भी नहीं किसी—
से स्वीय अभिग्रह कहते थे।
ध्रुवतारे सी दृढ़ता अपना,
वे शान्त भाव से रहते थे॥

चिन्तित हो रानी 'मृगावती'—
ने राजा से यह बात कही।
"हो रही पारणा नहीं, तथा—
हो रहा अभिग्रह ज्ञात नहीं॥

हा! उन्हें हमारी नगरी में—
ही मिलती विधि अनुकूल नहीं।
आ रहे महीनों से हैं वे,
पर होती प्रतिदिन भूल कहीं॥

क्यों पता लगाते नहीं ? उन्हों—
ने लिया अभिग्रह कैसा है ?
क्यों नाथ ! हमारे शासन में,
हो रहा आज कल ऐसा है ?

यदि यहाँ पारणा हुई न तो
यह राज्य वृथा यह कोष वृथा।
औ' नहीं आज भर हमें सदा,
जनता देवेगी दोष वृथा ॥

अतएव अभिग्रह का हमको
अब सत्वर पता लगाना है।
फिर तदनुसार ही शीघ्र हमें,
साधन सम्पूर्ण जुटाना है ॥

इससे जैसे भी बने आप,
यह पता तुरन्त लगायें अब।
जिससे कि हमारी नगरी से
उपवासे सन्त न जायें अब ॥"

रानी ने राजा को सूचित—
यों निज हार्दिक उद्‌गार किये।
सुन जिन्हें भूप ने कहा कि अब
होगा अवश्य आहार प्रिये ॥

सचिवों को शीघ्र बुला कर मैं
इस पर कर रहा विचार अभी।
धर्माचार्यों से पूछ रहा,
अनगारों का आचार सभी ॥

आहार दान की रीति पूँछ,
जनता को शीघ्र जता दूंगा।
सब सावधान हो पड़गाहें,
यह भी मैं उसे बता दूँगा ॥

यों तो स्वभावतः हे रानी!
धर्मज्ञ हमारी जनता है।
पर जाने क्यों इतने दिन से,
कोई भी योग न बनता है ॥

तुम धैर्य रखो मैं परामर्श—
कर उलझन को सुलझाता हूँ।
उनके भोजन को हर सम्भव
आयोजन मैं करवाता हूँ ॥"

नृप 'शतानीक' ने यों रानी—
को प्रेम सहित समझाया था।
पर वास्तव में क्या यत्न करें?
यह नहीं समझ में आया था ॥

जो यत्न किये, सब विफल रहे,
यह देख नरेश हताश हुये।
जो आशावादी श्रावक थे,
वे भी अब पूर्ण निराश हुये॥

था नहीं अभिग्रह विदित हुवा,
पञ्चम भी मास व्यतीत हुवा,
छठवाँ भी क्रमशः बीत चला,
पर कोई गृह न पुनीत हुवा॥

आओ, अब उससे परिचित हों,
जो बनने वाला दाता है।
अब यहाँ उसी का लघु परिचय,
इस समय कराया जाता है॥

श्री 'वृषभसेन' के यहाँ क्रीत—
'चन्दना' नाम की दासी थी।
जो 'चेटक' नृप की कन्या थी,
छवि में साक्षात् रमा सी थी॥

पर थी अभाग्य से पड़ी हुई,
माँ और पिता से दूर यहाँ।
उन उक्त श्रेष्ठि की गृहणी का
शासन रहता था क्रूर जहाँ॥

तत्काल पालना पड़ता था,
उनका हरेक आदेश उसे।
इस पर भी सहने पड़ते थे,
प्रति दिन अनेक दुख क्लेश उसे॥

पर सेठानी से सुन्दरतर—
थी उस दासी की देह सभी।
अतएव उसी से ज्योतिर्मय—
सा लगता उनका गेह सभी॥

इस छवि से जल कर सेठानी
अब उसे लगाने दोष लगीं।
निष्कारण उस पर बात बात—
पर करने अतिशय रोष लगीं॥

जब तीव्र वेग से वृद्धिंगत—
हो उग्र हुवा वह ईर्ष्यानल।
तो उसे घोर दुख देने की
तत्काल हुई अभिलाष प्रबल॥

आवेश बढ़ा जब, तो कटवा—
उसके शिर का हर बाल दिया।
औ' बाँध बेड़ियों से पद-युग
उसको कारा में डाल दिया॥

निज बालों से भी हो विहीन,
अब वहाँ पड़ी थी वह बाला।
जो लिखा भाग्य में था, उसको—
कैसे जा सकता था टाला॥

त्रय दिवस अनन्तर उस दिन कुछ,
अनुकूल उसी का भाग्य हुवा।
कुछ कोदों मिले उसे अथवा—
था प्राप्त स्वर्ग-साम्राज्य हुवा॥

इतने में 'जय श्री महावीर'—
के स्वर का उसने भान किया।
प्रभु 'वीर' पारणा हेतु इधर—
आ रहे, शीघ्र यह जान लिया॥

थे उसे मिले जो कोदों कुछ,
वे ही देने का भाव हुवा।
वह भूल गई मैं दासी हूँ,
उस क्षण ऐसा कुछ चाव हुवा॥

हैं पड़ीं बेड़ियाँ पाँवों में,
यह भी न उसे आभास हुवा।
जा शीघ्र द्वार पर खड़ी हुई,
उसको ऐसा उल्लास हुवा॥

चन्दना का आहार दान

केवल इतना था ध्यान उसे,
ये छह महिने के भूखे हैं ।
औ' मुझ-अभागिनी के समीप-
केवल ये कोदों रूखे हैं ॥

(पृष्ठ ४४७)

केवल इतना था ध्यान उसे,
ये छह महिने के भूखे हैं।
औ' मुझ अभागिनी के समीप,
केवल ये कोदों रूखे हैं॥

अतएव उन्हें पड़गाह लिया,
की किसी क्रिया में भूल नहीं।
फिर कोदों उनकी अञ्जलि में
रखचली हर्ष से फूल वहीं॥

उसका यह भाग्योत्कर्ष देख,
सब दर्शक हर्ष विभोर हुये।
निर्विघ्न पारणा होगी अब,
यह सोच मुदित मन मोर हुये॥

अञ्जलि बाँधे थे खड़े हुये,
दासी समक्ष निस्वार्थ श्रमण।
षट् मास जिन्हें थे बीत चुके,
यों करते आहारार्थ भ्रमण॥

यद्यपि था चिर उपरान्त मिला,
भोजन से तदपि ममत्व न था।
इस कारण उनकी समता का,
साधारण आज महत्व न था॥

उनको आहार कराने का—
दासी को पुण्य निमित्त मिला।
यह समाचार सुन महामोद—
से रानी का भी चित्त खिला॥

अज्ञात प्रेरणा हुई कि मैं
उससे सत्वर सोल्लास मिलूँ।
उसको न बुलाऊँ पर मैं ही,
जा स्वयं उसी के पास मिलूँ॥

थी नहीं अकारण मिलने की—
यह अति बलवती उमङ्ग अहो।
था दो वियोगिनी बहिनों के
मिलने का जुटा प्रसङ्ग अहो॥

जब 'मृगावती' ने देखा तो
हो उठे हर्ष से सजल नयन।
इस लोह लेखनी को अशक्य,
लिखना उनका वह मधुर मिलन॥

जिसके अन्वेषण को 'चेटक'—
ने था विशेष उद्योग किया॥
जिसका अपहरण 'सुभद्रा' ने
उर पर पत्थर रख भोग लिया॥

उसके सतीत्व की रक्षा की,
सब कथा सुनी उन रानी ने।
था खोला सभी रहस्यों को
उसकी इस करुण कहानी ने॥

अतएव 'चन्दना' का संयम
सबने सोल्लास सराहा था।
यह था सतीत्व का तेज कि जो
उसने प्रभु को पड़गाहा था॥

सब समाचार ले राजदूत,
'चेटक' के पास तुरन्त गये।
'चेटक' भी सुनकर 'कौशाम्बी'
नगरी सोल्लास तुरन्त गये॥

माँ और पिता का बेटी से,
चिर विरह अनन्तर मिलन हुवा।
उस क्षण के उनके हर्ष-कथन—
में अक्षम यह कवि-वचन हुवा॥

प्रभुवर का घोर अभिग्रह ही
यह मङ्गल अवसर लाया था।
अतएव सभी ने उन प्रभु को
श्रद्धा से शीश झुकाया था॥

उस अपहृत अपनी भगिनी से,
मिलने का आज नियोग हुवा।
रह गयी न जिसकी आशा थी,
उससे सहसा संयोग हुवा।

अतएव 'चन्दना' को ले जा—
कर किया विविध आयोजन था।
निज राज भवन में अपने सँग
सस्नेह कराया भोजन था॥

औ' उसे पहिनने हेतु नये,
निज तुल्य बसन आभरण दिये।
तदनन्तर दोनो ने अतीत—
के व्यक्त कई संस्मरण किये॥

सब कहा 'चन्दना' ने कैसे
विद्याधर ने अपहरण किया?
किस भाँति बचाकर 'बृषभसेन'—
ने अपने गृह में शरण दिया॥

यह भी बतलाया मैं कैसे
करती सतीत्व का त्राण रही।
हर समय शील की रक्षा में
देने को तत्पर प्राण रही॥

फिर गये 'सुमङ्गल' 'सुच्छेता'
'पालक' सिद्धार्थ-दुलारे वे ।
बारहवें चातुर्मास हेतु
फिर 'चम्पापुरी' पधारे वे ।।

चातुर्मासिक तप धारण कर,
वे वहाँ ध्यान में लीन हुये ।
उनके इस तप से भी जाने—
कितने ही कर्म विलीन हुये ।।

द्विज 'स्वातिदत्त' ने भी चर्चा—
कर मान उन्हें विद्वान लिया ।
कर चतुर्मास उन प्रभु ने फिर
'जंभियपुर' को प्रस्थान किया ।।

औ' शीघ्र पहुँच कुछ समय वहाँ,
उनने ध्यानार्थ निवास किया ।
फिर 'मिंढिय' हो 'छम्माणि' गये,
औ' ध्यान ग्राम के पास किया ।।

उस समय ग्वाल ने कोप किया,
ध्यानस्थ किन्तु श्री 'वीर' रहे ।
उसने जो जो भी कष्ट दिये,
सब सहते वे गम्भीर रहे ।।

ग्वाले ने दुख दे हर्ष किया,
प्रभु ने दुख सह न विषाद किया।
उसने दुख देने में, प्रभु ने--
सहने में नहीं प्रमाद किया॥

ग्वाले ने अति निर्ममता की,
पर जमे रहे वे समता से।
उत्तम जन डिगते नहीं कभी
अधमों की अधम अधमता से॥

प्रभु बारह वर्षों से ऐसे,
कष्टों को सहते आये थे।
जितने भी थे उपसर्ग हुये,
सब में चुप रहते आये थे॥

गत उपसर्गों सम इसको भी
उनने समता से सहन किया।
ग्वाले के जाने पर उठकर,
'मध्यमा' ग्राम को गमन किया॥

इतने दिन सहे परीषह औ'
झेले उपसर्ग महान सभी।
औ' एक दृष्टि से ही देखे,
सम्मान सभी अपमान सभी॥

यों साढ़े बारह वर्ष चली,
तप की अति करुण कहानी यह।
कर्मों से करता युद्ध रहा,
इतने दिन तक सेनानी वह ॥

इस दीर्घ अवधि में तीन शतक,
उनचास दिवस आहार किया।
अवशिष्ट दिनों में निराहार
निर्जल रह आत्म विहार किया ॥

इस तप से जाने कितने ही—
तो कर्मों का संहार हुवा।
जाने कितने ही आत्म गुणों—
से भी उसका शृङ्गार हुवा ॥

कर पुनः 'मध्यमा' से विहार,
चल पड़े स्वतन्त्र विहारी वे।
देखो, अब होने वाले हैं,
सम्पूर्ण ज्ञान के धारी वे ॥

ईर्या से चलते हुये सतत,
वे पहुँचे 'जंभिय' ग्राम निकट।
देखा 'ऋजुकूला-सरिता तट—
पर एक 'साल' का वृक्ष विकट ॥

उसके नीचे वे बैठ गये,
निश्चेष्ट बना निज काया को।
था पहिली बार दिखा ऐसा
ध्यानी उस तरु की छाया को।

प्रभु ने परिणाम विशुद्ध बना,
नासा पर दृष्टि झुकायी थी।
चढ़ 'क्षपक श्रेणि' पर शुक्ल ध्यान
में सारी शक्ति लगायी थी॥

हो गये घातिया कर्म नष्ट,
इतना उत्तम वह ध्यान किया।
वैशाख शुक्ल की दशमी को,
पा निर्मल केवल ज्ञान लिया॥

तत्काल विकृति सब दूर हुई,
सब प्रकृति स्वतः अनुकूल हुई।
औ' युगों युगों को वन्दनीय
उस सरिता तट की धूल हुई॥

उस दिन की इस शुभ घटना की
साक्षी अब भी ऋजुकूला है।
उसको इस मङ्गल बेला का
शुभ दृश्य न अब तक भूला है॥

कैवल्य-लाभ कर 'महावीर'
अब विश्वज्ञान के कोष हुये।
यह देख न केवल यहाँ, स्वर्ग—
में भी उनके जयघोष हुये॥

अब चरम दशा को पहुँच चुका—
था उनका दर्शन ज्ञान प्रखर।
अतएव हुये थे निज युग के
वे सर्वोपरि विद्वान प्रखर॥

अब उन्हें ज्ञान में तीन लोक—
औ' तीनों काल दिखाते थे।
कर तल गत से उन्हें स्वर्ग—
भूतल-पाताल दिखाते थे॥

यह अनुपम लाभ हुवा था पर,
उनको न अल्प भी गर्व हुवा।
कैवल्य-प्राप्ति का दिवस अतः
जगती को मङ्गल पर्व हुवा॥

सबने सोल्लास मनाया था,
कैवल्य प्राप्ति का वह मङ्गल।
'जय महावीर' 'जय महावीर'—
की ध्वनि से गूँजा था जङ्गल॥

ध्रुव सत्य कथन है यह कोई,
उन्मत्त पुरुष की गल्प नहीं।
यह सब यथार्थ का चित्रण है,
इसमें न कल्पना अल्प कहीं ॥

ज्योतिषी सुरों ने समवशरण,
इतना अभिराम लगाया था।
जिसको विलोक कर लगता, भू—
पर स्वर्ग उतर कर आया था ॥

उसमें प्रवेश पा सकते थे,
भूपाल सभी कङ्गाल सभी।
उसमें सहर्ष आ सकते थे,
सब ब्राह्मण औ चण्डाल सभी ॥

जिस भाँति वहाँ आ सकते थे
पुण्यात्मा, धनपति, गुणी सभी।
उस भाँति वहाँ आ सकते थे,
पापी, निर्धन, निर्गुणी सभी ॥

नर के समान आ सकते थे,
वृष, गज, तुरङ्ग, लंगूर वहाँ।
निर्भय प्रवेश कर सकते थे,
मैना, मधुघोष, मयूर वहाँ ॥

पर प्रभु की दिव्यध्वनि द्वारा,
गूंजे थे अभी दिगन्त नहीं।
अतएव 'अवधि' से देवराज—
ने सोचा हेतु तुरन्त वहीं॥

अब चलो, पाठको! देखें हम
आगे क्या घटना घटती है।
किस भाँति द्विजोत्तम 'इन्द्रभूति'—
की जीवन-दिशा पलटती है!

जो निज विद्वत्ता के मद में
रहते थे प्रायः चूर अभी।
प्रभु समवशरण में आ उनका
मद कैसे होता दूर सभी॥

———

अठारहवाँ सर्ग

परिपूर्ण अहिंसा पालन से,
अब तक सबका निर्वाण हुवा।
हिंसा के द्वारा किसी जीव-
का नहीं कभी कल्याण हुवा॥

रच यज्ञ 'सोमिलाचार्य' विप्र-
ने बहु विद्वान जुटाये थे।
वेदाङ्ग विज्ञ थे जितने द्विज,
वे सब यज्ञार्थ बुलाये थे॥

अधिकांश द्विजों के सँग उनके-
प्रिय शिष्यों की भी टोली थी।
अतएव अतिथियों की संख्या
उस समय हजारों हो ली थी॥

ग्यारह तो ऐसे थे, जिनकी-
प्रज्ञा का नहीं ठिकाना था।
उत्सव की पूर्ण सफलता का
कारण उनका ही आना था॥

उनने इस अपनी विद्वत्ता-
की छाप सभी पर डाली थी।
वास्तव में विषय-विवेचन की,
उन सबकी रीति निराली थी॥

था बजा 'मध्यमा' में यद्यपि
उनकी इस प्रतिभा का डङ्का।
पर उन सबके भी अन्तस् में
थी एक एक रहती शंका॥

वे जिसे किसी को सूचित कर,
भी नहीं पूँछते थे उत्तर।
कारण, विद्वान् समझते थे,
वे अपने को सबसे बढ़कर॥

औ' नहीं किसी को साधारण
लगते थे उनके तर्क कदा।
यज्ञों में सर्व प्रथम मिलता-
था उनको ही मधुपर्क सदा॥

जब पढ़ते, लगता सरस्वती
स्वर में स्वयमेव उतरती है।
औ' स्वयं वृहस्पति की प्रज्ञा-
ही उन्हें अलंकृत करती है॥

सब विप्र योग्यता उन जैसी,
पाने के लिये तरसते थे।
बन शिष्य सैकड़ों ही उनके,
अपनी प्रतिभा को कसते थे॥

था कारण यही, किसी को जो-
निज शङ्का वे न बताते थे।
थी ख्याति रोकती, अतः प्रश्न,
करने में भी सकुचाते थे॥

इन ग्यारह में श्री 'इन्द्रभूति'
का होता सर्वाधिक आदर।
जो वहाँ पधारे थे 'गोवर-
पुर' से आमन्त्रित हो सादर॥

माना करते थे पाँच शतक-
चेले अपना आदर्श इन्हें।
औ' जाने कितनों को लौटा-
देना पड़ता प्रतिवर्ष इन्हें॥

श्री 'अग्निभूति' थे इनके ही-
भ्राता, जो शिक्षा देते थे।
औ' छात्र पाँच-सौ इनसे भी,
वेदों की शिक्षा लेते थे॥

थे अनुज इन्हीं के 'वायुभूति'
था इनका भी उद्देश्य यही।
विद्यार्थी पाँच शतक इनके
मुख से सुनते उपदेश वही॥

'कोल्लाग'-निवासी विप्र 'व्यक्त'
थे व्यक्त जिन्हें द्विज धर्म सभी।
औ' शिष्य पाँच सौ इनसे भी
थे सीख रहे द्विज कर्म सभी॥

'कोल्लाग'-निवासी श्री 'सुधर्म'-
भी तो विद्वान् धुरंधर थे।
थे पाँच शतक चेले इनके,
जो एक एक से बढ़कर थे॥

श्री 'मण्डिक' मौर्य निवासी थे,
ये भी अध्यापक नामी थे।
औ सार्ध तीन सौ छात्र बने-
रहते इनके अनुगामी थे॥

श्री 'मौर्य मौर्य' के थे इनने-
भी अपने शिष्य बनाये थे।
जिनकी संख्या थी सार्ध तीन-
सौ, सभी यहाँ सँग आये थे॥

श्रीमान् 'अकम्पिक' उपाध्याय
'मिथिला' से हुये निमन्त्रित थे।
जिनके द्वारा भी तीन शतक
विद्यार्थी अभी नियन्त्रित थे॥

अध्यापक विप्र 'अचल भ्राता'
'कौसल' से यहाँ पधारे थे।
थे शिष्य तीन सौ जिनके औ'
जो नहीं किसी से हारे थे॥

'मेतार्य' यहाँ आमन्त्रित हो-
कर आये थे 'तुङ्गिकपुर' से।
जिनकी सेवा हित रहते थे,
चेले त्रय शतक समातुर से॥

श्रीयुत 'प्रभास' द्विज 'राजगृही'-
वासी थे, शिष्य बनाते थे।
चेले थे इनके तीन शतक,
जिनको ये ज्ञान सिखाते थे॥

ये गणधर बनने योग्य सभी,
सुरपति ने ज्यों ही भान किया।
त्यों ही द्विज रूप अनूप बना,
यज्ञस्थल को प्रस्थान किया॥

चोटी में तो थी लगी गाँठ,
चन्दन से भाल अलंकृत था।
यज्ञोपवीत युत कन्धे पर
चीनांशुक लाल अलंकृत था॥

यों विप्र वेशधर वहाँ गये,
था वह सब विप्र समाज जहाँ।
औ' 'इन्द्रभूति' कुछ पढ़ते थे,
उन सबके मध्य विराज जहाँ॥

जा निकट कहा–'इस एक श्लोक–
का अर्थ पूँछना मात्र मुझे।
अतएव गुरो! दें बता, समझ—
इन छात्रों सा ही छात्र मुझे॥

कारण मेरे गुरु ध्यान मग्न,
हो गये ग्रहण कर मौन वहाँ।
अतएव अर्थ बतला सकता–
अब सिवा आपके कौन यहाँ?

है सुनी आपकी कीर्ति, यही—
मेरे आने का कारण है।
हैं आप असाधारण पण्डित,
यह श्लोक किन्तु साधारण है॥

आशा है अर्थ अवश्य अभी
बतलायेंगे द्विजराज मुझे।
कारण यह श्लोक समझने की,
उत्कट जिज्ञासा आज मुझे॥

सुन 'इन्द्र भूति' ने सर्व प्रथम,
उस आगत से ठहराया यह।
उसका तात्पर्य बताने से—
पहिले प्रतिबन्ध लगाया यह॥

बोले—"स्वभावतः किसी शिष्य—
को करता कभी निराश नहीं।
बतला देता मैं अर्थ तुम्हें,
पर अभी मुझे अवकाश नहीं॥

यह बात किन्तु यदि मानो तो,
बतला दूँ अर्थ तुरन्त तुम्हें।
बन मेरा शिष्य सदा रहना—
होगा जीवन पर्यन्त तुम्हें॥

सुन कहा—"आपने बात अभी
मुझको जो यह बतलायी है।
इसको सुन मेरे अन्तस् में—
भी एक भावना आयी है॥

वह यह कि आप यदि इस पद का
तात्पर्य नहीं बतलायेंगे।
या भ्रान्त अर्थ समझाकर अब,
मुझ भोले को बहकायेंगे॥

तो शीघ्र आपको भी मेरे,
गुरु से दीक्षा लेना होगा।
कुल क्रम से आगत यह निज मत
तत्क्षण ही तज देना होगा॥

यह बात मान लें तो मैं तव-
आदेश करूँगा लोप नहीं।
यदि आप कदाचित् हारें तो,
मुझ पर दिखलायें कोप नहीं ॥"

यह सुन भी शिष्य बनानेका,
'गौतम' तज पाये लोभ नहीं।
प्रतिबन्ध लगा था जो उन पर,
उससे माना कुछ क्षोभ नहीं ॥

बोले—"स्वीकार मुझे भी यह,
निज श्लोक कराओ शीघ्र श्रवण।
कर अर्थ अभी मैं करता हूँ,
तव जिज्ञासा का निराकरण।"

यह सुन कर 'गौतम' के कहने-
पर 'सुरपति' ने विश्वास किया।
औ' मधुलय से आरम्भ श्लोक-
का पढ़ना अब सोल्लास किया ॥

"त्रैकाल्य' द्रव्य षट्, नव पदार्थ,
षट् काय जीव औ' लेश्या षट्।
पञ्चास्तिकाय, व्रत, समिति, ज्ञान,
चारित्र भेद आदिक उत्कट ॥

कह गये मोक्ष का मूल इन्हें,
त्रिभुवन पूजित अर्हन्त स्वयं।
वह भव्य कि जो इन पर श्रद्धा—
करता जीवन-पर्यन्त स्वयं॥

सुन 'इन्द्रभूति' को उक्त छन्द,
मन में आश्चर्य महान हुवा।
भासा, अब इस विद्यार्थी के—
द्वारा मेरा अपमान हुवा॥

जिसको निज शिष्य बनाना था,
उससे ही मेरी हार हुई।
ऐसी न कभी थी हुई मुझे
जैसी उलझन इस बार हुई॥

यदि इसे बताता अर्थ नहीं,
तो होगा मम उपहास यहीं।
यह सोच कहा—"ले चलो मुझे,
तुम अपने गुरु के पास वहीं॥"

कह 'इन्द्रभूति' वे गये वहाँ,
थे 'महावीर' अर्हन्त जहाँ।
औ' शिष्यों के सँग समवशरण—
में हुये प्रविष्ट तुरन्त वहाँ॥

जब मान स्तम्भ विलोका तो
मानादि नष्ट सब क्षिप्र हुये।
इस समव शरण की महिमा को,
अवलोक चकित सब विप्र हुये॥

अब उन्हें 'वीर' के वन्दन में—
ही भासा अपना क्षेम स्वयं।
पारस मणि के संसर्ग—लाभ—
से लोह हुवा था हेम स्वयं॥

जो गर्व आज तक किया आज
उस पर मन ही मन क्षोभ हुवा।
औ' 'महावीर' के समवशरण—
में ही रहने का लोभ हुवा॥

माना, मिथ्या मद के पिशाच—
से आज हमारा त्राण हुवा।
अब तक कल्याणाभास रहा।
वास्तविक आज कल्याण हुवा॥

इस समवशरण में शरण मिली—
है आज हमें जग त्राता की।
हमने विलोक ली यह विभूति,
इन तीन लोक के ज्ञाता की॥

यों वहाँ सभी को शान्ति मिली,
औ, नहीं किसी को त्रास हुवा।
इससे कुछ प्रश्न वहाँ करने—
का गौतम को उल्लास हुवा॥

पूँछा—"यह मण्डप तो मुझको,
होता मानव-कृत ज्ञात नहीं।
कारण, ऐसी रचनाएँ तो,
मानव के वश की बात नहीं॥

इससे इसके निर्माता का—
परिचय है मुझको ज्ञेय प्रभो।
नयनाभिराम इस रचना का,
किस शिल्पी को है श्रेय प्रभो॥

सर्वत्र अलौकिकता दिखती,
मण्डप के चारों ओर मुझे।
जो अपनी दिव्य छटाओं से,
करती है हर्ष विभोर मुझे॥

अतएव आज मम विस्मय का,
है नहीं कहीं भी अन्त अभी।
इतनी सुन्दर उपदेश-सभा,
देखी न आज पर्यन्त कभी॥

शिल्पी का नाम बतायेंगे,
है मुझे आपसे आशा यह।"
इतना कह ज्यों ही मौन हुये,
त्यों हुई कर्ण गत भाषा यह॥

"जब 'चन्द्र' इन्द्र ने जाना यह
अब बचे घातिया कर्म नहीं।
तो समवशरण की रचना की
स्वयमेव मान निज धर्म यहीं॥

सुन 'इन्द्रभूति' ने यह उत्तर,
यह प्रश्न पुनः तत्काल किया।
"यह चन्द्र कौन है? इसने गत-
भव में क्या पुण्य विशाल किया?

यह सभी जानने को मेरा
जिज्ञासु हृदय ललचाया है।
अतएव बतायें यह, इनने-
क्यों जन्म वहाँ पर पाया है?"

उत्तर में सुना कि 'श्रावस्ती'
नामक पुर है प्राचीन यहीं।
था 'अङ्कित' श्रेष्ठि किया करता,
व्यवसाय स्वीय स्वाधीन यहीं॥

उसने सुनकर श्री 'पार्श्वनाथ'—
के वचन सभी कुछ छोड़ दिया।
संसार मार्ग से हो विरक्त
शिव-पथ से नाताजोड़ लिया॥

लक्ष्मी का आराधन तज,
आरम्भ किया सोऽहं जपना।
कर घोर तपस्या सफल किया,
दुर्लभ मानव-जीवन अपना॥

फल रूप 'ज्योतिषी' देवों में
पाया दुर्लभ अवतार वहाँ।
है 'चन्द्र' नाम का इन्द्र तथा
करता सुख सहित विहार वहाँ॥

जब अपनी निश्चित आयु-अवधि,
कर लेगा पूर्ण व्यतीत वहाँ।
तब ले 'विदेह' में जन्म स्वयं,
पायेगा मोक्ष पुनीत महा॥"

यह ज्ञान देख कर 'इन्द्रभूति'—
पर शीघ्र प्रभाव अतीव पड़ा।
सोचा, कैसे भ्रम- सागर में—
था अब तक मेरा जीव पड़ा॥

जो भी सुनने को मिला, हुवा—
उससे अतिशय सन्तोष उन्हें।
वे लगे मानने मन ही मन
अब विश्व ज्ञान का कोष उन्हें॥

फिर सोचा, बिना कहे मेरी—
शङ्का को ये साधार अभी।
निर्मूल करें तो मैं इनको
सर्वज्ञ करूँ स्वीकार अभी॥

यों अभी सोचते थे, इतने—
में ही तो दिया सुनायी यह।
"हे गौतम! तुमने निज शङ्का
अब तक क्यों व्यर्थ छुपायी यह॥

इस आत्मा के अस्तित्व-विषय
में रहती शङ्का नित्य तुम्हें।
जो जीव नित्य अविनाशी है
वह लगता क्षणिक अनित्य तुम्हें॥

ज्यों ही 'गौतम' ने प्रभु-मुख से
यह उत्तर सुना अनूठा था।
त्यों समझ गये, जो समझा था—
मैंने, वह सब कुछ झूठा था॥

कर जोड़ कहा—"सर्वज्ञ आप—
हैं निस्सदेह जिनेश प्रभो।
अतएव चाहता हूँ सुनना
भवदीय-धर्म-उपदेश प्रभो॥

अभिलाषा मुझमें जागी है,
तव उपदेशामृत पान करूँ।
पहिचान जीव का सत्य रूप,
मैं निज आत्मिक उत्थान करूँ॥

वह शांत आपसे ही होगी
मेरी जो ज्ञान—पिपासा है।
अतएव स्वाति के घन बरसो
मेरा मन चातक प्यासा है॥"

यह सुन कर प्रभु ने भी देखा—
है सबसे उत्तम पात्र यही।
औ' शीघ्र बनेगा भी मेरा
अब सबसे पहला छात्र यही॥

मम समवशरण में लाया है;
वास्तव में इसका पुण्य स्वयं।
इसमें उपदेश ग्रहण करने—
का भी तो है नैपुण्य स्वयं॥

यह देख कहा—हे गौतम ! मैं—
तुमको कुछ सार बताता हूँ।
संक्षेपतया ही जीव तत्व,
से परिचित अभी कराता हूं ॥

कारण, संक्षिप्त-प्ररूपण से—
भी होगा विस्तृत बोध तुम्हें।
वर्णन में कहीं न भासेगा
पूर्वापर कथन-विरोध तुम्हें ॥

प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से
होगा न विघ्न का भान तुम्हें।
यों जीव-तत्व के सत्य रूप—
में होगा दृढ़ श्रद्धान तुम्हें ॥

यह जीव तत्व है स्वतः सिद्ध
जिसका दिख रहा प्रभाव यहाँ।
सत्संख्या आदि सदादिक से
साधित इसका सद्भाव यहाँ ॥

औ' निर्देशादि किमादिक से
होता स्वरूप का भास स्वतः।
इतने से इसकी सत्ता पर,
होगा तुमको विश्वास स्वतः ॥

यद्यपि यह जीव चतुर्गति में,
करता अनादि से नित्य भ्रमण।
पर तत्व-दृष्टि से नहीं कभी—
भी होता इसका जन्म मरण ॥

पर्याय रूप से रहता पर,
परिणामी यह प्रत्येक समय।
पर्याय-दृष्टि से ही होते—
हैं सदा जन्म औ' मरण उभय ॥

पर द्रव्य रूप से यह अनादि,
से है अविनाशी अजर अमर।
हिम भी न गला सकता इसको—
औ' जला न सकती ज्वाल प्रखर ॥

है सिद्ध चेतना ही इसका
लक्षण सम्पूर्ण प्रमाणों से।
जो नहीं छिन्न हो सकता है,
शंका कुतर्क के बाणों से ॥

यह जीव स्वयं ही तो अपनी
जीवन-बगिया का माली भी।
स्वयमेव लगाया करता है,
यह सुख दुख की हर डाली भी ॥

स्वयमेव सदा भोगा करता,
पतझड़ एवं मधुमास सभी।
होता स्वर्गों में इन्द्र कभी,
होता उपवन में घास कभी॥

यों सुख दुख का कारण इसके-
ही तो कर्मों का मेला यह।
है यही कर्म का कर्त्ता औ'
भोक्ता भी जीव अकेला यह॥

यों तो सम्पूर्ण पदार्थों का,
भोक्ता भी यह ज्ञाता भी यह।
निज भाग्य विधाता भी है यह
निज सुख-दुख का दाता भी यह॥

यों तत्व दृष्टि से सब तत्वों—
से इसकी सत्ता न्यारी है।
औ' नहीं इसे सुख दुख देने—
का कोई भी अधिकारी है॥

जब तक न कर्म क्षय होते हैं
तब तक होता अवतरण-मरण।
कर्मों के क्षय होते ही तो,
कर लेती इसको मुक्ति वरण॥

वह मुक्त जीव कहलाता है,
औ' सिद्ध शिला पर रहता है।
इसको संसारी कहते यह
सांसारिक सुख-दुख सहता है॥

तबतक न मुक्त हो पाता यह
जब तक तजता यह राग नहीं।
जब तक न नष्ट कर देता है,
निज कर्मों का हर भाग यहीं॥

वह मुक्ति न पाता, जो लघुतम—
अंशों में भी तो रागी है।
इससे न मुक्ति का पात्र मात्र
बहिरङ्ग परिग्रह त्यागी है॥

कुछ ऐसे भी संसारी हैं,
मिटता जिनका भवरोग नहीं।
वे हैं अभव्य, उनका विमुक्ति—
से मिलता ही यह योग नहीं॥

वे सदा यहीं पर जन्म मरण
कर सहा करेंगे क्लेश सभी।
औ' उनको नहीं सुहायेगा
यह मोक्ष-मार्ग उपदेश कभी॥

वे अर्थ, काम भर साधेंगे,
पर साधेंगे अपवर्ग नहीं।
उस सिद्ध शिला में भी प्रवेश,
पायेगा उनका वर्ग नहीं॥

तप से भी होगा शुद्ध कभी,
उनका वह चेतन-स्वर्ण नहीं।
दिव्यध्वनि सुनने का सुयोग
पायेंगे उनके कर्ण नहीं॥

फिर भी अनेक ही भव्य जीव,
पा रहे मोक्ष हर वर्ष यहाँ।
इससे है अनुकरणीय सभी–
को उनका ही आदर्श यहाँ॥

हर पुरुष घातिया कर्म नष्ट—
कर बन सकता सर्वज्ञ अभी।
पर यह सामर्थ्य न दे सकते,
ये हिंसा दूषित यज्ञ कभी॥

परिपूर्ण—अहिंसा—पालन से
अब तक सबका निर्वाण हुवा।
हिंसा के द्वारा किसी जीव—
का नहीं कभी कल्याण हुवा॥

हो चुके भवोदधि से अनन्त—
ही जीव सिद्ध भगवान अभी।
औ' पुनः करेंगे सिद्ध शिला—
की ओर कई प्रस्थान अभी॥

हर समय खुला ही रहता है,
उस सिद्धालय का द्वार वहाँ।
हर कर्म विजेता जीवों का
होता समान अधिकार वहाँ॥

वे जीव अनन्त समय तक ही
करते हैं सदा निवास वहीं।
कोई स्वामी होता न तथा
कोई भी होता दास नहीं॥

इन्द्रियाँ न उनके होतीं हैं,
होता है उनके श्वास नहीं।
इससे ऐन्द्रिय सुख दुःख कभी
आते हैं उनके पास नहीं॥

सहने भी पड़ते उन्हें कभी
आतप, वर्षा औ' शीत नहीं।
रोना भी पड़ता नहीं कभी
गाते कदापि वे गीत नहीं॥

यों वहाँ अनश्वर निराबाध
सुख भोगा करते मुक्त सतत।
पड़ते न कभी भव-बन्धन में
रहते स्वतन्त्र उन्मुक्त सतत ॥"

यों संसारी औ' मुक्त जीव—
के किये निरूपण युक्ति सने।
सुन जिनको गौतम 'इन्द्रभूति'
धर संयम गणधर प्रथम बने ॥

आओ, देखें किस भाँति सतत,
होती समृद्ध भगवान-सभा!
किस भाँति सभी को आकर्षित
करती अब केवल ज्ञान-प्रभा?

—०—

उन्नीसवाँ सर्ग

उसको वैसी गति मिलती है,
जो कर्म बाँधता जैसा है।
होता है जैसा बीज वपन,
फल भी तो मिलता वैसा है ॥

श्री 'इन्द्रभूति' के सँग उनके—
चेले दीक्षित हो गये सभी।
वे पाँच शतक थे शिष्य और—
भी बनने वाले नये अभी॥

यह समाचार सुन 'अग्निभूति'—
के अन्तस् में अवसाद हुवा।
पर तत्क्षण ही उनको अपनी
विद्या का भी उन्माद हुवा॥

वे भ्राता को लौटा लाने—
के लिये शीघ्र सोत्साह चले।
जिस राह गये थे 'इन्द्रभूति'
वे भी तो उस ही राह चले॥

निज गुरु को जाते देख, पाँच—
सौ शिष्य उसी क्षण संग चले।
श्री 'महावीर' पर जय पाने—
की मन में लिये उमंग चले॥

पर उन्हें दृष्टि गत ज्यों ही वे
समता के धारी सन्त हुये।
त्यों हुवा कोप का लोप तथा,
मानादिक नष्ट तुरन्त हुये॥

अब तक उनने निज जीवन में,
देखे भी थे अर्हन्त नहीं।
यों समवशरण की रचना भी
थी दिखी आज पर्यन्त नहीं॥

हो सावधान सब बैठे थे,
सुर, नर, पशु और विहंग वहाँ।
थी आशातीत उपस्थिति पर
होती थी शान्ति न भंग वहाँ॥

यह देख व्यवस्था 'अग्निभूति'
को अब आश्चर्य महान हुवा।
श्री 'इन्द्रभूति' की दीक्षा के—
कारण का सहसा भान हुवा॥

मन में सोचा—मैं भी स्वीकृत—
कर लूँगा अपनी हार स्वयं।
यदि मम शंका का समाधान—
कर देंगे भली प्रकार स्वयं॥

वे यों विचारते हुये अभी—
थे प्रभु की ओर निहार रहे।
इतने में उनको सम्बोधित
कर प्रभु ने ये उद्गार कहे॥

"हे अग्निभूति ! क्या कर्म-विषय—
में शंकित हृदय तुम्हारा है ?
संकोच त्याग कर उसे कहो,
जो मन में प्रश्न विचारा है ॥"

यह सुनकर समझे 'अग्निभूति'
प्रभु अन्तर्यामी ज्ञाता हैं।
तब ही तो इनके शिष्य बने
बैठे वे मेरे भ्राता हैं ॥

फिर भी यह सविनय कहा—"मुझे—
यह नहीं समझ में आता है।
जड़ रूपी कर्म अरूपी चेतन—
के सँग कैसे बँध जाता है ?

जड़ कर्म सचेतन आत्मा को
किस भाँति प्रभावित करते हैं ?
कैसे देकर फल भला बुरा
स्वयमेव समय पर झरते हैं ?"

द्विज 'अग्निभूति' की यह शंका
सुनकर प्रभु ने तत्काल कहा।
सीमित पर सारमयी शब्दों—
में उनने अर्थ विशाल कहा ॥

जिस भाँति अरूपी अम्बर में,
ये रूपी द्रव्य समा जाते।
उस भाँति अरूपी आत्मा में
ये रूपी कर्म समा जाते ॥

ज्यों जड़ हो भी औषधि चेतन—
पर भला प्रभाव जताती है।
औ' जड़ हो भी मदिरा चेतन—
पर बुरा प्रभाव दिखाती है ॥

त्यों ही शुभ कर्म स्वतः चेतन—
पर भला प्रभाव जताते हैं।
औ' अशुभ कर्म भी इस चेतन—
पर बुरा प्रभाव दिखाते हैं ॥

यों धर्मवीर ने सार रूप—
में कर्म स्वरूप बताया था।
इतने से ही तो 'अग्निभूति'—
को तथ्य समझ में आया था ॥

अतएव दिगम्बर बनने को
सब अम्बर शीघ्र उतार दिये ॥
यों बने दूसरे गणधर वे
जनता ने जय जयकार किये ॥

यह समाचार सुन 'वायुभूति'—
ने शिष्यों सँग प्रस्थान किया।
प्रभु-ज्ञान—परीक्षा करना अब,
उनने भी मन में ठान लिया॥

पर समवशरण में आ ज्यों ही,
देखा प्रभु का अम्लान वदन।
त्यों समझ लिया ये प्रभुवर हैं,
सचमुच में केवल ज्ञान—सदन॥

वे प्रश्न पूँछने को ही थे,
इतने में दिया सुनायी यह।
"है जीव देह से भिन्न, बात—
क्या नहीं समझ में आयी यह॥

सुन 'वायुभूति' ने कहा—प्रभो।
मैं समझ न यह ही पाता हूँ।
अतएव आपको मैं अपनी,
शङ्का का सार बताता हूँ॥

कैसे है तन से भिन्न जीव?
आती न समझ में बात यही।
औ' पुनर्जन्म होता कि नहीं,
शङ्का रहती दिन रात यही॥

यह सुन कर प्रभुवर उसी समय,
हित मित प्रिय स्वर में बोल चले ।
आगम के गूढ़ रहस्यों को,
अति सरल कथन से खोल चले ॥

अस्तित्व तेल का ज्यों तिल से,
होता तुमको प्रतिभात पृथक् ।
बस त्यों ही समझो वायुभूति,
है जीव पृथक् औ' गात पृथक् ॥

मैं सुखी और मैं दुखी आदि,
जो करा रहा है भान तुम्हें ।
यह नहीं देह का कार्य, जीव–
ही करा रहा यह ज्ञान तुम्हें ॥

यदि तुम मानोगे जो कुछ है,
वह है केवल जड़ 'भूत' यहाँ ।
तो कोई भी वैचित्र्य नहीं,
हो सकता है उद्‌भूत यहाँ ॥

कारण कि 'भूत' कुछ भी करने–
में अपने आप समर्थ नहीं ।
ये बिना नियोजक चेतन के,
कर सकते अर्थ अनर्थ नहीं ।

तुम दुग्ध देख कर कर लेते,
उसमें घृत का अनुमान यथा।
सक्रिय शरीर से कर सकते—
हो आत्मा की पहिचान तथा॥

आशा है, समझ गये होंगे,
है नहीं द्रव्य जड़ मात्र यहाँ।
कर्माणुलिप्त यह चेतन ही,
होता सुख दुख का पात्र यहाँ॥

जब तक न कर्म हो जाते हैं,
सम्पूर्णतया निर्मूल यहाँ।
तब तक होता है पुनर्जन्म,
निज कर्मों के अनुकूल यहाँ॥

सुन 'वायुभूति' को जीव तत्व,
भासित होने प्रत्यक्ष लगा।
श्री 'वीर'—कथन निर्दोष लगा,
दूषित अपना वह पक्ष लगा॥

अतएव उन्होंने भी समस्त,
आरम्भ परिग्रह त्याग दिया।
यों बने तीसरे गणधर वे,
औ' स्वीय दुराग्रह त्याग दिया॥

अब 'आर्य व्यक्त' को सम्बोधित–
कर बोले वे जिनराज अहो ।
"क्या सिवा ब्रह्म के सब में ही,
शङ्का तुमको द्विजराज ! कहो ?"

यह सुनकर बोले 'आर्य व्यक्त'
"हे धर्म–राज्य–सम्राट ! कहीं ।
सत् कहा है और असत्,
वर्णित है विश्व विराट कहीं ॥

वास्तव में जग सत् या कि असत्,
यह सुनने की अभिलाषा है ।
कारण, हर भ्रम तम हरने में,
निष्णात आपकी भाषा है ॥"

यह सुन कर प्रभु ने कहा–"स्वप्न–
सम समझे हो तुम लोक सभी ।
ब्रह्मातिरिक्त सब द्रव्यों को,
तुम रहे असत्य विलोक अभी ॥

पर यह 'स्वप्नोपं वै सकलं'
पद तो कोई विधि वाक्य नहीं ।
उपदेश–वाक्य है उन्हें, जिन्हें–
जग से होता वैराग्य नहीं ॥

यह सूचित करता, नश्वर है,
माँ पिता पुत्र परिवार सभी।
आयुष्य अन्त में लेते हैं,
अन्यत्र नया अवतार सभी॥

अतएव मुमुक्षु विनश्वर सुख—
में नहीं कभी विश्वास करें।
एवं अविनाशी आत्मिक सुख—
पाने का सतत प्रयास करें॥"

यों 'आर्य व्यक्त' की शंकाएँ
कर दूर मौन श्री 'वीर' हुये।
औ, 'आर्य व्यक्त' निजशिष्यों सँग,
मुनि बनने हेतु अधीर हुये॥

वे चौथे हुये गणधर तथा
धर लिया दिगम्बर वेष अहो।
पश्चात् 'सुधर्म' द्विजोत्तम से
बोले श्री 'वीर' जिनेश अहो॥

"जिसप्राणी का जिस जीव योनि-
से होता तन अवसान, वही—
निज योनि उसे फिर मिलती है,
क्या तुमको है श्रद्धान यही?

यह सुनकर बोले द्विज 'सुधर्म,
"मैं मान रहा हे सन्त ! यही।
नर नर होता पशु पशु होता,
मैं समझ रहा भगवन्त ! यही ॥

जलचर मर जल चर होता है,
औ' विहग मरण कर विहग यहाँ ॥
मर तुरग तुरग ही होता है,
औ' उरग मरण का उरग यहाँ ॥

है क्यों कि नियम, निज कारण के—
अनुरूप कार्य सब होते हैं।
तिल से तिल सदा उपजते हैं,
उत्पन्न नहीं जव होते हैं ॥

बस इसी प्रकार भ्रमर को भी
मर भ्रमर चाहिये होना फिर।
एवं प्रत्येक मगर को भी
मर मगर चाहिये होना फिर ॥"

यह सुन कर बोले 'महावीर'—
"मिथ्या यह ज्ञान तुम्हारा है।
एकान्त वाद के कारण यह
मिथ्या श्रद्धान तुम्हारा है ॥

वैसा न वस्तुतः है, तुमको—
जैसा कि समझ में आया यह।
घटता न नियम जन्मान्तर में,
जो तुमने यहाँ घटाया यह॥

यह सत्य कि तिल से तिल ही तो
होता सदैव उत्पन्न यहाँ।
पर भाव कार्य औ' कारण का
शारीरिक हो सम्पन्न यहाँ॥

इस भाँति पुरुष की भी सन्तति
होती है पुरुषाकार सदा।
एवं पशुओं से होता है,
पशुतन धारी अवतार सदा॥

यदि यह नियम न होता, तो—
सब कुछ होता प्रतिकूल यहाँ।
तरु-शाखा जनतीं मानव को,
नारी में खिलते फूल यहाँ॥

पर हे सुधर्म! हर प्राणी का—
ही जीव पृथक् औ' गात पृथक्।
उत्तर शरीर की बात पृथक्
औ' उत्तर भव की बात पृथक्॥

अतएव पूर्व तन उत्तर तन—
का कारण तो हो जाता है।
पर उत्तर भव के धारण का
यह हेतु नहीं हो पाता है॥

भव-प्राप्ति हेतु तो सदा जीव
के कर्मों का ही जाल रहा।
यह ही अनादि से चारों गति—
में सब जीवों को डाल रहा॥

उसको वैसी गति मिलती है,
जो कर्म बाँधता जैसा है।
होता है जैसा बीज-वपन
फल भी तो मिलता वैसा है॥

कर अशुभ कर्म यह जीव अशुभ
गतियों में यथा भटकता है।
शुभ कर्मबाँध शुभ गतियों में
उत्पन्न तथा हो सकता है॥

इसमें यह पूर्व भविक काया
सकती प्रभाव कुछ डाल नहीं।
नर सुर हो अमृत पी सकता,
हो सकता विषधर व्याल यहीं॥

भव-धारण का कारण केवल
सत्कर्म कुकर्म प्रताप सदा।
नर सुर गति देते पुण्य तथा
तिर्यञ्च नरक गति पाप सदा॥

अतएव कर्म पर आधारित—
है आगामी अवतार यहाँ?
एवं प्राणी के पुनर्जन्म—
का देह नहीं आधार यहाँ॥"

श्रीयुत 'सुधर्म' को उक्त वचन,
अक्षरशः सत्य प्रतीत हुये।
अतएव जिनेश्वर से दीक्षा—
लेने के भाव पुनीत हुये॥

निज छात्र वर्ग के संग सविधि
दीक्षा ले मन में तोष किया।
हो गये पाँचवें गणधर वे
सबने उनका जयघोष किया॥

तदनन्तर पास खड़े 'मण्डिक'—
की ओर 'वीर' ने ध्यान दिया।
कारण उनके भी अन्तस् की
जिज्ञासा को था जान लिया॥

बोले—"क्या तुमको बन्ध-मोक्ष —
तत्वों में है सन्देह कहीं ?
निज शंका प्रकट करो मन में--
दो उसे बनाने गेह नहीं ॥"

सुन 'मण्डिक' बोले—"मम मत से,
आत्मा निर्मल स्वाधीन सभी।
रहते सुस्फटिक सदृश उज्ज्वल,
होते हैं नहीं मलीन कभी॥

इन पर न बैठने पाती है,
इन कर्मों की भी धूल कभी।
अतएव मोक्ष की सत्ता ही
मुझको लगती निर्मूल अभी॥

सुन कहा नाथ ने—"सुनो, विप्र !
मैं सत्य स्वरूप सुनाता हूँ।
वास्तव में वस्तुस्थिति क्या है ?
यह अभी तुम्हें समझाता हूँ॥

तुमने जो आत्मा का स्वरूप
वर्णन कर मुझे सुनाया है।
वह किनका वर्णन है ? तुमको--
यह नहीं समझ में आया है॥

इस कारण ही तो तुम्हें हुवा
ऐसी शङ्का का भान अहो।
अतएव ज्ञान यह कर लो तो
मिट जाये सब अज्ञान अहो॥

वह वर्णन सिद्धात्माओं का,
सकते न देख ये नेत्र जिन्हें।
रखता है अपने यहाँ सदा
सिद्धालय का ही क्षेत्र जिन्हें॥

रह सदा अनन्त समय, अनुभव—
करते हैं सौख्य अनन्त वहीं॥
युग युग तक उनके उस अक्षय—
सुख का होता है अन्त नहीं॥

संसारी आत्मा को कदापि,
मिलता उन सम आनन्द नहीं।
कारण कि काट कर बन्धन यह
हो पाया है स्वच्छन्द नहीं॥

मोहोदय से यह निज कर्मों—
का नाश नहीं कर पाता है।
मिथ्यात्व—उदय से तत्वों पर
विश्वास नहीं कर पाता है॥

करता है कोई पुण्य यहाँ,
करता है कोई पाप यहाँ।
पाता कोई कुछ शान्ति यहाँ,
सहता कोई सन्ताप यहाँ॥

हैं जीव कर्म से लिप्त, अतः—
होते हैं ये व्यापार सभी।
जितने भी सुख दुःख यहाँ,
वे कर्मों के उपहार सभी॥

है मुक्ति दूर जब तक कटता,
यह कर्मों का दृढ़ पाश नहीं।
अतएव चाहिये करना निज,
कर्मों का क्रमशः नाश यहीं॥"

उपरोक्त कथन सुन 'मण्डिक' को
हृदयंगम सारी बात हुई।
होते यथार्थतः बन्ध मोक्ष
यह सत्य मान्यता ज्ञात हुई॥

अतएव काटने चाहे द्रुत,
अपने कर्मों के बन्ध सभी।
कुछ सोच समस्त परिग्रह से
सत्वर त्यागे सम्बन्ध सभी॥

हो दीक्षित छठवें गणधर का–
पद उनने शीघ्र सँभाला अब।
औ' 'मौर्य पुत्र' की शङ्का पर
प्रभु ने प्रकाश यों डाला अब ॥

बोले–"लगता कल्पना तुम्हें
क्या देवों का सद्भाव अहो ?
सङ्कोच त्याग कर यथाशीघ्र,
तुम निज शङ्का का भाव कहो ॥

यह आश्वासन पा 'मौर्यपुत्र'—
ने तत्क्षण हो निर्भीक कहा।
"अस्तित्व देव औ' स्वर्गों का
प्रतिभास न मुझको ठीक रहा ॥

ये देव स्वर्ग हैं या कि नहीं,
यह सुनने को है उत्सुक मन।
अतएव विवेचन कर इस पर
सुलझायें मेरी यह उलझन ॥

चातक की प्यास बुझा सकता–
है स्वाती का ही मेह यथा।
भवदीय ज्ञान हर सकता है,
हर प्राणी का सन्देह तथा ॥"

इन शब्दों पूर्वक 'मौर्य पुत्र'—
ने व्यक्त किया निज विभ्रम को।
प्रभु ज्ञान-कान्ति से उसी समय
हर चले भ्रान्ति के इस तम को॥

पीयूषधार सी वाणी में
बोले उनसे वे महाश्रमण।
"तव यह शङ्का है निराधार,
करता हूँ फिर भी निराकरण॥

हैं नहीं कल्पना मात्र देव,
सुख से सदैव ये रहते हैं।
पर नर सम गर्भावास आदि—
का दुःख नहीं ये सहते हैं॥

औ' बिना आयु को पूर्ण किये
ये त्यागा करते प्राण नहीं।
पर संयम धार न सकते ये,
पा सकते ये निर्वाण नहीं॥

इनके वर्णन से भरे पड़े,
हैं आगम, वेद, पुराण सभी।
अतएव नहीं आवश्यक है
देना कुछ और प्रमाण अभी॥

इनके राजा को इन्द्र तथा,
रानी को कहते इन्द्राणी ।
सविशेष पुण्य से पाता है,
इनके इस पद को यह प्राणी ॥

आलोकित रहते स्वर्ग, वहाँ–
पर होते हैं दिन रात नहीं ।
आते न वहाँ भूचाल कभी,
होते हैं उल्कापात नहीं ॥

सौन्दर्य वहाँ का नैसर्गिक,
होता अत्यन्त निराला है ।
अति दिव्य रत्न औ' मणियों से,
रहता हर समय उजाला है ॥

उपपाद जन्म होता, सबको–
मिलता वैक्रियिक शरीर वहाँ ।
सब तरुण जन्मतः होते, सब–
होते सम्भावतः वीर वहाँ ॥

अत्यन्त मनोहर होता है,
सबकी काया का रूप वहाँ ।
औ' जरा न करने पाती है,
अङ्गों को शिथिल कुरूप वहाँ ॥

फैला न कभी भी करता है,
कोई संक्रामक रोग वहाँ ।
हर समय भोगने को मिलते–
हैं जीवन भर सुख भोग वहाँ ॥

वे स्वर्ग सदा ही रहते हैं,
होता न वहाँ पर कभी प्रलय ।
होता न काल परिवर्तन भी,
रहता समान प्रत्येक समय ॥

प्रभु ने यों वर्णन कर पूरी–
की 'मौर्य पुत्र' की अभिलाषा ।
संक्षेपतया समझा दी थी,
देवों स्वर्गों की परिभाषा ॥

सुन जिसे उन्होंने भी दीक्षा,
धारण कर ली सोल्लास वहीं ।
बन गये सातवें गणधर औ'
बैठे प्रभुवर के पास वहीं ॥

अब भ्रांति 'अकम्पिक' की लक्षित–
कर बोले वे भगवान अहो ।
"क्या तुम्हें नरक की सत्ता में,
शङ्का है हे विद्वान ! कहो ॥"

यह सुन कर कहा 'अकम्पिक' ने–
"था यही पूछने वाला अब।
होते था नहीं नरक इस पर
जाये प्रकाश कुछ डाला अब॥

यह सुन कर प्रभु ने कहा–"नरक–
की सत्ता पर विश्वास करें।
जाना न पड़े अब कभी वहाँ
ऐसा सब जीव प्रयास करें॥

है पूर्ण असम्भव शान्ति सहित
क्षण भर भी तो निर्वाह वहाँ।
पूरी न कभी भी होती है,
जीवों की कोई चाह वहाँ॥

हर समय नारकी लड़ते हैं,
होता है उन्हें विवेक नहीं।
वे स्वयं परस्पर उपजाते
रहते हैं क्लेश अनेक वहीं॥

वह दुःख कल्पनातीत यहाँ,
होता जो दुःख विशेष वहाँ॥
कारण, नरकों का सहस्रांश—
भी नहीं किसी को क्लेश यहाँ॥

कोई न जानता 'क्षमा' वहाँ,
सब लेते हैं प्रतिशोध सदा।
कहते हैं किसे 'अहिंसा' यह
भी उन्हें न होता बोध कदा!"

यों नरक स्वरूप 'अकम्पिक' सुन
हो गये पूर्ण निःशङ्क स्वतः।
बन गये आठवें गणधर वे
कर दूर परिग्रह पङ्क स्वतः॥

यों प्रभु के गणधर पद पर थे
द्विज आठ हुये आसीन अभी।
आओ देखें, किस भांति और
बनते हैं गणधर तीन अभी॥

×

बीसवाँ सर्ग

हैं द्रव्यें नित्य अनादि सभी
इससे अनादि संसार सभी।
कोई न किया करता इसका
नव सृजन और संहार कभी।

प्रभुवर ने विप्र 'अचलभ्राता'—
की ओर तुरन्त निहारा अब।
बोले—"क्या पुण्य तथा पापों—
में शंकित हृदय तुम्हारा अब ?"

यह सुनकर बोले 'अचल'—"इन्हीं—
में मम मन शंकित होता है।
ये पुण्य पाप हैं या कि नहीं ?
यह तथ्य न निश्चित होता है॥

अतएव कहें, क्या वस्तव में—
ही पुण्य पाप ये होते हैं ?
क्या ये यथार्थ हैं त्यों ? यथार्थ—
ज्यों शीत ताप ये होते हैं॥"

इतना कह जब चुप हुये 'अचल'
बोले वे श्री अर्हन्त अहा।
"पण्डित ! इनका न अभाव कभी-
भी यहाँ आज पर्यन्त रहा॥

तुम अभी 'पुरुष एवेदं' से,
जो कुछ समझे वह अर्थ नहीं।
ये वाक्य दूसरे तत्वों के—
निरसन के हेतु समर्थ नहीं॥

'पुण्यः पुण्येन' वचन से भी
खण्डित होता है कर्म नहीं।
द्विजवर ! गर्भित है पुनर्जन्म
औ' कर्म तत्व का मर्म यहीं ॥

इससे व्यवहारिक पुण्य पाप—
हैं तर्क युक्त, यह जानो तुम।
एवं इस पुरुषाद्वैतवाद—
को निराधार अब मानो तुम ॥"

यह सुनकर दूर 'अचलभ्राता'
के मन का सब भ्रम जाल हुवा।
प्रभुवर से दीक्षा लेने का
मन में विचार तत्काल हुवा ॥

की ग्रहण प्रव्रज्या शिष्यों सँग,
तन से परिधान हटाये सब।
नवमें गणधर ये हुये, अतः
सबने निज शीश झुकाये अब ॥

परलोकवाद की सत्ता में
शंकित थे द्विज 'मेतार्य' अभी।
इससे इनके भी मन का यह
भ्रम हरना था अनिवार्य अभी ॥

अतएव 'वीर' ने पुनर्जन्म—
का प्रतिपादन निर्दोष किया।
भूतातिरिक्त इस आत्मा को
कर सिद्ध इन्हें सन्तोष दिया॥

भ्रम दूर हुवा, इससे इनने—
भी तो स्वीकृत मुनिधर्म किया।
दसवें गणधर की पदवी पा
पहिचान धर्म का मर्म लिया॥

औ' शिष्य वर्ग भी निज गुरु का
अनुकरण तुरत कर धन्य हुवा।
कारण कि सभी को अति अपूर्व—
आनन्द प्रव्रज्या-जन्य हुवा॥

अब द्विज 'प्रभास' की भ्रान्ति व्यक्त—
करते बोले मुनिपाल अहो।
"क्या तुम्हें मोक्ष में शंका है ?
सङ्कोच त्याग तत्काल कहो॥"

यह सुन 'प्रभास' ने कहा—"आप—
ने है यथार्थ ही भान किया।
मेरे कहने के पूर्व अहो,
मेरी शंका को जान लिया॥

कर्मों से मुक्ति असम्भव है,
ऐसा होता आभास मुझे।
अतएव मोक्ष की सत्ता में,
होता न अभी विश्वास मुझे ॥

सम्बन्ध जीव औ' कर्मों का—
तो मैं अनादि से मान रहा।
पर वह आत्मा के ही समान—
होगा अनन्त, यह जान रहा ॥

अब आप शीघ्र ही तो मेरी
इस शंका को निर्मूल करें।
संक्षिप्त रूप में ही मुझको
अब सूचित मेरी भूल करें ॥"

प्रभु लगे बोलने मधु स्वर से,
ज्यों ही 'प्रभास' द्विज मौन हुये।
प्रभु के समक्ष अपनी शंका—
रख कर निराश भी कौन हुये ॥

प्रभुवर ने कहा—"अनादि वस्तु—
होवे अनन्त, यह नियम नहीं।
द्विजवर! अनादि से मलिन स्वर्ण
निर्मल करना क्या सुगम नहीं!

ज्यों स्वर्ण अग्नि में पक अपना,
कल्मष देता है त्याग स्वयं।
त्यों आत्मा को निर्मल करती है,
तप, ज्ञान, ध्यान की आग स्वयं ॥"

इस अति संक्षिप्त विवेचन से,
शंका 'प्रभास' ने त्यागी थी।
उनके भी मन में जिन-दीक्षा—
लेने की इच्छा जागी थी ॥

निज शिष्य वर्ग के सङ्ग स्वयं,
दीक्षित हो बने विरागी वे।
तत्क्षण ग्यारहवें गणधर की,
पदवी पाये बड़भागी वे ॥

यों ये दीक्षा के समारोह,
उस दिन अत्यन्त विराट् हुये ॥
यह 'वीर'—महत्ता देख चकित,
सत्ताधारी सम्राट् हुये ॥

वह दिवस विशेष महत्वपूर्ण,
बतलाया गया पुराणों में।
वह विजय शक्ति थी जिनवर में
जो रहती नहीं कृपाणों में ॥

उनको जो केवल ज्ञान मिला—
था, उसका तेज निराला था।
जो चन्द्र-सूर्य के पास नहीं,
वह उनके पास उजाला था॥

उनके स्वर भी गन्धर्वों के
बाजों से अधिक सुरीले थे।
औ' समवशरण के अलंकरण,
अलका से अधिक सजीले थे॥

आजन्म विरोधी जीव वहाँ—
आ करने लगते प्रेम स्वयं।
जैसे पारस के पास पहुँच,
लोहा भी बनता हेम स्वयं॥

प्रभु केवल ज्ञानी थे, उनको—
कोई भी तत्व परोक्ष न था।
प्रत्यक्ष जगत की कौन कहे?
अब उन्हे अगोचर मोक्ष न था॥

तब ही तो चार सहस्र चार—
सौ ग्यारह द्विज सोल्लास वहाँ।
बन गये एक ही दिन में मुनि,
उन महाश्रमण के पास वहाँ॥

उनमें से गणधर 'इन्द्रभूति,
आदिक ग्यारह विद्वान हुये।
इनके अतिरिक्त विरक्त वहाँ,
जाने कितने गुणवान हुये॥

पर जिन्हें कठिन सा मुनियों के
आचारों का निर्वाह लगा।
उनमें श्रावक के द्वादश व्रत,
लेने का ही उत्साह जगा॥

यों श्रावक व्रत स्वीकार किये,
उस समय अनेक प्रवीणों ने।
ली शरण 'वीर' के समवशरण—
में नागरिकों ग्रामीणों ने॥

महिलाओं में भी कुछ ने तो,
स्वीकार आर्यिका वेष किया।
कुछ बनी श्राविका और संघ—
में सोल्लास प्रवेश किया॥

यों तीव्र वेग से ही उनका,
यह शिष्य समूह विशाल हुवा।
अतएव चतुर्विध संघ वहाँ,
संस्थापित अब तत्काल हुवा॥

जिनराज—'राजगृह' ओर पुनः
निज सब समाज के साथ चले।
जगको जिनधर्म बताने को,
वे महाश्रमण जिननाथ चले॥

'विपुलाचल' पहुँचा समवशरण,
षट् ऋतु प्रसून सब संग खिले।
लद गये फलों से वृक्ष तथा,
लतिकाओं के मृदु अङ्ग खिले॥

सब विहग स्वयं आनन्दित हो,
मधु स्वर से लगे चहकने थे।
सुमनों के सौरभ से वन के—
सब कोने लगे महकने थे॥

आजन्म विरोधी प्राणी भी,
बन सहचर लगे विहरने थे।
मृग छौने सिंहों के बच्चों—
के भी सँग लगे विचरने थे॥

अहि नकुल परस्पर में क्रीड़ा—
करने लग गये सहर्ष वहाँ।
उस समय दिखा था विश्व प्रेम—
का मूर्तिमान आदर्श वहाँ॥

बाजों के साथ कपोत अहो।
झरनों के पास विहँसते थे।
श्वानों के साथ बिडाल अहो!
कर केलि 'सलास विहँसते थे॥

उस समय प्रकृति-परिवर्तन यह
नयनों को अधिक सुहाता था।
सर्वत्र शान्ति थी व्याप्त वहाँ,
कोलाहल नहीं सुनाता था॥

ये दृष्य देख वन रक्षक को
पहिले आश्चर्य महान हुवा।
यह 'वीर' आगमन का प्रभाव,
तत्काल उसे यह ज्ञान हुवा॥

वह उठा और फिर उसने झट,
तोड़े कुछ फूल सुहाने से।
जो आज खिले थे असमय में
श्री 'महावीर' के आने से॥

फिर पहुँच 'राजगृह'—राज सभा—
में नृप को वे उपहार दिये।
पश्चात् विनय से उसने यों,
सूचित अपने उद्‌गार किये॥

नरनाथ ! पधारे 'महावीर'
प्रभु करते हुये विहार अभी।
उनकी सत्ता से वन-श्री भी,
हो रही विचित्र प्रकार अभी॥

मैंने तो पहिली बार आज,
उसका जो रूप निहारा है।
उसका उल्लेख असम्भव सा—
लगता शब्दों के द्वारा है॥

षट् ऋतु की शोभा एक साथ
कर रही आज मृदु हास वहाँ।
आजन्म विरोधी जीव वैर—
तज खेल रहे सोल्लास वहाँ॥

नरराज ! बाघिनें आज वहाँ
गौओं की बनी सहेली हैं।
औ' सिंहनियों की गोदी में
हो अभय हरिणियाँ खेली हैं॥

ये सब मैं कैसे व्यक्त करूँ ?
जो कार्य वहाँ पर होते हैं।
बगुले मीनों के लिये आज
जल में न लगाते गोते हैं॥

सब आज अहिंसक वहाँ हुये,
सबने की धारण आज क्षमा।
नव प्रीति-पूर्णिमा आयी है,
रह नहीं गयी है घृणा-अमा॥

पशु, खग, तरु, लता सभी हर्षित
है आज किसी को क्षोभ नहीं।
सब में उदारता जागी है,
दिखता न किसी में लोभ कहीं॥

सब को दुख से परित्राण मिला,
पा शरण आज दुख-त्राता की।
दिखता न असाता-तिमिर कहीं,
छिटकीं हैं किरणें साता की॥

इस सब का कारण महाराज।
वे प्रभुवर केवल ज्ञानी हैं।
श्रीमन्त! आप भी तो उनके
अत्यन्त भक्त श्रद्धानी हैं॥

अतएव सूचना देने यह
अविलम्ब यहाँ मैं आया हूँ।
उनके प्रभाव के चिह्न-रूप
षट् ऋतु प्रसून ये लाया हूँ॥

कह दिये अल्प में, जंगल में–
जो मंगल चारों ओर हुये।"
यों 'वीर'-जिनागम सुन कर वे,
'श्रेणिक' नृप हर्ष विभोर हुये॥

यह सुखद सूचना मिलने से
खिल गया भूप का हृदय-कमल।
वे 'महावीर' का शुभ दर्शन,
पाने को तत्क्षण हुये विकल॥

तत्काल उन्हों ने वनरक्षक–
को दिये देह के अलङ्करण।
औ' उधर नवाया शीश जिधर,
था 'महावीर' का समवशरण॥

पुलकित हो उनने मन ही मन,
प्रभुवर के जय जयकार किये।
फिर मुख्य सचिव को पास बुला,
यों सूचित निज उद्गार किये॥

"यह राज घोषणा शीघ्र करा,
सब तक चर्चा पहुँचायें अब।
सबको 'विपुलाचल' चलना है
अतएव यहाँ पर आयें सब॥"

मुख से आदेश निकलते ही,
नगरी में पूर्ण प्रचार हुवा।
सुन समाचार आबाल-वृद्ध,
सबको आनन्द अपार हुवा॥

सब राज द्वार पर पहुँच गये,
जिन-दर्शन का शुभ चाव लिये।
उन चरम तीर्थंकर की वाणी,
सुनने का मन में भाव लिये॥

उस समय 'चेलना' रानी ने
उत्सुक हो चलना चाहा था।
औ' 'अभयकुमार' प्रभृति ने भी
अपना सौभाग्य सराहा था॥

यों आज सभी में प्रभुवर के
दर्शन की इच्छा जागी थी।
जनता तज कार्य निरन्तर ही
क्षण क्षण में आती भागी थी॥

पर शीघ्र वादकों ने अपने
प्रस्थानी वाद्य बजाये थे।
सुन जिसको 'श्रेणिक' के हस्ती—
ने अपने चरण उठाये थे॥

उस दिन के उस प्रस्थान समय—
की दर्शनीय वह झाँकी थी।
दिग्पालों ने उत्सुकता से,
वह पावन शोभा आँकी थी॥

सबसे ही आगे स्वस्तिक युत
पावन केशरिया झण्डे थे।
चांदी सोने के द्वारा ही
निर्मित जिनके सब डण्डे थे॥

सब ठाट राजसी था, सज्जा—
का कुछ भी नहीं ठिकाना था।
अपने अपने अनुरूप सभी,
सामन्तों का भी बाना था॥

जयकार बोलते हुये सभी
निज चरण बढ़ाते जाते थे।
गायक जिनवर की गरिमा को
गीतों में गाते जाते थे॥

क्रमशः 'विपुलाचल' आया, अब—
होती आरम्भ चढ़ाई थी।
अब समवशरण को निकट जान
सबने निज चाल बढ़ाई थी॥

'श्रेणिक' हस्ती से उतर पड़े,
औ' उधर विलोक प्रणाम किया।
यह देख 'चेलना' ने भी तो,
तज निज वाहन अभिराम दिया॥

यों सबने ही अपना अपना
वाहन हो भक्ति विभोर तजा।
पश्चात् बढ़े उस ओर सभी,
था समवशरण जिस ओर सजा॥

आगे बढ़ने पर दिखा प्रथम,
मनमोहक मानस्तम्भ अहो।
जिसके दिखते ही स्वयं दूर--
होता दम्भी का दम्भ अहो॥

तदनन्तर बन्दनवारों से,
युत रत्न तोरणों को देखा।
जिनकी छवि का इस समय यहाँ,
कवि आज लगाये क्या लेखा?

पश्चात् मांगलिक कलशादिक
वसु द्रव्य दिखीं निर्दोष उन्हें।
अवलोक जिन्हें स्वयमेव हुवा,
अन्तस् में अति सन्तोष उन्हें॥

दिख पड़ा पुनः त्रय कटनी का
सिंहासन शोभाधाम वहाँ।
पहिली कटनी पर शोभित थे
शुभ धर्म चक्र अभिराम जहाँ॥

तत्काल दूसरी कटनी पर,
वसु ध्वजा विशेष अनूप दिखीं।
औ' दिव्य तीसरी कटनी पर,
थी गन्धकुटी अनुरूप दिखी॥

उसमें ही राजित 'महावीर'
का दर्शन कर आनन्द हुवा।
उन पूर्ण विरागी को विलोक—
छल, राग, द्वेष सब मन्द हुवा॥

उस समवशरण में शरण सभी,
नर, सुर, पशु, खग भी पाये थे।
सबको आश्रय था मिला वहाँ,
जो ऊँच नीच जन आये थे॥

प्रभुवर के चारों ओर यदपि,
दिखती थी भीड़ अपार वहाँ।
पर सभी व्यवस्थित सुविधा से
बैठे थे भली प्रकार वहाँ॥

उन 'वीर' दिगम्बर के सम्मुख,
अम्बर से फूल बरसते थे ।
मानो स्वर्गों के फूल स्वयं,
निज सुध बुध भूल बरसते थे ॥

दुन्दुभि की सुखकर मधुर मधुर,
ध्वनि दशों दिशा में फैली थी ।
सुन जिसे सभी आकृष्ट हुये,
उसकी ऐसी कुछ शैली थी ॥

अत्यन्त पवित्र 'अशोक' विटप,
सबका ही शोक भगाता था ॥
आकुलता मिटा, निराकुलता–
का शुभ आलोक जगाता था ॥

प्रभु के शिर पर थे तीन छत्र,
जिनकी भी सुषमा न्यारी थी ।
जो चन्द्रकान्ति सी शुभ्र और,
भव्यों को अतिशय प्यारी थी ॥

दो यक्ष जिनेश्वर की चमरों-
से सेवा करने में रत थे ।
मानो यों बारम्बार चमर,
प्रभु के समक्ष होते नत थे ॥

प्रभु के शरीर के मण्डन सा,
'भामण्डल' था अभिराम लगा।
जो सभी दर्शकों को रत्नों-
के दर्पण तुल्य ललाम लगा ॥

यों प्रभु के आठों प्रातिहार्य —
अवलोक स्वभाग्य सराहा था।
सबने सतृष्ण प्रभु-दिव्यध्वनि,
को ही अब सुनना चाहा था ॥

अतएव नरों के कोठे में,
जा गये विराज नरेश तभी।
औ' किया 'चेलना' ने वधुओं,
के कोठे मध्य प्रवेश तभी ॥

सब निर्निमेष हो देख रहे-
थे प्रभु का वदन-सरोज अहो।
जिस पर अत्यन्त झलकता था,
तप-ब्रह्मचर्य का ओज अहो ॥

सहसा सबके कल्याण हेतु,
धर्मोपदेश आरम्भ हुवा।
श्रावण कृष्णा प्रतिपदा दिवस,
दिव्यध्वनि का आरम्भ हुवा ॥

हे भव्यो ! जीव–अजीवों का–
समुदाय जगत कहलाता है ।
औ' पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल,
आकाश अजीव कहाता है ॥

अतएव उक्त इन छह द्रव्यों-
से भिन्न वस्तु है लोक नहीं ।
इनमें से पुद्गल सिवा किसी–
को भी सकते अवलोक नहीं ॥

कारण कि अमूर्तिक होते वे,
इसमें है अल्प विवाद नहीं ।
उनमें न रूप, संस्पर्श नहीं,
है गन्ध नहीं, है स्वाद नहीं ॥

अतएव न देखे जा सकते,
वे चर्म चक्षुओं के द्वारा ।
पर विविध प्रमाणों से संभव,
पाना उनका परिचय सारा ॥

हर द्रव्य सदा से और सदा,
वह निश्चित रहने वाला है ।
पर कुछ ने भ्रम से ही अनित्य,
इन द्रव्यों को कह डाला है ॥

अतएव नित्यता पर इनकी,
सन्देह रहित विश्वास करो।
स्याद्वाद-दृष्टि से तत्त्व-रूप—
के चिन्तन का अभ्यास करो ॥

पर्याय अवश्य बदलती है,
होती है प्राप्त नवीन यहाँ।
एवं विनष्ट हो जाती है,
पर्याय मात्र प्राचीन यहाँ ॥

ज्यों एक वसन तज अन्य पहिन,
नर बदला करता वेष स्वयं।
त्यों जीव एक तन त्याग अन्य—
में करता किया प्रवेश स्वयं ॥

अतएव मरण से होता है,
केवल तन का अवसान सदा।
पर आत्मा नष्ट न होती है,
तुम करो यही श्रद्धान सदा ॥

हैं द्रव्य नित्य अनादि सभी,
इससे अनादि संसार सभी।
कोई न किया करता इसका,
नव सृजन और संहार कभी ॥

पर जीव भ्रमण कर रहा सतत
निज कर्मों के अनुसार यहाँ।
इसने निगोद में रह अनन्त,
दुख भोगे कई प्रकार वहाँ॥

फिर निकल वहाँ से एकेन्द्रिय,
हो कष्ट करोड़ों किये सहन।
फिर कृमि, पिपीलिका, भ्रमर आदि-
के भी शरीर सब किये वहन॥

मन रहित जन्तु यह कभी हुवा,
मन बिना दुखी असहाय हुवा।
मन सहित कभी वन-सिंह हुवा,
औ' कभी नगर की गाय हुवा॥

जो सबल हुवा तो निर्बल पशु-
को मार मार आहार किया।
इस अति हिंसा के फल स्वरूप
अनुभव संक्लेश अपार किया॥

औ' हुवा स्वयं जब निर्बल तो
प्रबलों ने असह्य हार किये।
बन्धन' छेदन औ' भेदन के
दुस्सह दुख बारम्बार दिये॥

जब मरा कभी तो नर्क गया,
है जहाँ कहीं पर क्षेम नहीं
सब शत्रु-शत्रु ही दिखते हैं,
करता है कोई प्रेम नहीं ॥

असमय में मरण न होने से
मिलता दुख से परित्राण नहीं।
आजीवन सहने पड़ते दुख,
होता कदापि कल्याण नहीं ॥"

पशु और नरक के कष्ट कहे
यों सर्व प्रथम जग त्राता ने।
मानव-पर्याय-विषय में अब
बतलाया यों उन ज्ञाता ने ॥

—×—

इक्कीसवाँ सर्ग

वह लौकिक सब सुख पाता है,
जो करता श्रावक धर्म ग्रहण ।
मुनि-धर्म पालता जो, उसको-
करती अविनाशी मुक्ति वरण ॥

"यदि मानव की पर्याय मिली,
तो मातृ-उदर में त्रास सहा।
वह वहाँ किसी भी हलन चलन-
के बिना पड़ा नव मास रहा॥

यदि दीन हुवा तो द्रव्य बिना,
सब जीवन बीता संकट में।
यदि धनी हुवा तो तृष्णा वश,
यह फँसा रहा नित झंझट में॥

पत्नी के बिना कभी चिन्तित-
हो रहा उदास अकेला ही।
औ' कभी पुत्र के ही अभाव-
का मनस्ताप सब झेला भी॥

तन रोगी होने के कारण
यह कभी व्यथा से खिन्न रहा।
औ' इष्ट वियोग अनिष्ट योग-
के सहता दुःख विभिन्न रहा॥

तुम समझ रहे, हैं पूर्ण सुखी
सम्राट्, सेठ औ' मन्त्री गण।
पर शत्रु-भीति औ' रोग शोक-
से पीड़ित रहते ये हर क्षण॥

तुम मान रहे हो, स्वर्गों में—
रहते हैं सौख्य अगाध कई।
पर वहाँ एक के बाद एक
उठती रहती है साध नयी॥

मन- शान्ति जलाते रहते हैं,
ईर्ष्यानल के अङ्गार वहाँ।
अवलोक स्वयं से महत् देव
होते ईर्ष्यालु विचार वहाँ॥

यों आत्म रूप को भूल जीव,
चारों गतियों में घूमा है।
एवं चौरासी लाख योनि—
में हर्ष मान कर झूमा है॥

पर आत्म रूप को नहीं कभी,
उसने अब तक पहिचाना है।
इसके विपरीत कषायों को—
ही तो स्वभाव निज जाना है॥

जो भी पर्याय मिली, अपनी—
मानी, यह न विचार किया।
क्यों भ्रमण आज तक चारों गति—
में मैंने बारम्बार किया॥

इससे छुटकारा का उपाय—
क्या है ? यह नहीं विचारा है।
यह भी तो सोचा नहीं, आज—
अब क्या कर्त्तव्य हमारा है ?

हो देव, नारकी पशु या नर,
आत्मा समान है चारों में।
जैसी आत्मा भिखमङ्गों में
वैसी ही राजकुमारों में ॥

पर आत्मा तन से भिन्न, इन्हें—
ही एक मानना जड़ता है।
आत्मा न बिगड़ती बनती है,
तन बनता और बिगड़ता है ॥

जब नहीं देह ही अपना है
वह यहीं पड़ा रह जाता है।
तब धन क्या अपना हो सकता,
जो यहीं गड़ा रह जाता है ॥

इनमें ममत्व के होने से,
निज-पर का भेद न जान रहे।
अपने से भिन्न पदार्थों को-
भी तुम अपना ही मान रहे ॥

यह भ्रान्त धारणा शीघ्र तजो,
अब नहीं अधिक अनजान बनो।
निज आत्मा में परमात्म जगा,
तुम भक्तों से भगवान बनो॥

निज आत्मा को मेरे आत्मा--
के ही समान अब जानो तुम।
तज कर विभाव निज आत्मा का
निर्मल स्वभाव पहिचानो तुम॥

तुम में भी केवल ज्ञान भरा
निज आत्मा तनिक टटोलो तो।
जो बन्धन उसको रोके हैं,
उनको साहस से खोलो तो॥

मिथ्यात्व त्याग दो, यही सदा,
आत्मा को छलता ठगता है।
जब तक यह दूर न हो, तब तक–
ही वह सम्यक्त्व न जगता है॥

जो सर्व सुखों का बीज तथा
कल्याणों का भण्डार महा।
जो क्रोध, मान छल, लोभ आदि,
सब रोगों का उपचार महा॥

जिससे कट जाते पाप सभी,
एवं रुक जाता आत्म पतन।
जिसके प्रकाश से भगता है,
मिथ्यात्व रूप तम पुञ्ज सघन ॥

जिस के प्रभाव से मानव यह,
भव—सागर से तर जाता है।
एवं अनादि से बँधे हुये,
कर्मों का क्षय कर जाता है ॥

यह जिसे मिला, भव अधिक यहाँ
करने पड़ते न व्यतीत उसे।
अधिकाधिक पन्द्रह भव में ही,
मिल जाती मुक्ति पुनीत उसे ॥

कारण, यह ही तो स्वयं ज्ञान—
को सम्यग्ज्ञान बना देता।
चारित्र—पुञ्ज को भी सम्यग् –
चारित्र महान बना देता ॥

सम्यग्दर्शन औ' ज्ञान चरित,
ये रत्नत्रय निर्दोष सभी।
जा सकता इनसे प्राप्त किया,
दुष्प्राप्य मोक्ष का कोष अभी ॥

परिपूर्ण ज्ञानको पाने में
स्याद्वाद मुख्य आधार यहाँ।
इससे विवाद सब सुलझाये—
जा सकते भली प्रकार यहाँ ॥

सुख शान्ति विश्व में ला सकता—
है मात्र अहिंसा धर्म स्वयं।
औ' पूर्ण अहिंसा पालन से—
तो क्षय हो सकते कर्म स्वयं ॥

पर पूर्ण अहिंसा को ज्ञानी
मुनि ही कर सकते धारण हैं।
जो तारण तरण तथा सबके
हितकारक बन्धु अकारण हैं ॥

अतएव जिन्हें भवसागर से
करना अपना उद्धार स्वयं।
अब उन्हें चाहिये करना यह
मुनिधर्म शीघ्र स्वीकार स्वयं ॥

पर त्याग गृहस्थी के बन्धन,
बन सकते जो स्वाधीन नहीं।
ध्यानी मुनियों की श्रेणी में
हो सकते जो आसीन नहीं ॥

वे आत्म धर्म को कठिन समझ,
हों मनमें खिन्न अधीर नहीं।
निज मोह घटायें क्रमशः ही,
निज गृह में रहते हुये वहीं॥

तज सप्त व्यसन, गुण अष्ट मूल
धारण कर द्वादश व्रत पालें।
तप, त्याग, शील औ' संयम से
निज आत्म ज्योति को चमका लें॥

उपरोक्त गुणों में जितनी ही,
श्रद्धा रुचि बढ़ती जायेगी।
उतनी ही शान्ति तथा समता
ऊपर को चढ़ती जायेगी॥

यों एकादश प्रतिमाओं का
विधिवत् पालन क्रमवार करें।
तदनन्तर लेकर जिन दीक्षा,
निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार करें॥

कुछ सुख के लोभी जीव स्वर्ग—
पाने के लिये लुभाते हैं।
पर नहीं स्वर्ग-सुख सच्चे सुख
वे सुख सम मात्र दिखाते हैं॥

हो गया जिसे है अविनाशी
उस मोक्ष-सौख्य का भान यहाँ।
उसको सांसारिक औ' स्वर्गिक
सुख लगते गरल समान यहाँ॥

सम्यक्त्वी देव किया करते
नर जन्म-प्राप्ति के भाव सदा।
नर जन्म प्राप्त कर तप करने—
का रहता उनको चाव सदा॥

कारण कि अमर कहला कर भी
उनको मिलती न अमरता है।
तन में ही रहता है निखार
पर आत्मा नहीं निखरता है॥

हर कर्म बन्ध के हेतु योनि
चौरासी लाख समर्थ सभी।
पर कर्म नाश हित एक मनुज—
पर्याय सिवा असमर्थ सभी॥

अतएव प्राप्त कर मनुज जन्म
क्षण भर भी नहीं प्रमाद करो।
निज पुण्य योग से प्राप्त विभव
पर नहीं कभी उन्माद करो॥

कारण, नर जीवन दुर्लभ यह
चिन्तामणि रत्न समान अहो।
अतएव इसे पाकर इसकी
महिमा से मत अनजान रहो॥

आकर 'निगोद' से मानव-भव
मिलता बस सोलह बार यहीं।
यदि इनमें कर्मों के बन्धन—
से किया आत्म-उद्धार नहीं॥

भौतिक वादी बन जीवन भर
केवल आमोद प्रमोद किया।
तो फिर अवश्य ही प्राणी यह
करता है प्राप्त निगोद किया॥

फिर निकल वहाँ से आने का,
जुट पाता प्रायः योग नहीं।
करना पड़ता बस जन्म मरण
चलता कोई उद्योग नहीं॥

अतएव मान नर भव दुर्लभ
धर्मानुसार आचरण करो।
त्यागो न अहिंसा धर्म कभी,
इसका पालन आमरण करो॥

जो ग्रहण करोगे आज धर्म—
की शान्तिदायिनी सुखद शरण।
तो पुनः तुम्हें भव सागर में,
करना न पड़ेगा अधिक भ्रमण॥

कारण कि धर्म ही शान्ति करण,
है मात्र यही दुखहरण सदा।
संसार-मोक्ष के दोनों ही
सुख देता धर्माचरण सदा॥

वह लौकिक सब सुख पाता है,
जो करता श्रावक धर्म ग्रहण।
मुनिधर्म पालता जो, उसको—
करती अविनाशी मुक्ति वरण॥"

धर्मोपदेश यह सुन जाने—
कितनों को ही वैराग्य जगा।
जाने कितने श्रोताओं का,
कल्याण जगा सौभाग्य जगा॥

युवराज 'मेघ' औ' 'नन्दिषेण'
आदिक बन गये विरागी थे।
सचमुच वे कितने पुण्यात्मा
कितने उत्तम बड़भागी थे॥

स्वीकृत कर श्रावक धर्म वहीं,
अति धन्य 'अभय' युवराज हुये।
जिन राज 'वीर' के प्रमुख भक्त
तत्क्षण 'श्रेणिक' नरराज हुये॥

प्रभु इस तेरहवें चतुर्मास—
में भी तो वहीं विराजे थे।
धर्मोपदेश नित सुनने को
आते राजे महराजे थे॥

हर समय लगी ही रहती थी,
मेला सी भीड़ विराट वहाँ।
बैठा करते थे एक साथ—
ही रङ्क और सम्राट वहाँ॥

हिंसक जन बने अहिंसक अब,
रक्षित पशुओं के प्राण हुये।
पशु-यज्ञ-कुण्ड मिट गये तथा
उपयोग विहीन कृपाण हुये॥

पाये थे पावन अभयदान
उस समवशरण में प्राणी सब।
अतएव सभी को प्रभुवर की
वाणी लगती कल्याणी अब॥

जिन मठों मन्दिरों में हिंसा—
का रक्त केतु फहराता था।
अब वहीं अहिंसा का पावन
केशरियाध्वज लहराता था॥

केवल न 'राजगृह' लाभान्वित
अति आस पास के ग्राम हुये।
फिर नहीं रुधिर की धारों से
कलुषित देवों के धाम हुये॥

अजमेध बन्द हो गये, अभय-
अज लगे विचरने राहों पर।
औ' अश्वमेध की प्रथा मिटी
हय घूम चले चौराहों पर॥

वधिकों को पशु-वध करने से
जीवन भर को विश्राम मिला।
इस भाँति अहिंसा पालन का
सबको सुखकर परिणाम मिला॥

व्याधों ने भी आखेट तजा,
उनको विहगों से प्रेम हुवा!
धीवर भी बने सुधीवर अब,
यों मीनों का भी क्षेम हुवा॥

आक्रमण पड़ोसी भूपों पर
करना तज दिया नरेशों ने।
जो शत्रु रहे थे, उन्हें मित्र—
सा बना दिया उपदेशों ने॥

जो थे स्वभावतः क्रुद्ध जन्तु
अब त्याज्य उन्हें भी क्रोध लगा।
कहने का यह सारांश देव—
नर-पशु सबमें सद्बोध जगा॥

यों निज शासन छिन जाने से
हिंसा अत्यन्त निराश हुई।
औ' विश्व प्रेम की विजय देख
हो घृणा परास्त हताश हुई॥

विकसा जन-जन में साम्यवाद,
औ' भेद भाव का ह्रास हुवा।
सबको शूद्रों से प्रेम भाव—
रखने का भी अभ्यास हुवा॥

अब नहीं वेद-ध्वनि सुनने पर,
लगती थी उन पर रोक कहीं।
औ' उन्हें शिवालय जाने से
सकता था कोई टोक नहीं॥

यों प्रभु के इन उपदेशों से
परिवर्तित हृदय तुरन्त हुये।
केवल न धर्म में पर समाज—
में भी सुधार अत्यन्त हुये॥

उनकी वाणी में शिवद सत्य
हो सुन्दर स्वयं झलकता था।
सब मन्त्र मुग्ध हो सुनते थे
उनको कुछ भी न खटकता था॥

जिनराज 'राजगृह' तजें नहीं,
'श्रेणिक' को ऐसा लगता था।
पर समय किसी पर ध्यान न दे
निज निश्चित गति से भगता था॥

यह चतुर्मास हो गया, देख—
'श्रेणिक' ने मन कुछ म्लान किया।
पर वीतराग ने ध्यान न दे
निश्चित तिथि में प्रस्थान किया॥

उन 'परम ज्योति' को अभी अन्य-
नगरों का तिमिर गलाना था।
औ' ग्राम ग्राम के मानव को,
मानव का धर्म सिखाना था॥

इससे 'विदेह' की ओर चले,
'त्रिशला' के राजदुलारे वे ।
धर्मामृत देते हुये सभी—
को, 'ब्राह्मण कुण्ड' पधारे वे ॥

सुन समाचार सब जनता में,
प्रभु-दर्शन की अभिलाष जगी ।
अतएव दिव्य ध्वनि सुनने को,
वह आने द्रुत सोल्लास लगी ॥

था दूर न 'क्षत्रिय कुण्ड ग्राम'
पहुँचा झट यह वृतान्त वहाँ ।
पा जिसे वहाँ की जनता भी,
आ कर बैठी हो शान्त वहाँ ॥

शुभ अर्द्धमागधी भाषा में,
प्रवचन करने सर्वज्ञ लगे ।
सुन जिसे अधर्मी, अज्ञानी—
जन भी होने धर्मज्ञ लगे ॥

कुछ ऐसा जादू सा डाला,
श्रोताओं पर प्रभु-वाणी ने ।
जो शान्ति प्राप्ति का सही मार्ग,
विधिवत् समझा हर प्राणी ने ॥

प्रभु के समीप जिनदीक्षा ले,
मुनि कितने ही गुणवान हुये।
कितनों ने श्रावक धर्म लिया,
कितने ही श्रद्धावान हुये ॥

यों कर विहार 'वैशाली' में,
चौदहवाँ वर्षावास किया ।
प्रति दिवस वहाँ की जनता ने,
उपदेश श्रवणं सोल्लास किया ॥

पश्चात् वहाँ से 'वत्स भूमि'—
की ओर पुनीत विहार किया ।
पथ में अनेक ही नगरों में,
ग्रामों में धर्म प्रचार किया ॥

यों क्रमशः उनने 'कौशाम्बी'–
नगरी में पहुँच प्रवेश किया ।
नृप ने चलने को दर्शनार्थ,
निज जनता को आदेश दिया ॥

'उदयन' की बुआ 'जयन्ती' भी,
आयीं उन सबके साथ वहाँ ।
उस वृहत्सभा में सदुपदेश,
देते थे त्रिभुवन नाथ जहाँ ॥

उपदेश श्रवण कर यथाशक्ति,
सबने नियमादिक किये ग्रहण।
सबकी श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु,
बन गये यहाँ भी महाश्रमण॥

पर सुन उपदेश 'जयन्ती' के—
मन में विशेषतः हर्ष हुवा।
उस धर्मेशा के भावों में,
अब और अधिक उत्कर्ष हुवा॥

उसको अब प्रभु की शरण त्याग,
गृह जाना नहीं सुहाता था।
श्री 'वीर'—संघ में रहने में—
ही अब कल्याण दिखाता था॥

अतएव आर्यिका के व्रत ले,
अपने को और महान किया।
सम्मिलित संघ में हुई तथा,
क्रमशः आत्मिक उत्थान किया॥

पश्चात् 'वीर' ने चल 'उत्तर—
कोशल' की ओर विहार किया।
पथ में पावन उपदेशों से,
अगणित जन का उद्धार किया॥

यों कर विहार 'श्रावास्ती' में,
पहुँचे वे आत्मविहारी थे।
अविलम्ब यहाँ भी धर्मश्रवण—
हित आये सब नर नारी थे॥

उपदेश यहाँ जो हुवा, उसे—
सुन सब जनता का क्षेम हुवा।
सम्मिलित संघ में हुये कई,
यों जैन धर्म से प्रेम हुवा॥

श्री 'सुमनोभद्र' प्रभृति ने जिन-
दीक्षा ली उन जग त्राता से।
कर्त्तव्य ज्ञान पा लिया शीघ्र,
उन तीन लोक के ज्ञाता से॥

'कोसल प्रदेश' से चल 'विदेह'
पहुँचे वे केवल ज्ञानी थे।
'आनन्द' शिवानन्दा' दोनों,
बन गये धर्म-श्रद्धानी थे॥

'वाणिज्य' ग्राम में 'महावीर'
निज संघ सहित फिर आये थे।
अपने पन्द्रहवें चतुर्मास,
के दिन भी यहीं बिताये थे॥

'वाणिज्य ग्राम' से निजविहार
फिर 'मगध भूमि' की ओर किया।
उपदेश सुनाकर नगरों की
जनता को हर्ष विभोर किया॥

पश्चात् 'राजगृह' पहुंचे वे,
सारी जनता एकत्र हुई।
अतिशय प्रभावना प्रवचन से
उस समय वहाँ सर्वत्र हुई॥

श्री 'शालिभद्र' औ' 'धन्य' आदि-
ने मुनि पद अङ्गीकार किया।
एवं गृहस्थ का धर्म कई—
ही भव्यों ने स्वीकार किया॥

गूँजी थी सारी 'राजगृही'
प्रभुवर के जय जयकारों से।
पड़ता प्रभाव था सब पर ही,
उनके पावन उद्‌गारों से॥

रुक यहीं पूर्ण इस सोलहवें
निज चतुर्मास का काल किया।
दुष्टों का जीवन सज्जनता—
के नव साँचे में ढाल दिया॥

उन 'परम ज्योति' ने जड़ता-तम
हर कर सब्दोध-प्रकाश दिया।
नैतिकता से पतित मनुष्यों के
भावों में परम विकास किया॥

वर्षा व्यतीत हो जाने पर
'चम्पा' की ओर विहार किया।
आकर 'चम्पा' के राजपुत्र—
ने श्रमण धर्म स्वीकार किया॥

पश्चात् 'वीतभय' नगर ओर
उन 'परम ज्योति' ने किया गमन।
ली भूप 'उदायन' ने दीक्षा
कर प्रभु-चरणों में प्रथम नमन॥

यों जहाँ पहुँचते 'वीर' वहीं—
के नृप बनते अनुगामी थे।
क्रमशः अधिकाधिक लोकमान्य
होते जाते वे स्वामी थे॥

पश्चात् 'वीतभय' पत्तन से
'वाणिज्य ग्राम' की ओर चले।
पथ में उपदेशों से जनता—
को करते हर्ष विभोर चले॥

'वाणिज्य ग्राम' आ पूर्ण किये,
वर्षा के महिने चार वहीं।
औ' इस सत्रहवें चतुर्मास—
में किया विशेष प्रचार वहीं॥

थीं वहाँ जिसे शङ्काएँ जो
वे सब प्रभु ने सुलझायीं थीं।
हिंसा को मिटा अहिंसा की
जय ध्वजा वहाँ फहरायी थी॥

फिर गये 'बनारस' को, पथ में—
शिवपुर का मार्ग बताते वे।
हर मानव को मानवता का—
पावनतम पाठ सिखाते वे॥

प्रभु में अति भक्ति दिखायी थी,
राजा 'जितशत्रु' प्रतापी ने।
उपदेश श्रवण कर पुण्य कर्म—
की शिक्षा ली हर पापी ने॥

बहुतों ने अपने जीवन में
धार्मिक सिद्धान्त उतारे थे।
'चुलनी' 'श्यामा' औ' 'सुरादेव'
'धन्या' ने अणुव्रत धारे थे॥

फिर चले 'बनारस' से, पथ में—
वे 'आलभिया' के पास थमे।
'पोग्गल' ने दीक्षा ले ली यों
मन में प्रभु के सिद्धान्त जमे॥

फिर 'आलभिया' से 'राजगृही'—
की ओर पुण्य प्रस्थान किया।
औ 'यहाँ पहुँच 'किंक्रम' 'अर्जुन'
'मंकाती' को दीक्षा दान दिया॥

यों अट्ठारहवाँ चतुर्मास—
यह 'राजगृही' में बिता दिया।
आओ' देखें प्रभु ने विहार
अब कहाँ कहाँ पर और किया॥

—×—

बाईसवाँ सर्ग

सुन पतित पावनी दिव्यध्वनि
सबने निज कर्ण पवित्र किये।
दी त्याग शत्रुता सबने ही
औ' बना शत्रु भी मित्र लिये॥

वर्षा व्यतीत हो जाने पर—
भी वहाँ 'वीर' जगदीश रहे।
धार्मिक चैतन्य मनुष्यों में
नित भरते वे वागीश रहे॥

हित मित प्रिय भाषा में सुखकर
उपदेश सभी को देते थे।
सुन जिसे अनेक पुरुष आकर
प्रभुवर से दीक्षा लेते थे॥

यह देख दिया निज जनता को
'श्रेणिक' ने यह आदेश तभी।
'जो दीक्षा लेना चाहे, ले—
सुविधा दूंगा सविशेष सभी॥

जो कोई मुनि-पद धारण कर
करना चाहे उद्धार, करे।
परिवार आदि की चिन्ता तज
अनगार धर्म स्वीकार करे॥

एवं न कुटुम्बी भी उसके
निज को लें मान अनाथ अभी।
लेंगे परिपालन का उत्तर—
दायित्व स्वयं नरनाथ सभी॥

यह राजघोषणा सुन प्रमुदित
हो गये सभी नर-नारी थे।
इस नव उदारता हेतु भूप-
के सभी हुये आभारी थे॥

होकर निश्चिन्त पुरुष स्वीकृत-
करते मुनि धर्म पुनीत सतत।
उनके कुटुम्ब के व्यक्ति सभी,
गाते 'श्रेणिक' के गीत सतत॥

उस समय रानियों युवराजों-
के मन पर छाप विशेष पड़ी।
अब कठिन लगा उस राजभवन-
में रहना उनको एक घड़ी॥

इससे युवराजों ने मुनि हो,
परित्याग मोह का पाश दिया।
बन गयीं आर्यिका रानीं, यों-
उनने भी आत्म विकास किया॥

यों 'राजगृही' में हुई धर्म-
की यह प्रभावना बहुत बड़ी।
प्रत्यक्षदर्शिनी इस सबकी
वह 'पंच पहाड़ी' अभी खड़ी॥

इससे उनीसवाँ चतुर्मास-
भी यहीं किया इस बार पुनः ।
'कौशाम्बी' ओर विहार किया,
करने को धर्म प्रचार पुनः ॥

इस पथ में 'आलभिया' नगरी-
में रुक कुछ समय बिताया था ।
'ऋषभद्र पुत्र' आदिक अनेक
पुरुषों में ज्ञान जगाया था ॥

फिर 'आलभिया' से 'कौशाम्बी'
वे करुणा के अवतार गये ।
प्रभु निकट 'चण्ड प्रद्योत' संग
श्री 'उदयन' राजकुमार गये ॥

'अङ्गारवती' औ' 'मृगावती'-
के मन पर अधिक प्रभाव हुवा ।
तत्काल 'वीर' के चरणों में,
दीक्षा लेने का चाव हुवा ॥

आभरण भार से भासे औ'
परित्याज्य समस्त विभूति लगी ।
उन अबलाओं के अन्तस् में
यों प्रबल आत्म अनुभूति जगी ॥

बन गयीं 'आर्यिका' रोग समझ
तज द्रुत हरेक सुख भोग दिया।
श्री 'वीर' संघ में रह कर्मों-
के क्षय का शुभ उद्योग किया॥

कुछ समय वहाँ रह फिर 'विदेह'-
की ओर गये वे महा श्रमण।
वर्षा के पहिले 'वैशाली'
आ पहुँचे करते हुये भ्रमण॥

औ यह बीसवें चतुर्मास
के पूरे चारों मास किये।
धर्मोपदेश सुन जनता ने
व्रत यथा शक्ति सोल्लास लिये॥

'वैशाली' से 'उत्तर विदेह'-
की ओर गये निर्मोही वे।
औ' 'मिथिला' होते हुये गये
क्रमशः 'काकन्दी' को ही वे॥

हो यहाँ प्रभावित 'धन्य' आदि
दीक्षा ले बने दिगम्बर यति।
तदनन्तर ही 'काकन्दी' से
पश्चिम की ओर बढ़े जिनपति॥

'श्रावस्ती' होते हुये गये,
'काम्पिल्य' नगर को त्यागी वे।
पश्चात् 'अहिच्छत्रा' होते,
'गजपुर' पहुँचे बड़भागी वे॥

धर्मोपदेश सुन बहुतों ने
ली 'वीर'-संघ में यहाँ शरण।
फिर लौट यहाँ से पहुँचे थे
'पोलासपुरी' वे महाश्रमण॥

'सद्दालपुत्र' ने यहाँ भक्त-
बन ग्रहण किये थे द्वादश व्रत।
यह देख 'अग्निमित्रा' पत्नी-
भी भक्त बनी हो पद पर नत॥

'पोलास पुरी से कर विहार
ग्रीष्मान्त समय तक किया भ्रमण।
'वाणिज्य ग्राम' फिर गये और
रुक गये यहीं पर महाश्रमण॥

अपने इकीसवें चतुर्मास-
पर्यन्त यहीं पर रहना था।
अतएव यहाँ की जनता के
भाग्योदय का क्या कहना था॥

वर्षान्त देखकर 'मगध' ओर–
कर चले विहार विरागी वे।
क्रमशः ही आये 'राजगृही'
निज संघ सहित बड़भागी वे॥

निज समवशरण की गन्धकुटी–
में वे जिनराज विराजे थे।
थी पुष्प वृष्टि हो रही तथा
बज रहे 'दुन्दुभी' बाजे थे॥

गाथापति 'महाशतक' ने आ
अपना सौभाग्य सराहा था।
अत्यन्त प्रभावित हो प्रभु का
अनुयायी बनना चाहा था॥

अतएव व्रतों के लिये 'वीर'–
से उसने मृदु अनुरोध किया।
प्रभु ने हित मित प्रिय वाणी से
उसको सुखकर सद्बोध दिया॥

कुछ पार्श्वपित्यों ने आकर
निज शंका रखी तुरन्त तभी।
पर समाधान सुन माना प्रभु—
का दर्शन ज्ञान अनन्त सभी॥

यों पूर्ण प्रभावित हो उनने
परित्याग सभी आरम्भ दिया।
ले पञ्च महाव्रत श्रमण धर्म,
पालन करना प्रारम्भ किया॥

उस समय 'रोह' को हुई प्रश्न-
कुछ करने की अभिलाष तभी।
कीं प्रकट सर्व शंकाएँ निज
उनने प्रभुवर के पास तभी॥

प्रभु ने जो उत्तर दिये, उन्हें-
सुन उनकी भ्रान्ति विलीन हुई।
अतएव 'वीर' की वाणी में
उनकी श्रद्धा लवलीन हुई॥

फिर 'राजगृही' में बाइसवाँ
यह चतुर्मास इस वर्ष किया।
इससे अनेक ही भव्यों ने
पा काल लब्धि उत्कर्ष किया॥

यों बहुतों का कल्याण किया,
प्रभु की कल्याणक वाणी ने।
सब कहते सचमुच 'महावीर'
जनमा 'त्रिशला' क्षत्राणी ने॥

गुणवान वहाँ थे जितने भी
वे और अधिक गुणवान हुये।
विद्वान वहाँ थे जितने भी,
वे और अधिक विद्वान हुये॥

यों नित प्रभावना करते ही,
पूरा वह वर्षावास किया।
फिर किया भ्रमण, सर्वत्र जनों—
ने धर्मामृत सोल्लास पिया॥

करते विहार यों 'कचंगला,
पहुँचे वे आत्म विहारी थे।
यह समाचार पा वन्दनार्थ,
आये अगणित नर नारी थे॥

सुन पतित पावनी दिव्यध्वनि
सबने निज कर्ण पवित्र किये।
दी त्याग शत्रुता सबने ही
औ' बना शत्रु भी मित्र लिये॥

'स्कन्दक' ने भी तब समवशरण—
में आ सोत्साह प्रवेश किया।
हो चकित 'वीर' की शान्तिमयी
छवि का दर्शन अनिमेष किया॥

सविनय प्रदक्षिणा तीन तुरत—
दे सूचित हर्ष विशेष किया।
फिर हस्त जोड़ कर प्रकट स्वयं,
ही आने का उद्देश्य किया॥

सुन उनका संशय दूर किया,
प्रभु ने अत्यन्त सरलता से।
'स्कन्दक' हो गये प्रभावित अब,
उनकी इस ज्ञान प्रबलता से॥

अतएव 'वीर' के कथित मार्ग—
में ही दिखलायी सार दिया।
तत्काल त्याग उपकरण सभी,
यह श्रमण धर्म स्वीकार किया॥

श्री 'वीर' गये 'श्रावस्ती' फिर
जनता आयी सोत्साह यहाँ।
कुछ समय बहाया शान्ति सहित
धर्मामृत—सरित—प्रवाह यहाँ॥

'श्रावस्ती' से चलकर 'विदेह'—
को वे आध्यात्मिक सन्त गये।
पथ में उन पर श्रद्धान कई—
जन दिखलाते अत्यन्त गये॥

वाणिज्य ग्राम[1] में तेइसवाँ
चौमासा करने ठहर गये।
तदनन्तर 'ब्राह्मण कुण्ड' गये,
फिर वे 'कौशाम्बी' नगर गये॥

पश्चात् 'राजगृह' पहुँच गये,
धर्मामृत धार बहाते वे।
निज शक्त्यनुसार सभी जनको
व्रत अङ्गीकार कराते वे॥

चौबिसवाँ वर्षावास यहीं-
पर कर पश्चात् विहार किया।
'कोणिक' की राजपुरी 'चम्पा'-
में आकर धर्म प्रचार किया॥

राजा 'कोणिक' निज प्रजा सहित
उस धर्म-सभा में आये थे।
धर्मोपदेश सुन बहुतों ने
मुनियों के व्रत अपनाये थे॥

'चम्पा' से चलकर प्रभुवर ने
विहरण 'विदेह' की ओर किया।
पथ में 'काकन्दी' में रुककर
भक्तों को हर्ष विभोर किया॥

फिर कर पचीसवाँ चतुर्मास
'मिथिला' में धर्म प्रचार किया ।
वर्षा समाप्ति पर 'अङ्गदेश'-
की ओर पुनीत विहार किया ॥

फिर 'चम्पा' आये राजवंश-
को सुख का मार्ग दिखाने को ।
दुख ग्रस्त राजमाताओं के
मन में वैराग्य जगाने को ॥

जग की असारता कह प्रभु ने
डाली कुछ ऐसी छाप तभी ।
सुन जिसे रानियों ने त्यागा
पति-सुत-वियोग का ताप सभी ॥

पा बोध राजमाताओं ने
सब चिन्ताओं को छोड़ दिया ।
अपने जीवन की नौका को
संयम के पथ पर मोड़ लिया ॥

संयोग सभी हैं वियोगान्त
यह पूर्णतया वे जान गयीं ।
जग की असारता का स्वरूप-
भी भली भाँति पहिचान गयीं ॥

अतएव उन्होंने ने उसी समय,
परित्याग मोह का जाल दिया।
बन गयीं आर्यिका और संघ—
में फिर प्रवेश तत्काल किया॥

यों राजघरानों पर प्रभाव—
श्री 'महावीर' थे डाल रहे।
वे असंयमी को संयम के
शुचि साँचे में थे ढाल रहे॥

कुछ समय ठहर कर 'चम्पा' में,
शिव का सन्मार्ग बताते वे।
'मिथिला' की ओर चले, सबको-
अपना सन्देश सुनाते वे॥

'मिथिला' में रहकर छब्बिसवाँ—
यह चातुर्मास बिताया था।
धर्मोपदेश दे जनता में,
पर्याप्त विवेक जगाया था॥

तदनन्तर 'श्रावस्ती' नगरी,
वे करुणा के अवतार गये।
फिर 'मेंढिक' गाँव वहाँ से चल-
कर करने धर्म—प्रचार गये॥

प्रभुवर का पावन शुभागमन,
सुन भक्त मण्डली तुष्ट हुई ॥
आ समवशरण में दिव्यध्वनि,
सुन सब जनता संतुष्ट हुई ॥

कुछ दिवस वहाँ पर रह प्रभु ने,
फिर 'मिथिला' को प्रस्थान किया ।
कर सत्ताइसवाँ चतुर्मास
'मिथिला' में धर्म-विहान किया ॥

तदनन्तर 'मिथिला के पश्चिम
जनपद में जा उपदेश दिया ।
'कौशल' में विचरण कर जनता-
को अपना शुभ सन्देश दिया ॥

'केशी कुमार ने सुन प्रभु के—
सिद्धान्तों पर श्रद्धान किया ।
कुछ समय वहाँ पर रुक कर फिर
'श्रावस्ती' को प्रस्थान किया ॥

कुछ काल यहाँ पर भी रुक कर
बहुतों का ही उद्धार किया ।
'पञ्चाल' ओर कर गमन पुनः
जनता में धर्म प्रचार किया ॥

पश्चात् 'अहिच्छत्रा' नगरी–
में वे जिननाथ पधारे थे।
धर्मोपदेश सुन यहाँ कई,
मनुजों ने शुभ व्रत धारे थे॥

फिर 'कुरु' जनपद को कर विहार
पहुँचे ज्यों वे 'हस्तिनानगर'।
त्यों शुभागमन की चर्चाएँ–
हो चलीं वहाँ पर डगर डगर॥

सुन 'शिव' राजर्षि स्वयं आकर
प्रभु के चरणों में विनत हुये।
सुन सारमयी धर्मोपदेश,
संसार - मार्ग से विरत हुये॥

उससे अत्यन्त प्रभावित हो
कुछ समय किया चुपचाप मनन।
तदनन्तर उठ कर हस्त जोड़
प्रभु से बोले ये मधुर वचन॥

"भवदीय भारती को मैंने
अति ध्यान सहित हे नाथ! सुना।
केवल न सुना है, पर उस पर–
मैंने विचार के साथ गुना॥

अतएव हुआ श्रद्धान, शीघ्र—
मुझको अनगार बनायें अब।
निर्ग्रन्थ धर्म की दीक्षा दे,
मम नौका पार लगायें अब॥

यह सुन प्रभुवर ने पञ्च महा-
व्रत दिये और सब नियम दिये।
यह देख कई मुनि हुये, कई-
ने श्रावक के व्रत सुगम लिये॥

'हस्तिनापुरी' से चल 'मोका'
नगरी को पुनः पुनीत किया।
श्री 'अग्निभूति' औ' वायुभूति'-
का भ्रम हर उन्हें विनीत किया॥

'मोका' से चल 'वाणिज्य ग्राम'-
को फिर वे 'वीर' जिनेश गये।
पथ में जनता को दया धर्म-
का देते शुभ उपदेश गये॥

रुक यहीं पुनः अट्ठाइसवाँ
यह चतुर्मास इस बार किया।
इसमें भी तो उनने अनेक-
ही पुरुषों का उद्धार किया॥

फिर गमन 'मगध' की ओर किया,
जनता पर पुनः प्रभाव हुवा।
क्रमशः वे आये 'राजगृही',
सबको दर्शन का चाव हुआ॥

आ सुनी सभी ने दिव्यध्वनि,
अपनी अपनी ही भाषा में।
समझा कुछ भी है सार नहीं,
लौकिक सुख की अभिलाषा में॥

निज उनतिसवें चतुर्मास—
हित यहीं रुके वे महाश्रमण।
वर्षा समाप्ति पर 'चम्पापुर'
की ओर किया आरम्भ भ्रमण॥

उपनगर 'पृष्ठ चम्पा' में आ
ठहरे जब करते हुये गमन।
उस समय वहाँ के भूप 'शाल'—
ने 'महाशाल' सँग किया नमन॥

उपदेश श्रवण कर स्वयं 'शाल'
ने तजी राज्य की ममता थी।
औ' 'महाशाल' को भी उसको,
तजने की जागी समता थी॥

निज राजमुकुट से शोभित तब
निज भागिनेय का माथ किया।
औ' महाश्रमण से श्रमण धर्म
दोनो भ्राता ने साथ लिया॥

पश्चात् 'पृष्ठ चम्पा' से चल
'चम्पा' आये वे महायती।
प्रवचन सुन कुछ अणुव्रती बने,
औ' बने पुरुष कुछ महाव्रती॥

प्रभुवर 'दशार्णपुर' ओर इधर
'चम्पा' नगरी को त्याग चले।
औ' उधर 'दशार्णपुरी के नृप—
के भाग्य स्वयं ही जाग चले।

प्रभु का दर्शन कर उसने निज
वैभव का सब मद त्यागा था।
स्वीकार किया द्रुत श्रमण धर्म
मन में विवेक यों जागा था॥

फिर चल 'दशार्णपुर' से 'विदेह'-
की ओर प्रशस्त प्रयाण किया।
'वाणिज्य ग्राम' आ 'सोमिल' को
श्रावक व्रत दे कल्याण किया॥

कर यहीं तीसवाँ चतुर्मास
'कोशल' वे तारण तरण गये।
'साकेत' और 'श्रावस्ती' में
करते वे जन-उद्धरण गये ॥

'पाञ्चाल' गये, 'काम्पिल्य' पुनः
पहुँचा उनका वह समवशरण
'अम्मड़' नामक परिव्राजक द्विज
श्रद्धालु बने कर धर्म श्रवण ॥

'काम्पिल्यपुरी' से फिर 'विदेह'—
की ओर गये वे महाश्रमण।
एवं इकतिसवाँ चतुर्मास
'वैशाली' में कर किया भ्रमण ॥

'काशी' 'कौशल' में कर विहार
आ गये 'विदेह' विरागी वे।
'वाणिज्य ग्राम' के बाहर आ
ठहरे सर्वोत्तम त्यागी वे ॥

प्रश्नोत्तर कर 'गांगेय' 'वीर'—
का केवल ज्ञान सराह चले।
श्री 'वीर' निरूपित मोक्ष मार्ग
पर तत्क्षण से सोत्साह चले ॥

फिर प्रभु बत्तिसवें चतुर्मास—
हित 'वैशाली' में पहुँच रुके।
धर्मोपदेश जो दिया उसे,
सुन जीव धर्म की ओर झुके॥

फिर 'मगध' भूमि में कर विहार,
आ गये 'राजगृह' सन्तप्रवर।
पश्चात् वहाँ से चल 'चम्पा'
की ओर चले क्रमवार विचर॥

दीक्षा दे 'गागलि' 'पिठर' आदि—
को 'राजगृही' सर्वज्ञ गये।
तेंतिसवाँ चातुर्मास यहीं—
पर किया, बन्द हो यज्ञ गये॥

पश्चात् अन्य कुछ नगरों में
करने प्रचार भगवान गये।
वे गये जहाँ भी, वहीं सभी—
प्रज्ञा का लोहा मान गये॥

करते विहार यों ग्रीष्मकाल—
में 'राजगृही' में वास किया।
'कालोदायी' ने साधुवेश—
था यहीं 'वीर' के पास लिया॥

फिर 'राजगृही' से 'नालन्दा',
आये वे महाप्रवीण तभी।
आ यहीं 'उदय' ने धर्म रूप—
को समझा सर्वाङ्गीण तभी॥

सद्बोध हृदय में होते ही,
मन का समस्त अविवेक भगा।
हो गये सम्मिलित 'वीर'-संघ—
में, इतना अधिक विवेक जगा॥

यह शुभ चौंतिसवाँ चतुर्मास-
भी यहीं पूर्ण सविशेष किया।
फिर कर विहार प्रत्येक ग्राम—
में जाकर शुभ उपदेश दिया॥

क्रमशः ही वे 'वाणिज्य' ग्राम,
आये स्वसंघ को साथ लिये।
पा समाचार आ जनता ने,
श्रद्धा से अवनत माथ किये॥

इन सबमें प्रमुख 'सुदर्शन' थे,
जो बहुत बड़े व्यवसायी थे।
पर लक्ष्मीपति भी होकर ये,
धर्मात्मा एवं न्यायी थे॥

इनने प्रभुवर से कहे काल—
विषयक अपने मनके संशय ।
जिनके उत्तर कह, दिया उन्हें-
उन पूर्व भवों का भी परिचय ॥

सुन जिन्हें 'सुदर्शन' ने विरक्त,
हो दीक्षा की तत्काल ग्रहण ।
करने पैंतिसवाँ चतुर्मास,
'बैशाली' पहुँचे महाश्रमण ॥

ज्यों ही बीती बरसात, किया—
'कौशल' की ओर विहार तभी ।
'साकेत' नगर में आ ठहरे,
करते निज धर्म प्रचार तभी ॥

सुन समाचार साकेत-राज,
'शत्रुञ्जय' सविनय क्षिप्र गये ।
नृप संग गये सब शूद्र वैश्य,
सब क्षत्रिय औ' सब विप्र गये ॥

राजा 'किरात' ने इसी समय,
आ ग्रहण किये थे रत्नत्रय ।
जो वहाँ अतिथि बन आये थे,
करने उत्तम रत्नों का क्रय ॥

तदनन्तर ही 'पाञ्चाल' ओर
जाकर भव्यों का त्राण किया।
'काम्पिल्य' गये' फिर 'सूरसेन'
'मथुरा' की ओर प्रयाण किया॥

जा 'शौर्यपुरी' औ' 'नन्दीपुर'
आये 'विदेह' जगत्राता फिर।
छत्तिसवें वर्षावास हेतु
'मिथिला' पहुँचे जग ज्ञाता फिर॥

आओ, देखें चल 'मिथिला' से
करते विहार प्रभु कहाँ कहाँ!
अपने अन्तिम छह वर्षों में
करते प्रचार प्रभु कहाँ कहाँ!

—×—

तेईसवाँ

'पावा' को भूला अभी न वह
सिंहों गायों का मधुर मिलन।
लगता, ज्यों वन के भाई से,
मिलती हो कोई ग्राम्य बहन ।।

वर्षा समाप्ति पर 'मगध' ओर
वे 'महावीर' तत्काल गये।
उपदेश सुनाते 'राजगृही'
वे 'त्रिशला' माँ के लाल गये॥

गणधर 'प्रभास' ने इसी वर्ष
तज प्राण प्राप्त निर्वाण किया।
कुछ मुनियों ने भी मुक्ति पुरी—
की ओर प्रशस्त प्रयाण किया॥

सैंतिसवाँ वर्षावास अतः
कर यहीं स्वधर्म प्रकाश किया।
फिर 'मगध' भूमि में ही विहार—
था 'राजगृही' के पास किया॥

गणधर 'मेतार्य' 'अचलभ्राता'
मासिक अनशन कर मोक्ष गये।
यह देख अनेक मुमुक्षु व्यक्ति
बन गये साधु उस समय नये॥

'नालन्दा' आकर फिर प्रभु ने,
अड़तिसवाँ चातुर्मास किया।
धर्मोपदेश दे जनता में
धार्मिकता का सुविकास किया॥

तदनन्तर गये 'विदेह' पुनः
'मिथिला' नगरी जिन नाथ गये।
'जितशत्रु' महीपति दर्शनार्थ
निज प्रिया 'धारिणी' साथ गये॥

इस धर्म सभा में कई व्यक्ति,
बन गये वीर-अनुगामी थे।
निज उनतालिसवें चतुर्मास
हित यहीं रुके अब स्वामी थे॥

फिर जा 'विदेह' में जनता तक
सन्देश सुखद पहुँचाया था।
केवल न नरों में पशुओं में,
भी मैत्री भाव जगाया था॥

यों ग्रीष्मकाल पर्यन्त भ्रमण-
कर प्रभु ने धर्म-प्रचार किया।
औ' यह चालिसवाँ चतुर्मास
'मिथिला' आ फिर इस बार किया॥

धार्मिक प्रभावना करने में,
बीते ये महिने चारों ही।
प्रभु कथित मार्ग के अनुयायी,
हो गये गृहस्थ हजारों ही॥

वर्षा समाप्ति पर 'मिथिला' से
चल 'मगध' ओर पर्यटन किया।
जागृति का शंख बजाते यों
फिर 'राजगृही' को गमन किया॥

श्री 'अग्निभूति' औ' 'वायुभूति'
नामक गणधर ने नश्वर तन।
परित्याग मोक्ष को प्राप्त किया,
कर एक मास का शुभ अनशन॥

यह इकतालिसवाँ चतुर्मास
प्रभुवर ने यहीं बिताया था।
अगणित भव्यों के अन्तस् में
पावन वैराग्य जगाया था॥

वर्षा व्यतीत हो जाने पर-
भी नहीं कहीं प्रस्थान किया।
रह यहीं महीनों जनता का
कल्याण किया, उत्थान किया॥

'अव्यक्त' 'अकम्पिक' 'मौर्यपुत्र'
'गण्डिक' गणधर ने देह यहीं।
इस बीच त्याग निर्वाण प्राप्त-
कर लिया, करो सन्देह नहीं॥

फिर कर प्रस्थान 'अपापा' पुर-
में वे निष्पाप पधारे थे।
धर्मोपदेश सुन यहाँ सभी-
ने व्रत नियमादिक धारे थे॥

प्रभु ने प्रसङ्गवश कालचक्र-
का वर्णन यहाँ सुनाया था।
जग के दुःखों औ' भ्रमणों का
भीषण तम रूप दिखाया था॥

सुन जिसे अनेक मनुष्यों ने
होकर विरक्त यम-नियम लिये।
जिस विधि से प्रभु ने बतलाया
आचरण उसी विधि स्वयम् किये॥

था नाम 'अपापा' पर यथार्थ-
में अब वह नगर अपाप हुवा।
गृह गृह में होने लगा पुण्य
सुख बढ़ा, दूर सन्ताप हुवा॥

कोई भी वणिक न करता था
अब पापमयी व्यापार वहाँ।
परिपूर्ण रूप से किया गया-
था पावन धर्म प्रचार वहाँ॥

यों इस प्रचार में सतत 'वीर'
को मिली अपूर्व सफलता थी।
इसका कारण कुछ नहीं अन्य,
उनके मन की निर्मलता थी॥

उनतीस वर्ष से यों अब तक
चलता प्रचार निर्बाध रहा।
कारण प्रभुवर का ज्ञान-सिन्धु-
सागर से अधिक अगाध रहा॥

करने व्यालिसवाँ चतुर्मास,
'पावापुर' को इस बार चले।
पथ में अनेक ही भव्यों का,
करते आत्मिक उद्धार चले॥

थे 'पावा' के नृप 'हस्तिपाल'
'सिद्धार्थ-लाल' के भक्त परम।
अतएव 'वीर' के शुभागमन-
पर हर्ष किया अभिव्यक्त परम॥

इस पुण्ययोग को माना था,
राजा ने अपना भाग्य महा।
केवल न उन्होंने अपितु प्रजा-
ने भी समझा सौभाग्य महा॥

सबने श्रद्धा से प्रेरित हो,
निज कर्त्तव्यों का भान किया।
सोल्लास नगर की सज्जा में
सबने सहयोग प्रदान किया॥

अविलम्ब हुवा गृह द्वारों का
वन्दनवारों से अलङ्करण।
हर चौराहे पर द्वार बने,
बँध गयीं ध्वजायें चित्तहरण॥

कर स्वच्छ सुगन्धित जल द्वारा
दी गयी सींच हर राह वहाँ।
यों विविध उपायों से नगरी
दी गयी सजा सोत्साह वहाँ॥

सबने पहिने आभरण वसन
अपने पद के अनुरूप नये।
यों सजधज अपनी प्रजा सहित
प्रभु-वन्दन को वे भूप गये॥

'सन्मति' जिनेश का दर्शन कर
हर्षित अत्यन्त नरेश हुये।
रह शान्त उन्होंने सभी सुने
जो वहाँ धर्म-उपदेश हुये॥

हो रहा प्रभावित प्रतिपादन—
की शैली से हर श्रोता था।
शङ्कालु वहाँ पर निमिष मात्र
में अपना भ्रम-तम खोता था॥

धर्मोपदेश यों प्रभुवर का—
नित होता था अविरोध वहाँ।
अतएव निरन्तर होता था
कितनों को ही सन्दोध वहाँ॥

स्वीकार अहिंसा धर्म वहाँ
आ करते राजा रङ्क सभी।
आ नाग त्यागते डसना औ'
वृश्चिक न मारते डंक कभी॥

वनराज वहाँ पर कामधेनु—
से भोले भाले लगते थे।
विषधर भीतर से उज्वल थे
बाहर से काले लगते थे॥

'पावा' को भूला अभी न वह
सिंहों गायों का मधुर मिलन।
लगता, ज्यों वन के भाई से
मिलती हो कोई ग्राम्य बहन॥

अगणित प्रकार के जीव साथ
करते थे केलि कलाप वहाँ।
कारण, सब वैर-विरोध दूर,
होता था अपने आप वहाँ॥

सर्पों को अपने पङ्खों पर,
बैठाते स्वयं कलापी भी।
औ' मीन पकड़ना छोड़ रहे—
थे बगुला जैसे पापी भी॥

इस भाँति चरम इस चतुर्मास—
से नर-पशु सबको लाभ हुये।
औ' लोक ख्याति के चरम शिखर-
को प्राप्त 'वीर' अमिताभ हुये॥

पर क्रूर काल से नहीं किसी—
की देखी गयी भलाई है।
इसने न किसी की चलने दी
पर अपनी सदा चलाई है॥

आषाढ़ गया, 'रक्षा बन्धन'—
का पर्व लिये आया सावन।
ज्यों ही वह गया कि भाद्र मास
पहुँचा ले 'पर्यू षण' पावन॥

वह विदा हुवा, आश्विन आया,
विकसा सित कांस, रुकी वर्षा।
नदियों का नीर हुवा निर्मल,
वृक्षों का हर पल्लव हर्षा॥

कार्तिक को शासन सूत्र सौंप
चल पड़ा एक दिन वह भी तो।
दिन एक एक कर निकल चला
क्रमशः ही महिना यह भी तो॥

शुभ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी
दिन सोमवार क्रमवार गया।
आ गयी निशा, नक्षत्र स्वाति—
पर आ निशिनाथ पधार गया॥

चौथे युग के त्रय वर्ष सार्ध
ही आठ मास थे शेष रहे।
इकहत्तर वत्सर तीन मास
पच्चिस दिन के जैनेश रहे॥

मंङ्गल-प्रभात था हुवा न पर
मङ्गल सूचक ग्रह सारे थे।
श्री महावीर के कर्मों सम
हो रहे विरल अब तारे थे॥

ऐसे मुहूर्त में कर्म नाश—
कर 'महावीर' अब सिद्ध हुये ।
उनके निर्वाण-समय के क्षण,
बन पावन पर्व प्रसिद्ध हुये ॥

उनका आत्मा जा सिद्ध शिला-
पर तत्क्षण ही आसीन हुवा ।
सब कर्म पाश कट जाने से,
वह था प्रपूर्ण स्वाधीन हुवा ॥

अब उनके ज्ञान तथा दर्शन,
सुख शक्ति सभी निस्सीम हुये ।
थे मिले अनन्त चतुष्टय ये,
इससे गुण सभी असीम हुये ॥

निर्वाण मनाने अतः जुड़े,
तत्काल वहाँ पर सब नर सुर थे ।
सब अपनी भक्ति प्रकट करने—
के हेतु विशेष समातुर थे ॥

'मङ्गल' का मङ्गल अरुणोदय,
विहँसा, खग लगे चहकने अब ।
खिल गये कमल औ' दिग् दिगन्त,
सौरभ से लगे महकने अब ॥

यों लगा कि जैसे गाते हों,
प्रभु की गरिमा ही सर्व विहग।
औ' भक्ति विभोर सरोवर हो,
बिखराते होवें गन्ध सुभग ॥

कर रहे आज सब चर्चा थे,
प्रभुवर की त्याग कहानी की।
उनको सराहती थी वाणी,
हर ज्ञानी हर अज्ञानी की ॥

'पावा' के सर पर आये सब,
जिसको जैसे ही ज्ञात हुवा।
यों लगा, मनाने कल्याणक-
ही उस दिन स्वर्ण प्रभात हुवा ॥

सुर अग्निकुमार सुरेन्द्र सहित,
निर्वाण मनाने आये थे।
सुर वायु कुमार सुरेन्द्र सहित,
निज धर्म निभाने आये थे ॥

तब अग्निकुमार-किरीटों से,
ज्वाला कण लगे निकलने थे।
जिससे कर्पूर अगर, चन्दन,
लग गये उसी क्षण जलने थे ॥

इन्द्रों ने इसमें ही अन्तिम—
प्रभु का अन्तिम संस्कार किया।
प्रभु के वियोग में भी नियोग,
सम्पूर्ण समस्त प्रकार किया॥

यों अन्त्य क्रिया के करने में,
बीता वह प्रातःकाल अहो।
फिर गाते र दिवस भर सब,
प्रभुवर-गुण की जयमाल अहो॥

क्रमशः मध्याह्न व्यतीत हुवा,
अति मन्द दिनेश प्रकाश हुवा।
सन्ध्या आयी औ' तिमिर जाल-
से व्याप्त अखिल आकाश हुवा॥

तम के काजल से लिप्त हुये,
प्रत्येक दिशा के कोने थे।
प्राकृतिक दृश्य तिमिराञ्चल में,
अब लगे तिरोहित होने थे॥

श्री 'परमज्योति' थे नहीं अतः
यह तिमिर विशेष अखरता था।
उन वीतराग के देह, त्याग-
का सबको क्लेश अखरता था॥

बाहर तो तम ही तम था पर,
भीतर भी तिमिर दिखाता था।
थे नहीं जिनोत्तम इससे तम,
अब आज विशेष सताता था ॥

अतएव जला कर दीपावलि,
आलोकित अवनी-गगन किये।
नव दीप ज्योति से 'परम ज्योति'—
की पूजा कर संस्तवन किये ॥

दीपावलि से जगमगा उठी,
'पावापुर' की हर डगर डगर।
हर राजमार्ग ही नहीं, अपितु,
हर गली हुई थी जगर मगर ॥

यों दीपमालिका पहिन आज,
लगता था अति अभिराम नगर।
उन 'परम ज्योति' की संस्मृति अब
थी करा रही यह ज्योति प्रखर ॥

मङ्गल प्रदीप थे जले और,
दिन भी तो उस दिन मङ्गल था।
अतएव वहाँ अब रह सकता,
कैसे उस दिवस अमङ्गल था ॥

केवल न नगर ही जङ्गल भी,
गूँजे थे मङ्गल गानों से।
थीं दशों दिशाएँ व्याप्त हुईं,
प्रभु-संस्तुति की मृदु तानों से॥

चारों वर्णों की जनता ने,
थे दीप जलाये निज घर में।
तब से हर वर्ष मनाते हैं
जन दीपावलि भारत भर में॥

'काशी' 'कौशल' के अट्ठारह
भूपों ने दीप जलाये थे।
'लिच्छवी' मल्ल गणतन्त्र संघ-
भी दीप जला हर्षाये थे॥

यों राष्ट्र पर्व यह भारत में
तब से होता आ रहा चला।
हर वर्ष 'वीर' की संस्मृति जन
करते सजीव शुभ दीप जला॥

कार्तिक कृष्णा की चतुर्दशी-
को कर्कट-कर्म हटाये थे।
श्री 'वीर' कर्म मल से विमुक्त
हो शुद्ध, सिद्ध पद पाये थे॥

अतएव भवन से कुटियों तक–
का कर्कट टाला जाता है।
हर गृह में गृह की शुद्धि हेतु
मल सभी निकाला जाता है॥

उस दिन ही केवल ज्ञान रूप
लक्ष्मी पायी थी गौतम ने।
जिसकी देवों ने पूजा की
पर भ्रान्त किया जग को भ्रम ने॥

वह गृह–लक्ष्मी की पूजा कर
कर लेता है सन्तोष अतः।
संज्ञा 'गणेश' है गणधर की
होता उनका जयघोष अतः॥

प्रभु 'महावीर' के समवशरण–
में थे बारह कोठे सुन्दर।
जिनमें मुनिराज, आर्यिका औ'
श्राविका, ज्योतिषी, सुर, व्यन्तर॥

इन्द्राणी, भवननिवासी सुर
शशि, सूर्य आदि भी देव सभी।
विद्याधर, मानव, सिंह आदि
पशु पक्षी आ स्वयमेव सभी॥

चुपचाप बैठ कर सुनते थे
प्रभु का पावन उपदेश वही।
नर पशु के विविध खिलौने भी
रखने का है उद्देश यही ॥

देवों ने बरसा रत्न वहाँ
प्रभु का निर्वाण मनाया था।
निर्वाण भूमि को भी उनने
सोल्लास विशेष सजाया था ॥

इस कारण खील बताशे ही
बाँटा करते नर-नारी अब।
औ' चित्रों से चित्रित करते–
हैं गृह की भित्ति अटारी अब ॥

उस दिन से 'पावा' के रज कण
शुभ तीर्थ समान पवित्र लगे।
रख गयीं मन्दिरों में प्रतिमा
भवनों में उनके चित्र टँगे ॥

संस्मारक रूप अनूप स्तूप,
'पावा' में गया बनाया था।
उनकी संस्मृति में राज्यों में
सिक्का भी गया चलाया था ॥

श्री 'वर्धमान' इस पुण्य नाम–
पर 'वर्धमान' था नगर बना।
औ' 'वीर' नाम पर 'वीरभूमि'
नामक पुर अतिशय सुघर बना॥

प्रभु के विहार का प्रमुख क्षेत्र
था, अतः 'विदेह' 'विहार' बना।
निर्वाण-दिवस वह भारत का
राष्ट्रीय महा त्योहार बना॥

शुभ वर्ष छियासी चौबिस सौ–
का समय अभी तक बीत गया।
कार्तिक शुक्ला से होता है
संवत् आरम्भ पुनीत नया॥

बदला करता हर वर्ष 'वीर–
संवत् ही इस दिन मात्र नहीं।
व्यापारी इस दिन ही बदला–
करते अपने मसिपात्र वहीं॥

जब 'महावीर' निज अष्ट कर्म–
का पुञ्ज नष्ट कर मुक्त हुये।
तब 'गौतम' गणधर 'वीर-संघ'
के नायक प्रमुख नियुक्त हुये॥

इनने प्रभु-प्रवचन का प्रचार
बारह वर्षों पर्यन्त किया।
तदनन्तर 'पावा' नगरी में
अपने कर्मों का अन्त किया॥

बारह वर्षों तक फिर 'सुधर्म'—
ने 'गौतम' का अनुकरण किया।
सबको 'सन्मति'—सन्देश सुना—
कर मुक्ति-वधू का वरण किया॥

फिर 'जम्बूस्वामी' ने अड़तिस
वर्षों तक किया प्रचारण था।
जिसके फलरूप अनेक नरों—
ने किया जैन मत धारण था॥

यों बासठ वर्षों तक प्रचार—
में निरत केवली श्रमण रहे।
जो प्रभु का मत फैलाने को
करते भारत में भ्रमण रहे॥

पश्चात् 'विष्णुमुनि' 'नन्दिमित्र'
'अपराजित' 'गोवर्धन' एवम्।
श्री 'भद्रबाहु' इन पाँच साधु
श्रुत केवलियों ने अति उत्तम—

विधि से प्रभु के सिद्धान्तों का
पावन प्रचार सौ वर्ष किया।
ये श्रुत समूह के ज्ञाता थे,
इससे श्रुत का उत्कर्ष किया॥

इस भाँति अबाधित 'वीर'-गिरा-
गंगा का विमल प्रवाह चला।
बस, एक संघपति की छाया—
में सब का ही निर्वाह चला।

था यही हेतु जो 'चन्द्रगुप्त'
भी हुवा विशेष प्रभावित था।
इस समय संघ श्री भद्रबाहु
मुनिपति द्वारा संचालित था॥

थे सभी एक मत अभी क्यों कि
था जगा नहीं अविवेक अभी।
सब 'अनेकान्त' मत मान रहे—
थे किन्तु परस्पर एक सभी॥

आचार-शिथिलता ने मुनियों—
में अब तक था न प्रवेश किया।
औ' नहीं किसी आचार्य-कल्प—
ने था विकल्प-उपदेश दिया॥

था सभी साधुओं का रहता
निर्ग्रन्थ दिगम्बर वेष अभी।
वे साम्यभाव से सहते थे
बाईस परीषह क्लेश सभी॥

पर इसी समय में मगध आदि—
में अन्न अकाल विशाल हुवा।
उत्तर भारत में अन्न वस्त्र—
का अति अभाव तत्काल हुवा॥

अतएव यहाँ पर मुनियों का
निर्वाह नहीं हो सकता था।
यह सोच संघपति 'भद्रबाहु'—
को यह दुष्काल खटकता था॥

इससे वे दक्षिण भारत को
अविलम्ब चले निज संघ सहित।
कारण वे देख न सकते थे
आश्रित मुनियों का कभी अहित॥

श्री 'चन्द्रगुप्त' भी साधु हुये
एवं वे भी तो साथ गये।
दक्षिण में रहे बनाते मुनि
श्री 'भद्रबाहु' मुनिनाथ नये॥

बारह वर्षों में जब अकाल—
का पूर्णतया अवसान हुवा।
तब जैन संघ का फिर उत्तर
भारत को शुभ प्रस्थान हुवा॥

आ यहाँ उन्होंने देखा अब,
शिथिलित हो मुनि श्री हीन हुये।
कुछ श्वेत वसन भी धारण कर
श्वेताम्बर साधु नवीन हुये॥

पश्चात् हुये मुनि एकादश,
एकादश अंगों के ज्ञानी।
जो दश पूर्वों के धारक थे
थे सच्चे धार्मिक सेनानी॥

ये वर्ष एक सौ तेरासी—
तक करते रहे प्रचार अभय।
फिर पाँच मुनीन्द्रों ने दो सौ
औ' बीस वर्ष के दीर्घ समय—

तक सुस्थिर ग्यारह अङ्ग रखे,
फिर पाँच मुनीश्वर और हुये।
सौ अधिक अठारह वर्ष जो कि
दे अङ्ग ज्ञान सिर मौर हुये॥

छह सौ तेरासी वर्षों तक,
यों यहाँ प्रचारित 'अङ्ग' रहे।
फिर चालिस वर्षों तक प्रचार—
के कुछ वैसे ही ढंग रहे॥

फिर 'पुष्पदन्त' औ' 'भूतबली'
ने आगम ग्रन्थाकार किया।
षट् खण्डागम में गूँथ 'वीर'—
की वाणी अति उपकार किया॥

है दिक दिगन्त में परम ज्योति'—
का वह ही धर्म-प्रकाश यहाँ।
अतएव अन्त में पुनः उन्हें,
कर रहा नमन सोल्लास यहाँ॥

परिशिष्ट संख्या १

(पारिभाषिक शब्द कोष)

शब्द संख्या २८६

प्रस्तावना

परिग्रह—ममत्व भाव, इसके २४ भेद हैं। मिथ्यात्वादि १४ प्रकार का अन्तरङ्ग और क्षेत्रादि १० प्रकार का बाह्य। ये सब ममता के कारण हैं, इससे ये परिग्रह हैं।

निर्जरा—कर्मों का एक देश झड़ना, यह दो प्रकार है सविपाक और अविपाक।

अहिंसा—प्रमाद से प्राणों का घात न करना। अहिंसा दो प्रकार की है- एक अन्तरङ्ग और दूसरी बहिरङ्ग। क्रोधादि कषाय सहित मन वचन काय होने से ही हिंसा होती है, कषाय रहित भाव रखना अहिंसा है।

अपरिग्रह—परिग्रह का न होना, परिग्रह त्याग।

पहला सर्ग

हिमालय—भारतवर्ष की उत्तरी सीमा पर स्थित एक पर्वत-माला (इसकी चोटियाँ बहुत ऊँची हैं और उन पर बराबर बर्फ जमी रहती है। सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट है जिसकी ऊँचाई २६०००२ फीट है और जो संसार की सबसे ऊँची चोटी है)।

गङ्गा—भारतवर्ष की एक प्रधान और पवित्रतम नदी।

किन्नर—देव योनि की चार श्रेणी हैं, इनमें दूसरी श्रेणी के देव विविध—देश देशान्तरों में रहने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं। इन व्यन्तरों के प्रथम भेद का नाम किन्नर है।

कुलकर—महान् पुरुष प्रजा को मार्ग बताते हैं, इन्हें मनु भी कहते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी की कर्मभूमि की आदि में तीर्थंकरों के जन्म से पहिले होते हैं। इस भरत क्षेत्र के गत तीसरे काल में जब पल्य का आठवाँ भाग शेष रहा तब कुलकर एक दूसरे के पीछे क्रमशः १६ हुये।

नाभि—वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र के चौदहवें कुलकर श्री ऋषभदेव के पिता।

बाहुबलि—श्री ऋषभदेव के पुत्र।

भरत—श्री ऋषभदेव के पुत्र, चक्रवर्ती।

बलदेव—प्रत्येक अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के दुखमा सुखमा काल में होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में ९ हुये। विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दीमित्र, पद्म (राम) बल्देव।

रामचन्द्र—आठवें बलभद्र, माँगीतुंगी से मोक्ष गये।

हनुमान—१८ वें कामदेव, मांगीतुंगी से मोक्ष, रामचंद्र के समय में विद्याधर (वानरवंशी)।

सीता—श्री रामचन्द्र की परम शीलवती भार्या, जिसने रावण के द्वारा हरी जाने पर भी शील की रक्षा की, अन्त में अर्यिका हो १६ वें स्वर्ग गयी।

रावण—वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र के ८ वें प्रति-नारायण, सीता को हरण कर तीसरे नर्क गये।

नारायण—तीन खण्ड के स्वामी, अर्द्ध चक्र राज्य भोगी महा-पुरुष।

कृष्ण—यदुवंशी वसुदेव और देवकी के पुत्र।

रुद्र—वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र के ११ रुद्र हैं। भामावलि, जितशत्रु, रुद्र, विशाल नयन, सुप्रतिष्ठ, अचल, पुण्डरीक, अजितधर, जितनाभि, पीठ, सप्तक्य नयन। पहला रुद्र ऋषभदेव के समय में दूसरा अजित के फिर पुष्पदन्त से ले सात तीर्थंकर तक क्रम से हरेक के समय में सात रुद्र हुये। पीठशान्ति जिनके व अंतिमवीर के समय में हुये।

भीम—पाँच पाण्डवों में से दूसरे।

पार्श्वनाथ—वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र के २३ वें तीर्थंकर, बनारस के उग्रवंशी राजा अश्वसेन और रानी वामा के पुत्र, नौ हाथ शरीर धारी, सर्व लक्षण युक्त, १०० वर्ष की आयु, कृष्ण वर्ण, कुमार वय में ही साधु हो तप कर श्री सम्मेद शिखर से मोक्ष गये।

भारत माता—भारतवासियों की जननी रूप भारत भूमि।

भूगोल—पृथ्वी के वाह्य रूप, प्राकृतिक विभाग आदि का ज्ञान करने वाला शास्त्र।

इतिहास—अब तक घटित घटनाओं या उससे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों का काल क्रमानुसार वर्णन करने वाला शास्त्र।

गण्डकी—एक नदी जो हिमालय से निकलकर गङ्गा में मिलती है।

सैन्य—रणशिक्षा प्राप्त और सशस्त्र व्यक्तियों का दल।

संयम—सं अर्थात् भले प्रकार, यम अर्थात् नियम करना, अपने को वश में रखना संयम है। यह पाँच प्रकार हैं—अहिंसादि पाँच व्रत पालना ईर्यादि पाँच समिति पालना, क्रोधादि चार कषाय रोकना, मन-वचन की प्रवृत्ति का त्याग करना, पाँच इन्द्रियों को जीतना।

पर्व—विशेष तिथि-प्रोषध दिन अष्टमी चतुर्दशी व दशलक्षणी के भादों सुदी ५ से भादों सुदी १४ तक के १० दिन, भादों का एक मास सोलहकारण, फागुन, कार्तिक, आषाढ़ के अंतिम आठ दिन अष्टाह्निका

संक्रामक—छूत आदि से फैलने वाला रोग आदि।

इन्द्र—देवों का स्वामी, राजा तुल्य, सौ इन्द्र प्रसिद्ध हैं जो भगवान को नमस्कार करते हैं। भवनवासी देवों के ४० व्यन्तर देवों के ३२ कल्पवासी देवों के २४ ज्योतिषी देवों के चन्द्रमा सूर्य २ मानवों में चक्रवर्ती राजा, पशुओं में अष्टापद।

इन्द्राणी—इन्द्र की स्त्री, शची।

जिनधर्म—जिनका कहा हुवा धर्म, जो जीवों को संसार के दुखों से छुड़ा कर उत्तम आत्मीक सुख में धारण करे वह धर्म है, वह धर्म जिसे अर्हन्त या जिन ने बताया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपी आत्मा का स्वभाव या आत्म ध्यान है।

षोड़स शृंगार—साज सज्जा के सोलह अङ्ग, सम्पूर्ण शृङ्गार (उबटन लगाना, स्नान करना, वस्त्र धारण करना, बाल सँवारना, अंजन लगाना, सिन्दूर भरना, महावर लगाना, भाल पर तिलक बनाना, ठोड़ी पर तिल बनाना, मेंहदी रचाना, सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करना,

अलङ्कार धारण करना, पुष्पहार पहिनना, पान खाना, ओंठ रँगना और मिस्सी लगाना)।

अणु—पदार्थ का सबसे छोटा इन्द्रिय ग्राह्य विभाग।

दर्शन—वह शास्त्र जिसमें आत्मा, अनात्मा, जीव, ब्रह्म प्रकृति, पुरुष, जगत, धर्म, मोक्ष, मानव जीवन के उद्देश्य आदि का निरूपण हो।

कहानी—उपन्यास के ढंग की छोटी रचना जो प्रायः एक ही घटना या परिस्थिति को लेकर लिखी गयी हो।

पाप—जो आत्मा को शुभ कर्मों से रोके, तीव्र कषाय सहित संक्लेश परिणाम, आर्त रौद्र ध्यान, आहारादि विषय भोग की इच्छा, पर निन्दा, पर को कष्ट देना, हिंसादि पापों में लीनता इत्यादि अभिप्राय सहित मन वचन काय की वर्तना भाव पाप है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय चार घातिया कर्म तथा असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र द्रव्य पाप है।

सत्पात्र दान—मुनि, श्रावक, अव्रत सम्यग्दृष्टि, धर्म के पात्रों को भक्तिपूर्वक दान देना।

मुनि—अवधि ज्ञानी, मनः पर्यय ज्ञानी व केवल ज्ञानी को मुनि कहते हैं, जैन साधु सामान्य।

अतिथि—जैन साधु जो संयम सिद्धि के लिये भ्रमण करते हैं व संयम की रक्षा रखते हैं या जिनको किसी विशेष तिथि में उपवास का नियम न हो।

अभ्यागत—तिथि नियम जिनके है, उनको अभ्यागत कहते हैं।

पण्डा—तीर्थ मन्दिर या घाट पर धर्म कृत्य कराने वाला ब्राह्मण।

नवधा भक्ति—मुनि को दान करते हुये नौ प्रकार की भक्ति करनी चाहिये। संग्रह, उच्चस्थान, पग प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन-शुद्धि, काय शुद्धि और भोजन शुद्धि।

पड़गाहना—भिक्षा से भोजन करने वाले किसी मुनि, क्षुल्लक, ऐलक व आर्यिका को देखकर 'अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ, आहार पानी शुद्ध है' इस प्रकार कहना।

चुटकला—छोटी सी पर मनोरञ्जक उक्ति।

कविता—रसात्मक छन्दोबद्ध रचना।

कल्पना—मन की वह शक्ति जो परोक्ष विषयों का रूप, चित्र उसके सामने ला देती है।

दूसरा सर्ग

देव—देव गति नाम कर्म के उदय से जो इच्छानुसार क्रीड़ा करें। देवों में अणिमा, गरिमा आदि दिव्य शक्तियाँ होतीं हैं, जिससे वे अपने शरीर की विक्रिया कर सकते हैं, छोटा, बड़ा, हल्का, भारी व अनेक रूप कर सकते हैं।

पुराण—मुनियों और राजाओं के वंशों तथा चरितों के वर्णन से युक्त प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ।

सोलह स्वर्ग—जिनमें निवासी अपने को पुण्यात्मा मानते हैं। स्वर्गों के नाम ये हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत।

तीर्थंकर—जो तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय से तीर्थंकर हों, जिन्होंने षोड्स कारण भावना भार कर यह कर्म बाँधा हो वे ही तीर्थंकर होते हैं। उनकी भक्ति इन्द्रादि देव विशेष करते हैं। ऐसे तीर्थंकर २४ प्रत्येक अवसर्पिणी के चौथे काल में भरत व ऐरावत में होते हैं।

कुबेर—एक देवता जो उत्तर दिशा के अधिष्ठाता और धन समृद्धि के स्वामी माने जाते हैं।

ऐरावत—इन्द्र का हाथी।

इन्द्र धनुष—बरसात में आकाश में बहुधा दिखायी देने वाला सतरङ्गा अर्द्धवृत्त।

सुहागा—एक क्षार द्रव्य जो सोना गलाने और दवा के काम आता है।

देवी—१६ स्वर्गों तक देवियाँ होती हैं, आगे नहीं। परन्तु स्वर्ग की सब देवियों के उत्पत्ति स्थान पहिले व दूसरे स्वर्ग में ही हैं, दक्षिण दिशा के देवों की देवियाँ सौधर्म में व उत्तर दिशा की देवियाँ ईशान में उत्पन्न होती हैं।

श्री—हिमवान् कुलाचल के ऊपर पद्म द्रह के कमल द्वीप में निवासिनी देवी, सौधर्म की नियोगिनी, एक पल्य की आयुधारी। श्री देवी के मन्दिर में से चक्रवर्ती को चूड़ामणि रत्न व धर्म रत्न की प्राप्ति होती है।

ह्री—जम्बू द्वीप के महाहिमवन् पर्वत के महापद्म द्रह की निवासिनी देवी। किंपुरुष व्यन्तरों के इन्द्र महापुरुष की वल्लभिका। यह देवी सौधर्म इन्द्र की आज्ञाकारिणी है, एक पल्य की आयु वाली है।

धृति—जम्बूद्वीप के तिगिंच्छ द्रह के कमल में बसने वाली देवी यह सौधर्म इन्द्र की सेविका है।

कीर्ति—नील कुलाचल के केसरि द्रह के कमलवत् द्वीप में रहने वाली देवी, यह ईशान इन्द्र की आज्ञा में रहने वाली देवी है।

बुद्धि—रुक्मि पर्वत के पुण्डरीक कुण्ड के द्वीप में रहने वाली देवी।

लक्ष्मी—शिखरी पर्वत के पुण्डरीक द्रह में बसने वाली देवी। यह ईशान इन्द्र की आज्ञाकारिणी है।

गन्धर्व—व्यन्तर देवों में चौथा भेद, इनकी दश जातियाँ हैं। हाहा, हूहू, नारद तुंबुरु, कर्दंब, वासव, महास्वर, गीतरति, गीतयश और दैवत।

तीसरा सर्ग

मखमल—एक मोटा रेशमी कपड़ा जो ऊपर की ओर बहुत नरम और रोयेंदार होता है।

ध्रुवतारा—उत्तर दिशा में मेरु के ऊपर सदा एक स्थान पर स्थित रहने वाला एक तारा।

सामायिक—अपने आत्मा के सिवा सर्व परद्रव्यों से अपने उपयोग को हटाकर अपने आत्म स्वरूप में ही एक होकर उपयोग को प्रवर्तन करना अर्थात् यह अनुभव करना कि मैं ज्ञाता द्रष्टा हूँ, यह समय है अथवा राग द्वेष को हटा कर मध्यस्थ भाव रूप समता में लीन ऐसा जो आत्मस्वरूप उसमें अपने उपयोग को चलाना समाय है। जिस क्रिया का समाय प्रयोजन हो वह सामायिक है।

श्रावक—गुरुओं के द्वारा तत्वों का स्वरूप सुनने वाला जैनी, जिसको जैन धर्म पर गाढ़ श्रद्धा या पक्ष है व जो चारित्र का अभ्यास करता है, सात व्यसन से बचता है व आठ मूल गुण स्थूल रूप से पालता

है वह पाक्षिक श्रावक है। जो प्रतिमा रूप से चारित्र दोष रहित पालता है वह नैष्ठिक है। जो श्रावक व्रतों को पालता हुआ समाधिमरण करता है उसे साधक कहते हैं।

अनन्त—जिसका अन्त न हो, एक प्रकार की अलौकिक माप।

कर्म—जो कर्म वर्गणा रूप पुद्गल के स्कन्ध जीव के राग द्वेषादि परिणामों के निमित्त से जीव के साथ बँधकर ज्ञानावरणादि रूप हो जाते हैं, बँधने के पहले कर्म वर्गणा कहलाते हैं, बँधने पर इन ही को कर्म कहते हैं।

आस्रव—यह सात तत्वों में तीसरा तत्व है। आत्मा में एक योग शक्ति है वह मन, वचन, काय की क्रिया के निमित्त से जब आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं, तब कार्य करती है, यही कर्म वर्गणाओं को खींचती है। इसी कारण मन, वचन, काय की क्रिया को आस्रव कहते हैं।

मोह—मिथ्यात्व, मूर्च्छाभाव, स्नेह या प्रणय की तीव्रता, अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व के उदय से पर में आत्म बुद्धि का होना।

गति—गति नाम कर्म के उदय से जो पर्याय हो, जो जीव के द्वारा प्राप्त की जाये, जिसके कारण गति में जीव जाते हैं। गति चार हैं—नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देव गति।

पुण्य—जिससे आत्मा विशुद्ध हो। जब शुभ भाव आत्मा में मन्द कषाय रूप होते हैं जैसे धर्मध्यान, पूजा, परोपकार, जप, तप, दान, पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या के परिणाम, चित्त में प्रसन्नता आदि तब भाव पुण्य होता है।

वैराग्य—राग द्वेष का न होना, उदासीन शान्त भाव।

सिद्ध—जिस आत्मा के आठों कर्म नष्ट हो गये हों व आठ गुण प्रकट हो गये हों, देह रहित हो, पुरुषाकार आत्मा लोक के शिखर पर विराजमान हो, नित्य ज्ञानानन्द में मग्न हो, जिसने जो साध्य था उसे सिद्ध कर लिया हो।

चौथा सर्ग

तप—कर्मों के नाश के लिये जो तपा जाये अर्थात् आत्मध्यान किया जाये। जैसे अग्नि के भीतर तपने से सोना शुद्ध होता है वैसे ही आत्मध्यान की अग्नि से आत्मा शुद्ध होता है। मुख्य तप ध्यान है उसकी सिद्धि के लिये अन्य भेद हैं।

सिद्ध शिला—ईषत् प्राग्भार-अष्टम पृथ्वी के मध्य श्वेत छत्र के आकार ढाई द्वीप प्रमाण गोल ४५ लाख योजन व्यास की शिला। मध्य में आठ योजन मोटी फिर घटती गयी है, इसी की सीध में सिद्ध जीव तनुवातवलय में विराजते हैं।

आष्टाह्निकमह पूजन—आष्टाह्निका के दिनों में जो पूजन की जाये, कार्तिक, फागुन व आषाढ़ के अंतिम आठ दिनों में।

जिनमन्दिर—श्री अरहन्त का मन्दिर, समवशरणका अनुकरण है। मन्दिर ऐसा चाहिये जहाँ निर्विघ्नता से पूजा, सामायिक, शास्त्र-सभा, स्वाध्याय हो सके, चारों ओर वाटिका चाहिये, जिससे निराकुलता रहे।

षट् पञ्चाशत कुमारिका देवी—रुचक द्वीप में रुचक पर्वत पर औरमानुषोत्तर पर्वत पर वास करने वाली देवियाँ, ये सब तीर्थंकर की माता की सेवा करने आती हैं।

पूजन—पूजन के भेद ५ हैं—नित्य, आष्टाह्निक, ऐन्द्रध्वज, चतुर्मुख या सर्वतोभद्र और कल्पद्रुम। पूजन ६ प्रकार भी है—नाम पूजन, स्थापना पूजन, द्रव्य पूजन, क्षेत्र पूजन, काल पूजन, और भाव पूजन।

पाँचवाँ सर्ग

अगस्त्योदय—अगस्त्य नामक तारे का उदय, इसका समय भाद्रपद का शुक्ल पक्ष है।

सर्वज्ञदेव—अनन्तज्ञान धारी अर्हन्त व सिद्ध भगवान।

षड् रस—छह प्रकार के स्वादों वाला। छह प्रकार के स्वाद-मीठा, नमकीन, कड़वा, तीता, कषायला और खट्टा।

भोग—जो पदार्थ एक बार भोगने में आये, जैसे मिठाई आदि।

उपभोग—जो बार बार भोगने में आवे, जैसे वस्त्र, आभूषण आदि।

इन्द्रिय-विषय—स्पर्शन इन्द्रिय का विषय आठ प्रकार का स्पर्श है, रसना का पाँच प्रकार का रस है, घ्राण का दो प्रकार का गन्ध है, चक्षु का पाँच प्रकार का वर्ण है, कर्ण का गाने के सात स्वर हैं।

अस्तेयव्रत—हिंसा, असत्य, अस्तेय, अब्रह्म, परिग्रह इन पाँच पापों से विरक्त होना। एक देश विरक्त होना अणुव्रत है, सर्व देश विरक्त होना महाव्रत है।

उपवास—जहाँ पाँचों इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों के राग से छूटकर धार्मिक भावों में बसे उसे उपवास कहते हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहारों का उपवास के दिन त्याग करना चाहिये व शृंगार रूप स्नानादि न करना चाहिये।

निर्ग्रन्थ—वे साधु जिनके मोह कानाश हो गया है व जिनको अन्तर्मुहूर्त पीछे केवल ज्ञान होने वाला है ऐसे साधु। यह साधुओं का चौथा भेद है।

नाम कर्म—जो नाना योनियों में नरक आदि पर्यायों के द्वारा आत्मा को नामांकित करे वह नाम कर्म है, जिसके उदय से शरीर की सर्व रचना आदि बनती है व शरीर में क्रिया होती है। इसके मूल भेद ४२ हैं।

छठा सर्ग

आहारदान—अन्नादि आहार का भक्ति पूर्वक देना आहार पात्र दान है। दया से दुखित भुक्षित को देना आहार करुणा दान है।

तत्व—जो पदार्थ जैसा है उसका होना, उसका वैसा ही स्वरूप मोक्ष मार्ग में आत्मा को हितकारी सात तत्व हैं जो प्रयोजनभूत हैं। उनके जाने बिना आत्मा अशुद्ध कैसे होता है ? व शुद्ध कैसे हो सकता है ? यह ज्ञान नहीं होता।

तत्व—जिसमें चेतना गुण पाया जाये, जो सदा जीता था, जीवेगा व जी रहा है। निश्चय प्राण चेतना है। व्यवहार में संसारी जीव के पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ऐसे १० प्राण होते हैं।

राग—प्रेम, प्रीति, स्नेह, माया व लोभकषाय तथा हास्य, रति व तीन वेद से प्राप्त भाव।

सम्यक्त्व—जीवादि प्रयोजन भूत पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करना। यह व्यवहार सम्यक्त्व है। व्यवहार के आलम्बन से अन्तरङ्ग में अनन्तानुबन्धी कषाय व दर्शन मोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से जो आत्मानुभव सहित आत्म प्रतीति हो वह निश्चय सम्यक्त्व है।

श्रावकाचार—एक देशचारित्र, पञ्च अणुव्रत तीन गुण व्रत व चार शिक्षा व्रत का पालन।

प्रासुक—जीव रहित, अचित्त, जिस वनस्पति व जल आदि में एकेन्द्रिय जीव न रहे हों। प्रासुक वह है जो लवण आदि कषायले पदार्थ से मिलाया गया हो, गर्म किया गया हो।

अन्तराय—विघ्न, श्रावक व मुनि के आदर करने सम्बंधी जो दोष बचाये जायें। यदि कोई दोष हो जावे तो आहार का उस समय त्याग करे।

ग्रह—नक्षत्र कुल ८८ होते हैं, सूर्य चन्द्र आदि।

नरक—जहाँ के निवासी वहाँ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अथवा परस्पर में क्रीड़ा न करें। नरक संबन्धी मिट्टी, पानी, वृक्ष, पर्वत आदि द्रव्य हैं, नरक की पृथ्वी क्षेत्र है, नरक की आयु काल है, नारकियों के रौद्र भाव भाव हैं। ये चारों ही जहाँ मन को क्लेशित करने वाले हैं।

सातवाँ सर्ग

दशांगी धूप—जिस धूप को जिन मन्दिरों में चढ़ाते हैं।

इसमें ये १० वस्तुएँ रहतीं हैं—अगर, तगर, चन्दन, मलयागिरि चन्दन, तज, पत्रज, छार छबीला, पांडरी, खस, नागरमोथा, गढ़ीवन।

सोहर—सन्तानोत्पत्ति के अवसर पर गाया जाने वाला एक मंगल गीत।

झूमरी—शालक राग का एक भेद।

ठुमरी—एक प्रकार का छोटा मधुर गाना जिसे गाते समय प्रायः कई रागों का मिश्रण कर दिया जाता है।

लोरी—बच्चों को सुलाते समय गाने का गीत।

प्रहसन—भाण की तरह का हास्य रस प्रधान एक रूपक।

चैत्यालय—अरहन्त की प्रतिमा का आलय या मन्दिर।

अप्सरा—नृत्यकारिणी देवी।

उर्वशी—इन्द्रलोक की एक प्रसिद्ध अप्सरा।

सुमेरु—सुदर्शन मेरु, यह जम्बू द्वीप के मध्य में है। जड़ में १००० योजन व ऊपर ६६००० योजन ऊँचा ४० योजन की चूलिका जो प्रथम स्वर्ग के ऋतु विमान को स्पर्श करती है। मूल में १०००० योजन चौड़ा है, ऊपर १००० योजन चौड़ा है।

सौधर्म—प्रथम स्वर्ग के स्वामी इन्द्र का नाम, सौधर्म इन्द्र ३१वें पटल के इन्द्रक विमान के पास वाले १८ वें दक्षिण दिशा के श्रेणी बद्ध विमान में बसता है।

ईशान—सौधर्म ईशान की उत्तर दिशा के श्रेणी बद्ध विमान में ईशान नाम का दूसरा कल्पवासी इन्द्र रहता है।

पाण्डुक शिला—पाण्डुक वन की पहिली शिला, यह कंचन रंग की है, इसमें भरत के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है। यह अर्ध चन्द्राकार है। १०० योजन लम्बी है, बीच में ५० योजन चौड़ी है, ८ योजन मोटी है।

आठवाँ सर्ग

सांख्य—छः दर्शनों में से एक (इसमें प्रकृति ही सारे विश्व का मूल और पुरुष द्रष्टा मात्र माना गया है, यह ईश्वर को सृष्टि का रचयिता तथा संचालक न स्वीकार कर आत्मा के शेष २४ तत्वों से पार्थक्य के सम्यग्ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानता है)।

परिव्राजक—वह जो घर बार छोड़कर चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट हो गया हो, सन्यासी।

निगोद—साधारण नाम कर्म के उदय से निगोद शरीर के धारी साधारण जीव होते हैं। नि अर्थात् नियम बिना अनन्त जीव उनको गो अर्थात् एक ही क्षेत्र को द अर्थात् दे वह निगोद शरीर है, जिनके यह शरीर हो वे निगोद शरीरी हैं।

एकेन्द्रिय—वे संसारी जीव जिनके एक स्पर्शन इन्द्रिय मात्र हो जैसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक इन पाँचों में जब तक जीव रहता है तब तक ये सचित्त फिर जीव निकल जाने पर ये अचित्त कहलाते हैं।

समाधिमरण—उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, असाध्य रोग इत्यादि मरण के कारणों के उपस्थित होने पर धर्म की रक्षा करते हुये आहार पान घटाकर या त्याग कर समता भाव से प्राण त्यागना।

चक्री—छः खण्ड की पृथ्वी के स्वामी, भरत व ऐरावत में प्रत्येक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी में जब तीर्थंकर २४ होते हैं तब ये १२ होते हैं।

केवलज्ञानी—सर्वज्ञ भगवान परमात्मा अर्हन्त व सिद्ध।

त्रिभुवन—स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल इन तीन भुवनों का समाहार।

जात कर्म—पुत्र जन्म के अवसर पर किया जाने वाला एक, संस्कार, सोलह संस्कारों में से चौथा।

मति ज्ञान—मतिज्ञानावरण कर्म व वीर्यान्तराय क्षयोपशम से पाँच इन्द्रिय या मन द्वारा सीधा पदार्थ को जानना। इसके ३३६ भेद हैं।

श्रुत ज्ञान—मति ज्ञान से निश्चय किये हुये पदार्थ के आलम्बन से उस ही पदार्थ को सम्बन्ध लिये हुये अन्य किसी पदार्थ का जानना। यह मतिज्ञान पूर्वक होता है। इसके दो भेद हैं—एक अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मक।

अवधि ज्ञान—जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुये रूपी पदार्थ को स्पष्ट व प्रत्यक्ष जाने। इस ज्ञान के लिये इन्द्रिय तथा मन की सहायता नहीं लेनी पड़ती। देव नारकियों को अवधि ज्ञान जन्म से ही होता है।

आरम्भ—मन, वचन, काय से अनेक प्रकार के व्यापार आदि कार्य करना।

नवाँ सर्ग

नय—वस्तु के एक देश जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। श्रुत ज्ञान के एक अंश को नय कहते हैं। इसके मूल दो भेद हैं, निश्चय नय और व्यवहार नय। निश्चय नय के भी दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

प्रमाण—सच्चा ज्ञान, सम्यग्ज्ञान। प्रमाण पाँच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवल ज्ञान।

तर्क—चिन्ता व्याप्ति का ज्ञान, अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति है। जहाँ जहाँ साधन होना वहाँ वहाँ साध्य का होना और जहाँ जहाँ साध्य न हो वहाँ वहाँ साधन का न होना, इसे अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। जैसे धूम साधन है अग्नि का, जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य है। जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं हो सकता, ऐसा मन में जो पक्का विचार वह तर्क है।

दार्शनिक—दर्शनशास्त्र का जानकार।

काव्य—वह रचना जो रसात्मक हो, कविता।

चित्र—कागज, कपड़े आदि पर बनी हुई किसी वस्तु की प्रतिमूर्ति।

गणित—संख्या, मात्रा, अवकाश आदि का विचार करने वाला शास्त्र।

वाक्य—पदों का वह समूह जिससे वक्ता का अभिप्राय स्पष्टतः समझ में आ जाये।

राजनीति—राज्य की रक्षा और शासन को दृढ़ करने का उपाय बताने वाली नीति।

मनोविज्ञान—मन की प्रकृति, वृत्तियों आदि का विवेचन करने वाला विज्ञान, मानस शास्त्र।

विद्यालय—वह स्थान जहाँ अध्ययन किया जाता है, विद्यागृह।

संसारी—जो कर्म बन्ध सहित जीव अनादि से नरक, पशु, मनुष्य, देव गति में भ्रमण कर रहे हैं।

मोक्ष—बन्ध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, योग के दूर हो जाने पर तथा पूर्व बाँधे कर्म की निर्जरा हो जाने पर सर्व कर्मों से छूट जाना व अपने आत्मीक शुद्ध स्वभाव का प्राप्त कर लेना, यह सादि अनन्त जीव की अवस्था है।

अरहन्त—पूजने योग्य, अर्ह धातु पूजा में है तथा अ से प्रयोजन अरि शत्रु मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म र से तात्पर्य रज अर्थात् ज्ञानावरण व दर्शनावरण उसको हन्त–नाश करने वाले इस प्रकार अरहन्त का अर्थ हुआ चार घातिया कर्मों का नाश करने वाले।

हिंसा—प्रमाद सहित (कषाय युक्त) मन वचन काय के द्वारा द्रव्य व भाव प्राणों को कष्ट देना व उनका घात करना। हिंसा दो प्रकार की है—संकल्पी और आरम्भी। आरम्भी के तीन भेद हैं—उद्यमी, गृहारम्भी और विरोधी।

यज्ञ—हवन पूजन युक्त एक वैदिक कृत्य।

होम—ब्राह्मणों द्वारा नित्य किया जाने वाला पंच महायज्ञों में से एक।

वेद—हिन्दुओं के आदि धर्मग्रन्थ (पहिले ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये तीन ही थे, पीछे अथर्ववेद भी मिलाया गया)।

अश्वमेध—एक प्रसिद्ध वैदिक यज्ञ जिसे कोई चक्रवर्ती राजा या सम्राट् ही कर सकता था और जिसमें सभी देशों का भ्रमण कर लौटने वाले घोड़े को मार कर उसकी चर्बी से हवन किया जाता था।

गोमेध—कलियुग के लिये निषिद्ध एक वैदिक यज्ञ जिसमें गोबलि का विधान है।

शूद्र—शिल्प, विद्या व सेवा कार्य से आजीविका करने वाला वर्ण, ऋषभदेव द्वारा स्थापित।

सामवेद—तीसरा वेद।

नीच—जो जाति, गुण, कर्म आदि में घट कर हों।

दसवाँ सर्ग

मोहनीय—आठ मूल कर्मों में चौथा कर्म। इसके दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। चारित्र मोहनीय के २५ भेद हैं १६ कषाय और ६ नोकषाय।

भाग्य—शुभाशुभ सूचक कर्म जन्य अदृष्ट।

विवाह—दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध होने की एक प्रथा जो धर्म-शास्त्र में ८ प्रकार (आर्ष, ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, और पैशाच) की मानी गयी है।

प्रमाद—कषाय के तीव्र उदय से निर्दोष चारित्र पालन में उत्साह का न होना व अपने आत्म-स्वरूप की सावधानी न होना। इसके १५ भेद हैं।

आदिनाथ—ऋषभदेव, भरत क्षेत्र में वर्तमान चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर।

कलिंग—प्राचीन भारत का एक जनपद।

दिगम्बर मुद्रा—दिगम्बरपने को दिखाने वाला मुनि का वेष।

द्वारिका—काठियावाड़ की एक प्राचीन नगरी।

नेमि—२२ वें तीर्थंकर राजा समुद्र विजय के पुत्र।

राजुल—नेमिनाथ तीर्थंकर के समय राजा उग्रसेन की पुत्री आर्यिका हो तप कर स्वर्ग गयी।

ग्यारहवाँ सर्ग

ब्रह्मचर्य—पूर्ण शील व्रत पालना या परम आत्मा के ध्यान में मग्न होना, दशलक्षिणी धर्म में १० वाँ, इस धर्म को पालते हुये स्त्री स्मरण, स्त्री कथा सुनना स्त्री से संसर्ग पाये हुये आसन आदि पर बैठना सब वर्जित है।

श्रावणी—चान्द्र श्रावण मास की पूर्णिमा, रक्षाबन्धन का त्योहार।

दान—अपने और पर के उपकार के लिये अपनी वस्तु को देना दान है। दान चार प्रकार है–आहार, औषधि, अभय और विद्या।

प्रभावना—जैन धर्म की महिमा प्रकाश कर अज्ञानियों का अज्ञान मिटाकर सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करना (सम्यग्दर्शन का ८ वाँ अंग)।

मौर—एक प्रकार का मुकुट जो विवाह के अवसर पर वर को पहिनाया जाता है।

खौर—चन्दन का आड़ा तिलक।

महाव्रत—साधुओं के पालने योग्य पाँच व्रत। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग।

भावना—बार-बार चिन्तवन करना, अनित्यादि बारह भावनाएँ।

बारहवाँ सर्ग

नन्दन वन—नन्दन नाम का इन्द्र का उद्यान।

षट खंड—भरत ऐरावत व विदेह ३२ प्रत्येक में मध्य में विजयार्ध पर्वत व उसकी गुफाओं के भीतर से दो-दो नदी आने से छह खण्ड हो गये हैं। दक्षिण के मध्य को आर्य खण्ड, शेष पाँच को म्लेच्छ खण्ड कहते हैं।

वैतरिणी—एक पौराणिक नदी, इसमें खून, अस्थि, बाल आदि भरे हैं और जल गरम है। पापी इसमें बहुत दिन दुःख भोगा करते हैं।

द्वादश अनुप्रेक्षा—बारह भावनाएँ, इनके विचारने से वैराग्य उत्पन्न होता है।

समिति—भले प्रकार दयापूर्वक व्यवहार करना, साधु के चारित्र में पाँच समिति हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग।

संवर—कर्म के आस्रव के कारणों का रोकना, आस्रव के कारण

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय, योग हैं। उनको क्रम से सम्यग्दर्शन, व्रत, अप्रमत्त भाव, वीतरागता व मन वचन काय की गुप्ति से रोकना।

अविपाक निर्जरा—कर्मों का अपने नियत विपाक समय से पूर्व तप आदि द्वारा व अन्य कारण से उदय की आवली में लाकर बिना फल भोगे या फल भोग कर खिरा देना।

उत्तम क्षमा—गाली सुनने पर व कष्ट पाने पर भी क्रोध न करना, पूर्ण क्षमा भाव रखना। यह दशलक्षण धर्म का पहला भेद है।

दीक्षा—गृहस्थ का जैन मुनि होना।

कैलाश—हिमालय का भाग तिब्बत में जहाँ से श्री ऋषभदेव भगवान प्रथम तीर्थंकर मोक्ष गये थे व उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने ७२ चैत्यालय बनवाये थे।

लंका—भारत के दक्षिण का एक द्वीप, सिंहल।

लौकांतिक देव— ब्रह्मलोक पाँचवें स्वर्ग के अन्त में बसने वाले ईशानादि आठ दिशा में प्रकीर्णक विमानों में बसते हैं। इनके मूल आठ कुल हैं।

तेरहवाँ सर्ग

शत इन्द्र—भवनवासी देवों के ४०, व्यन्तरदेवों के ३२, काल्पवासी देवों के २४ ज्योतिषियों के चन्द्रमा सूर्य २ मनुष्यों में चक्रवर्ती राजा पशुओं में अष्टापद।

मिथ्यात्व—सच्चे तत्व का श्रद्धान न होना। इसके दो भेद हैं—१ नैसर्गिक या अगृहीत २ परोपदेशपूर्वक य गृहीत।

त्रिशूल—तीन फलों का एक प्रसिद्ध अस्त्र, जो शिव का प्रधान अस्त्र है।

शान्तनु—प्रतीप के पुत्र, भीष्म के पिता (ये चन्द्र वंशी थे और द्वापर युग में हुये थे)

भीष्म—शान्तनु के पुत्र।

उपश्रेणिक—श्रेणिक के पिता।

विश्वामित्र—एक प्रसिद्ध ऋषि थे मूलतः क्षत्रिय थे, इनके पिता का नाम गाधि था और ये कान्यकुब्ज के नरेश थे।

उपरम्भा—दुर्लंघिपुर के राजा नलकुंवर की रानी।

कैकेयी—केकय—नरेश की कन्या, भरत की माता।

कंस—उग्रसेन के पुत्र जिन्हें कृष्ण ने मारा था, कृष्ण की माता देवकी इन्हीं की बहन थी।

देवकी—वसुदेव की पत्नी और कृष्ण की माता।

वीरदमन—श्रीपाल के चाचा।

श्रीपाल—अरिंदमन के पुत्र, चम्पापुर के राजा, २२ वें कामदेव।

दुर्योधन—धृतराष्ट्र के ज्येष्ठ पुत्र, जिनके कारण कौरवों और पाण्डवों के बीच इतिहास प्रसिद्ध महाभारत युद्ध हुवा था।

कुरुक्षेत्र—दिल्ली के पश्चिम करनाल जिले का मैदान जहाँ कौरवों और पाण्डवों से संग्राम हुवा था।

कल्पवृक्ष—ये पृथ्वी कायिक भोग भूमि में होते हैं, इनकी दश जातियाँ हैं। इनसे भोग भूमि वासी इच्छानुसार पदार्थ प्राप्त करते हैं। वे १० ये हैं—मद्यांग, वादित्रांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरंग गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग।

कामधेनु—स्वर्ग की गाय जो सब कामनाओं की पूर्ति करने वाली मानी जाती है।

चिन्तामणि—एक कल्पित रत्न, जिसमें जो माँगे वह देने की सामर्थ्य मानी जाती है।

ऋद्धि—विशेष शक्तियाँ जो तप के द्वारा साधुओं को प्राप्त हो जाती हैं, वे आठ प्रकार की होती हैं—बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषधिरस और क्षेत्र।

विद्याधर—जो साधित कुल व जाति विद्या के धारक विविध होते हैं तथा इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप इन षट् कर्मों में रत हैं। विजयार्द्ध की दक्षिण उत्तर श्रेणी में इनका सदा निवास रहता है।

पंचमुष्टि—तीर्थंकर अपनी पाँचमुष्ठियों से ही अपने केशों का लोंच कर डालते हैं।

अट्ठाइस मूलगुण—साधु के होते हैं। ५ महाव्रत + ५ समिति + ५ इन्द्रिय निरोध + ६ आवश्यक + ७ (स्नान त्याग + भूमि शयन + वस्त्र त्याग + केशलोंच + एक बार भोजन + खड़े होकर भोजन ग्रहण + दन्तधावन त्याग) = २८।

चौदहवाँ सर्ग

मन: पर्ययज्ञान—जो ज्ञान दूसरे के मन में तिष्ठे हुये रूपी

पदार्थ को जो इसने पहिले चिन्तवन किया था या आगामी चिन्तवन रूप करेगा व सम्पूर्ण नहीं चिन्तवन किया है उसको प्रत्यक्ष जाने। पराये मन में तिष्ठता सो मन है उसको पर्येति अर्थात् जाने सो मनः पर्ययज्ञान है।

अप्रमत्त गुणस्थान—१४ गुण स्थानों में से या जीव की उन्नति रूप श्रेणियों में से सातवाँ गुणस्थान। जब अन्य कषायों का उदय न हो केवल संज्वलन कषाय और हास्यादि नो कषायों का मन्द उदय हो तब अप्रमत्त गुण स्थान होता है।

सामायिक चारित्र—मुनियों का साम्यभाव रूप चारित्र जो छठवें से नवमें गुणस्थान तक होता है।

ध्यान—एक विषय को मुख्य कर चिन्ता का निरोध करना या रोकना इसके चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आदि के ध्यान खोटे हैं, अन्त के दो मोक्ष के साधक हैं।

पारणा—उपवास को पूर्ण कर भोजन करने का आगामी दिन।

प्रदक्षिणा—श्रद्धा-भक्ति के भाव से देवता आदि के चारों ओर इस प्रकार घूमना कि दाहिना अङ्ग बराबर उसी की ओर पड़े, परिक्रमा, फेरी।

अर्घ—आठ द्रव्य-जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इनको मिला कर चढ़ाना।

दाता के सात गुण—मुनीश्वरादि पात्रों को दान देने वाले के भीतर सात गुण होने चाहिये—ऐहिक फलानपेक्षा, शान्ति, निष्कपटता, अनुसूयत्व, अविषादित्व, मुदित्व और निरहंकारित्व।

पंच आश्चर्य—महान साधुओं को आहार दान देते हुये पाँच आश्चर्य होते हैं—देवों द्वारा रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि बाजों का बजना, मन्द सुगन्ध पवन का चलना और जय जयकार शब्द होना।

घातिया कर्म—जो कर्म प्रकृति में आत्मा के क्षायिक शुद्ध गुण केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र व क्षायिक दानादि तथा मति, श्रुति, अवधि मनः पर्यय ज्ञानादि रूप गुणों को घातें या रोकें।

कषाय—जिनके कारण संसारी जीवों के ज्ञानावरणादि कर्म क्षेत्र कृषति सँवारा जाये व फल देने योग्य किया जाये। क्योंकि कषाय ही सर्व कर्मों को बाँधने वाले हैं व फल दिलाने वाले हैं अथवा कषंति हिंसंति आत्मा इति कषायाः।

सामुद्रिक—वह विद्या जिसके सहारे देह चिन्हों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

चतुर्मास—चार मास। आषाढ़ शुक्ल १४ से कार्तिक शुक्ला १४ तक कार्तिक शुक्ला १५ तक साधु, ऐलक व क्षुल्लक नियम से एक स्थान पर रहते हैं शेष श्रावक इच्छानुसार वर्तते हैं।

पन्द्रहवाँ सर्ग

परीषह—रत्नत्रय मार्ग से न गिरने के लिये व कर्मों की निर्जरा हेतु जो क्षुधा, तृषा आदि शांति से सहन की जावे। ये परीषहें २२ होती हैं।

उपसर्ग—साधुओं को तप करते हुये कोई देव, मानव या पशु या किसी अचेतन पदार्थ तूफान आदि के द्वारा कष्ट मिलना। उपसर्ग साधु समता से जीतते हैं।

आप्त—पूजने योग्य अरहन्त देव, जिनमें तीन गुण हों, १—अठारह दोष रहित वीतराग हों, २—सर्वज्ञ हों, ३—हितोपदेशी हों।

संवेग—धर्मानुराग, संसार शरीर और भोगों से वैराग्य। षोड़स कारण भावनाओं में पंचमी।

सत्तरहवाँ सर्ग

राजदूत—किसी राज्य या राजा का (सन्धि, विग्रह, नैतिक कार्यादि सम्बन्धी) सन्देश लेकर किसी अन्य राज्य में जाने वाला व्यक्ति प्रतिनिधि, (प्राचीन काल में राजदूत विशेष अवसरों पर भेजे जाते थे, अब स्थायी रूप से सभी देशों में सभी देशों के राजदूत रहा करते हैं)।

क्षपक श्रेणी—गुणस्थानों में जब जीव उन्नति करते हुये जाता है तब जहाँ चारित्र मोहनीय का नाश किया जाता है, वह श्रेणी। इसके चार गुणस्थान हैं। ८वाँ अपूर्वकरण ९वाँ अनिवृत्ति करण १०वाँ सूक्ष्म लोभ १२वाँ क्षीण मोह। क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले ११वें गुणस्थान को स्पर्श नहीं करते।

शुक्लध्यान—निर्मल आत्मध्यान, शुद्धोपयोग रूप एकाग्रता। यह ध्यान उत्तम संहननधारी के ८वें अपूर्वकरण स्थान से होता है। इसके चार भेद हैं। पृथक्त्व वितर्क वीचार, एकत्व वीचार, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति।

पाताल—लवण समुद्र के मध्य भाग परिधि में चार दिशाओं में चार विदिशाओं में चार इन आठों के अन्तराल में १००० पाताल हैं। दिशा सम्बन्धी पाताल के उदय का मध्य भाग एक लाख योजन के व्यास का है।

ज्योतिषी देव—देवों के चार समूह में चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे ये पाँच भेद रूपदेव ज्योतिषी विमानों में रहते हैं।

समवशरण—वह सभास्थान जहाँ तीर्थङ्कर विराजमान होकर धर्मोपदेश देते हैं, केवल ज्ञान होने पर इन्द्रादिक देव इसकी रचना करते हैं। प्रथम तीर्थङ्कर के समय १२ योजन प्रमाण विस्तार होता है फिर आधा योजन घटते-घटते अन्तिम चौबीसवें तीर्थङ्कर का एक योजन रह जाता है।

दिव्यध्वनि—केवली भगवान के मुख से प्रकट होने वाली मेघ की गर्जना समान ध्वनि। जो एक योजन तक चार कोस तक सुन पड़ती थी यह ध्वनि निकलते समय एक प्रकार की ध्वनि होती है—परन्तु देव, मानव, पशु सब की भाषा रूप हो जाती है।

अठारहवाँ सर्ग

मधुपर्क—दही, घी, शहद, जल और शक्कर का वह योग जो देवता और अतिथि के सामने रखा जाता है।

गोबरपुर—यह ग्राम राजगृह से पृष्ठचम्पा जाते समय मार्ग में पड़ता था।

तुंगिकपुर—यह सन्निवेश वत्स देश के अन्तर्गत था, अतः मांगी तुङ्गी गाँव ही प्राचीन तुङ्गिक सन्निवेश होना चाहिये।

मौर्य संनिवेश—यह गाँव उत्तर भारत के पूर्वीय भाग में कहीं था, काशी देश की भूमि में होना अधिक सम्भव है।

कोसल—अयोध्या का नामान्तर कोसल था।

गणधर—गणेश, मुनियों के स्वामी, २४ तीर्थंकरों के १४५३ गणधर हुये हैं। ये सब मति श्रुति, अवधि, मनः पर्यय चार ज्ञान के धारी होते हैं व मोक्ष जाते हैं।

यज्ञोपवीत—यज्ञ द्वारा संस्कार किया हुवा उपवीत, यज्ञसूत्र जनेऊ।

षट् द्रव्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

नव पदार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वों में पुण्य पाप जोड़ देने से नव पदार्थ होते हैं। पुण्य-कर्म शुभ है, पापकर्म अशुभ है। यह प्रगट करने के लिये इनका पृथक ग्रहण है।

लेश्या—दो प्रकार है, द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। इनमें योगों से प्रकृति व प्रदेश बन्ध कषाय से स्थिति व अनुभाग बन्ध होता है। लेश्या ६ हैं, कृष्ण, नील, कपोत (भूरी), पीत, पद्म (लाल), शुक्ल।

पञ्चास्तिकाय—जो द्रव्य एक प्रदेश से अधिक प्रदेश रखने वाले हैं। जैसे-जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश।

चारित्र—संसार के कारणों को मिटाने के लिये उत्सुक महात्मा का सम्यग्ज्ञानी होते हुये कर्मों के ग्रहण के निमित्त क्रियाओं से विरक्त होना। आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण करना निश्चय चारित्र है, मुनि का महा व्रतादि पालना व्यवहार चारित्र है।

भव्य जीव—वह जीव जिसमें सम्यग्दर्शन प्रगट होने की योग्यता है।

मानस्तम्भ—वह स्तभ जिसके दर्शन से मान गल जाता है, यह स्तभ अकृत्रिम जिन मन्दिर व समवरशरण में होते हैं व मन्दिरों के आगे भी बनाये जाते हैं।

पारसमणि—एक प्रकार का पत्थर जिस के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है।

विदेह क्षेत्र—देश, जम्बूद्वीप के मध्य में क्षेत्र, विदेहों में कुल ढाई द्वीप के देश १६० हैं।

आत्मा—जीव चैतन्य अतति परिणमति जानाति इति। जो एक ही समय में परिणमन करे जाने वह आत्मा है।

प्रत्यक्ष प्रमाण—जो पदार्थ को स्पष्ट जाने। इसके दो भेद हैं एक सांव्यवहारिक, दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—विकल पारमार्थिक और सकल पारमार्थिक।

परोक्ष प्रमाण—जो ज्ञान इन्द्रिय व मन की सहायता से पदार्थ को स्पष्ट जाने। जैसे मति व श्रुत ज्ञान। इसके पाँच भेद हैं— स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

पर्याय—अवस्था गुण का विकार या परिणमन। पर्याय दो प्रकार की है—व्यञ्जन पर्याय और अर्थपर्याय। अशुद्ध जीवों में विभाव व्यंजन व विभाव अर्थ पर्याय होती है। शुद्ध जीवों में सदृश स्वभाव व्यंजन व स्वभाव अर्थ पर्याय होती है।

अभव्यजीव—जो संसार से निकल कर कभी मोक्ष न जा सकेंगे।

उन्नीसवाँ सर्ग

ब्रह्म—सच्चिदानन्द स्वरूप जगत का मूल तत्व।

योनि—वह स्थान या आधार जहाँ जीव उत्पन्न होता है या जह औदारिकादि नो कर्म वर्गणा रूप पुद्गलों के साथ बढ़ता है। इसके दो भेद हैं—आकार योनि गुण और योनि। आकार योनि तीन प्रकार है—शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्र। गुणयोनि ६ प्रकार है व उसके चौरासी लाख भेद हैं।

एकान्तवाद—जो एक एक ही दृष्टि को मानकर सर्वांङ्ग मत हैं, उनके भेद लोक में ३६३ हैं उनमें क्रियावादी १८०, अक्रियावादी १८४, अज्ञानवादी ६७ वैनयिकावादी ३२ = ३६३।

बन्ध—कषाय सहित जीव के कर्म योग्य पुद्गलों का जीव के प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप बाँधना। परमाणुओं का आपस में मिल कर स्कन्ध रूप होना। दो अंश अधिक रूखे चिकने गुण के कारण रूखा परमाणु रूखे से व चिकने से या चिकना रूखे से व चिकने से मिल कर बन्ध रूप हो जाता है।

उपपाद जन्म—संसारी जीवों में देव नारकियों का जन्म, देवों का सम्पुट शय्या से व नारकियों का ऊँट के मुखाकार कुप्यों से लघु अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण शरीर करके उत्पन्न होना। इनकी योनि अचित्त होती है।

बीसवाँ सर्ग

द्वादश व्रत—श्रावक गृहस्थ के पालने योग्य १२ व्रत या प्रतिज्ञाएँ।

आर्यिका—ग्यारह प्रतिमा के व्रत पालने वाली ऐलक के समान आचरण करने वाली। एक श्वेत साड़ी, पीछी, कमण्डलु, शास्त्र रखे, बैठकर हाथ में भोजन करे। आर्यिका जब बन्दना को जावे तब आचार्य से ५ हाथ उपाध्याय से ६ हाथ तथा साधु से ७ हाथ दूर से वन्दना करे।

स्वास्तिक—(क, ख, ग, घ) ऐसा प्रसिद्ध है कि क की ओर का कोना घ मनुष्य गति है, जिससे जीव मोक्ष जा सकता है, घ की ओर तिर्यंचि गति है जहाँ निगोद है, जहाँ अनन्तकाल जीव रहता है। ग नरक गति व ख देवगति है जहाँ से मानव गति में आये बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

धर्म चक्र—तीर्थंकर के विहार के समय सूर्य की दीप्ति को हरने वाला हजार आरे सहित यति व देवों के परिवार से मण्डित धर्म चक्र आगे चलता था, उससे सब अन्धकार नष्ट होता था। 'ये भगवान तीन लोक के नाथ हैं, आओ, नमस्कार करो यह घोषणा होती थी।

गन्धकुटी—समवशरण में अरहन्त के विराजने का स्थान सदा शुभ गन्ध युक्त रहता है इससे उसे गन्धकुटी कहते हैं।

दुन्दुभि—अरहन्त के आठ प्रातिहार्यों में देवों के द्वारा बाजों का बजाना।

अशोक—एक प्रातिहार्य अशोक वृक्ष जो श्री अरहन्त परमेष्ठी के होता है।

यक्ष—व्यन्तर देवों में ५ वाँ भेद। यक्षों का शरीर श्याम वर्ण होता है, इनके १२ प्रकार हैं।

अष्ट प्रातिहार्य—समवशरण में तीर्थंकर के ये होते हैं--तीन छत्र, चमर, अशोक, दुन्दुभि बाजा, सिंहासन, भामण्डल, दिव्य ध्वनि और पुष्पवृष्टि।

पुद्गल—जो पूरें और गालें उन्हें पुद्गल कहते हैं, परमाणु और स्कन्ध के दो भेद रूप हैं। सबसे छोटा अविभागी अंश परमाणु है। दो परमाणु आदि संख्यात अनन्त परमाणुओं का बन्ध रूप स्कन्ध है परमाणु से स्कन्ध व स्कन्ध से परमाणु बनते रहते हैं।

धर्म—छः द्रव्यों में से एक अखण्ड, अमूर्तिक, लोकाकाश व्यापी द्रव्य, जिसके उदासीन निमित्त से जीव व पुद्गल में गमन होता है।

अधर्म—अमूर्तिक लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है, जो स्वयं ठहरने वाले जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहकारी होता है, प्रेरणा नहीं करता है। जैसे छाया पथिक को ठहरने में कारण होती है, वैसे ही उदासीनपने से यह कारण पड़ता है। इतना आवश्यक है कि यदि इसकी सत्ता न माने तो कोई वस्तु स्थिर नहीं रह सकेगी।

काल—समय, काल, द्रव्य जो सर्व जीवादि द्रव्यों की पर्याय पलटने में निमित्त है व लोकाकाश में एक एक प्रदेश पर भिन्न २ कालाणु रूप से फैला है।

आकाश—एक अमूर्तिक अखण्ड द्रव्य है, जो सर्व द्रव्यों को अवगाह या स्थान देता है। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश।

अमूर्तिक—जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण न हों, अरूपी।

स्याद्वाद—किसी अपेक्षा से किसी बात को कहना।

इक्कीसवाँ सर्ग

सप्तव्यसन—जुवा, माँस, मदिरा, चोरी, शिकार, वेश्या और परस्त्री इन सात बातों का शौक रखना।

अष्ट मूल गुण--गृहस्थ श्रावक के पालने योग्य आचरण, जिसे उसे नित्य पालना चाहिये। मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, संकल्पी हिंसा त्याग, स्थूल झूठ त्याग, स्थूल चोरी त्याग' स्व स्त्री संतोष और परिग्रह का परिमाण।

त्याग—धर्मदान करना। आहार, औषधि, अभय व ज्ञान-दान धर्मात्मा पात्रों को भक्ति पूर्वक व अपात्रों को करुणा दान से देना।

एकादश प्रतिमा—पाँचवें गुण स्थान में ११ श्रेणियाँ होतीं हैं—दर्शन प्रतिमा, व्रत प्र०, सामायिक प्र०, प्रोषधोपवास प्र०, सचित्त विरति प्र०, रात्रि भुक्ति त्याग प्र०, ब्रह्मचर्य प्र०, आरम्भ त्याग प्र०, परिग्रह त्याग प्र०, अनुमति त्याग प्र० और उद्दिष्ट त्याग प्र०।

सम्यक्त्वी—सम्यग्दर्शन धारी मानव में ४८ मूल गुण व १५ उत्तर गुण होते हैं। २५ मल दोष रहित पना + ८ संवेगादि लक्षण + ७ भय रहित पना + ३ शल्य रहित पना + ५ अतिचार रहित पना = ४८।७ व्यसन त्याग + ५ उदम्बर फल त्याग + ३ मदिरा, मांस, मधु (मकार) त्याग = १५ उत्तर गुण।

बाईसवाँ सर्ग

अनगार—मुनि, गृह आदि परिग्रह रहित साधु, जिसके गृह सम्बन्धी तृष्णा चली गयी हो। अनगार के पर्यायवाची ये १० शब्द हैं--

श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त और यति।

काल लब्धि—किसी कार्य के होने के समय की प्राप्ति। सम्यग्दर्शन के लिये अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल मोक्ष जाने में शेष रहना काल लब्धि है। इससे अधिक काल जिसके लिये संसार होगा उसे सम्यक्तव न होगा।

महाव्रती—महाव्रतों को पालने वाले साधु, २८ मूलगुणधारी।

तेईसवाँ सर्ग

रक्षा बन्धन—सलूनो या सलोनो नाम का त्योहार, जो श्रावणी पूर्णिमा को होता है, (इस अवसर पर बहिनें अपने भाइयों को और पुरोहित अपने यजमानों की कलाई में कपास या रेशम का अभिमन्त्रित रक्षा सूत्र बाँधते हैं)।

स्वाति—२७ नक्षत्रों में से १५वाँ जो शुभ माना गया है। कवि-समय के अनुसार चातक इसमें ही होने वाली वर्षा का जल पीता है और वही जल सीप के सम्पुट में पहुँच कर मोती और बाँस में वंशलोचन बनता है।

अनन्त चतुष्टय—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चार मुख्य गुण केवली अरहन्त परमात्मा के प्रगट होते हैं।

वायु कुमार—भवनवासी देवों का दसवाँ भेद, इनके इन्द्र वेलम्ब व प्रभञ्जन हैं। इनके ९६ लाख भवन हैं, हर एक में अकृत्रिम-जिन मन्दिर हैं। उत्कृष्ट आयु १॥ पल्य जघन्य १०००० वर्ष है। इनके मुकुटों में घोड़े का आकार है।

जम्बू स्वामी—राजगृही के श्रेष्ठि कुमार, राजा श्रेणिक के समय में श्री सुधर्माचार्य के शिष्य हो मुनि हुये। तप कर अन्तिम केवली हो मोक्ष पधारे, यह प्रसिद्ध है। इनका मोक्ष स्थान मथुरा चौरासी है।

केवली—अरहन्त भगवान १३वें व १४वें गुण स्थानवर्ती, छः मास आठ समय में संयोग केवली कुल ८ लाख ९८ हजार ५ सौ २ (८९८५०२) एकत्र हो सकते हैं।

श्रुत केवली—द्वादशांग जिन वाणी के पूर्ण ज्ञाता, भरत में इस पंचम काल में श्री जम्बू स्वामी के मोक्ष जाने पर १०० वर्ष में पाँच श्रुत केवली हुये। विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु।

चन्द्रगुप्त—मौर्य वंश का प्रथम सम्राट् जो सिकन्दर का समकालिक था।

अनेकान्त—अनेक अन्त या धर्म या स्वभाव जिसमें पाये जावें ऐसे पदार्थ। अनेक धर्मों वाले पदार्थों को कहने वाली व भिन्न अपेक्षा से बताने वाली स्याद्वाद रूप जिनवाणी। यही परमागम का बीज है अर्थात् इसके समझने से परस्पर विरोध का अवकाश नहीं रहता है।

एकादश अंग—जिन वाणी के १२ अंगों में पहिले ११ अंग आचाराङ्ग, सूत्र कृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्या प्रज्ञप्ति अङ्ग, ज्ञातृधर्म कथा अङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपादिक दशाङ्ग, प्रश्न व्याकरण विपाक सूत्र।

पूर्व—द्वादशांग वाणी में दृष्टिवाद बारहवें अंग का एक भाग। इसके १४ भेद हैं।

पुष्पदन्त—श्री धरषेणाचार्य के शिष्य जिनको धवलादि का मूल पाठ सिद्धान्त पढ़ाया फिर जिन्होंने भूतबलि के साथ रचना की।

भूतबलि—श्री धरषेणाचार्य के शिष्य, धवलादि ग्रन्थों के मूल कर्त्ता।

परिशिष्ट संख्या २

(विहार स्थल नाम कोष)

विहार स्थल संख्या ६२

चौदहवाँ सर्ग

कमरि ग्राम—यह गाँव क्षत्रिय कुण्ड के निकट था, यह निश्चित है।

कोल्लाग—यह सन्निवेश वाणिज्य ग्राम के समीप था।

मोराक—यह ग्राम वैशाली के आस पास था।

अस्थिक—यह विदेह जनपद में स्थित था, इसके समीप वेगवती नदी बहती थी।

वाचाला—यह नगर श्वेताम्बी के निकट था।

सेयंविया (श्वेताम्बिका)—बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती जाते समय श्वेताम्बिका बीच में आती थी। जैन सूत्रों के लेखों से भी श्वेताम्बी श्रावस्ती से पूर्वोत्तर में अवस्थित थी। आधुनिक उत्तर पश्चिम विहार के मोतीहारी शहर से पूर्व लगभग ३५ मील पर अवस्थित सीतामढ़ी यह श्वेताम्बिका का ही अपभ्रंश नाम है, ऐसा अनुमान है।

सुरभिपुर—विदेह से मगध जाते हुये मध्य में पड़ता था और गंगा के उत्तर तट पर स्थित था। संभव है यह विदेह भूमि की दक्षिणी सीमा का अन्तिम स्थान हो।

थूणाक—यह सन्निवेश गंगा के दक्षिण तट पर था।

पन्द्रहवाँ सर्ग

राजगृही—आज कल 'राजग्रह' 'राजगिर' नाम से पहिचाना जाता है, जिसके पास मोहागिरि पर्वतमाला के पाँच पर्वत हैं, जैन

सूत्रों में वैभारगिरि, विपुलाचल आदि नामों से उल्लिखित हैं। राजगिर बिहार प्रान्त में पटना से पूर्व दक्षिण और गया से पूर्वोत्तर में अवस्थित है।

नालन्दा—राजगृह का एक उपनगर, जहाँ पर अनेक धनाढ्यों का निवास था और अनेक कारखाने चलते थे। आजकल के राजगिर से उत्तर में ७ मील पर अवस्थित 'बड़गाँव' नामक स्थान ही प्राचीन नालन्दा है।

ब्राह्मण ग्राम—इस ग्राम के दो पाटक थे, एक नन्द पाटक, दूसरा उपनन्द पाटक। ब्राह्मण ग्राम 'सुवर्णखल' और 'चम्पा' के बीच में पड़ता था।

चम्पा—जैन सूत्रों में चम्पा को अंग देश की राजधानी माना है, कोणिक ने जब से अपनी राजधानी बनायी तब से चम्पा अंग (मगध) की राजधानी कहलायी। पटना से पूर्व में (कुछ दक्षिण में) लगभग सौ कोस पर चम्पा थी।

कालाय—यह सन्निवेश चम्पा के निकट कहीं होना चाहिये।

पत्तकालय—चम्पा के पास कहीं था।

कुमारा—यह सन्निवेश सम्भवतः अङ्ग देश के पृष्ठ चम्पा के निकट था।

चोराक—यह स्थान संभवतः प्राचीन अङ्ग जनपद और आधुनिक पूर्व बिहार में कहीं रहा होगा।

पृष्ठ चम्पा—चम्पा से पश्चिम में थी, राजगृह से चम्पा जाते हुये पृष्ठ चम्पा लगभग बीच में पड़ती थी।

कयं (कचंगला)—यह स्थान यदि अङ्ग देश में ही चम्पा से पूर्व की ओर हो तब तो आज कल का कंकजोल हो सकता है। परन्तु जैन सूत्रों के अनुसार कचंगला नगरी श्रावस्ती के समीप थी।

श्रावस्ती—जैन सूत्रोक्त साढ़े पच्चीस आर्य देशों में कुणाल-नामक देश की राजधानी का नाम श्रावस्ती लिखा है। महावीर के समय में श्रावस्ती उत्तर कोशल की राजधानी थी। गोंडा जिले में अकौना से पूर्व पाँच मील और बलरामपुर से पश्चिम बारह मील राप्ती नदी के दक्षिण तट पर सहेठ महेठ नाम से प्रख्यात जो स्थान है वही प्राचीन श्रावस्ती का अवशेष है, ऐसा शोधक विद्वानों ने निर्णय किया है।

हलिद्दुग ग्राम—यह ग्राम श्रावस्ती से पूर्व परिसर में था।

नंगला—श्रावस्ती से राठ की ओर जाते हुये बीच में पड़ता था, संभवतः यह ग्राम कोशल भूमि के पूर्व प्रदेश में ही रहा होगा।

आवत्ता ग्राम—यह ग्राम कहाँ था? यह बताना कठिन है, अनुमान होता है कि कदाचित यह कोशल जनपद का ही कोई ग्राम होगा जो पूर्व की ओर जाते हुये मार्ग में पड़ता था।

कलंबुका—यह अङ्गदेश के पूर्व प्रदेश में कहीं रहा होगा।

आर्य भूमि—जैन सूत्रों में भारतवर्ष में अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, मगध काशी, कौशल, विदेह, वत्स, मत्स्य आदि साढ़े पच्चीस देश आर्य माने गये हैं और शेष अनार्य। पूर्व में ताम्रलिप्ती, उत्तर में श्रावस्ती, दक्षिण में कौशाम्बी और पश्चिम में सिन्धुतक आर्य भूमि मानी गयी है।

अनार्य देश—यह अनार्य भूमि पश्चिम बंगाल की राढ़ भूमि और वीर भोम आदि संथाल प्रदेश समझना चाहिये।

राढ़— मुर्शिदाबाद के आस पास का पश्चिमी बंगाल पहिले राढ़ कहलाता था जिसकी राजधानी कोटी वर्ष नगर था। जैन सूत्रों में राढ़ की गणना साढ़े पच्चीस आर्य देशों में की गयी है।

कयलिग्राम--कयलि समागम मगध के दक्षिण प्रदेश मलय भूमि में कहीं होगा।

जम्बू संड—यह ग्राम मलय देश में अथवा दक्षिण मगध में कहीं रहा होगा।

तंबाय (ताम्राक)—यह सन्निवेश संभवतः मगध में कहीं था।

कूपिय (कूपिक)—यह सन्निवेश वैशाली से पूर्व में विदेह भूमि में कहीं था।

वैशाली—मुजफ्फर पुर जिला में जहाँ आज बसाढ़ पट्टी ग्राम है, वहीं पहिले महावीर के समय की विदेह देश की राजधानी वैशाली नगरी थी, यह जैन धर्म के केन्द्रों में से एक थी। यह चम्पा से वायव्य दिशा में साढ़े बारह मील और राजगृह से लगभग उत्तर में ७० मील की दूरी पर थी।

ग्रामाक—यह सन्निवेश वैशाली और शालिशीर्ष नगर के बीच में पड़ता था।

शालिशीर्ष—ह स्थान वैशाली और भद्रिका के बीच में कहीं था। संभवतः अंगभूमि की वायव्य सीमा पर रहा होगा।

भद्दिया—भागलपुर से दक्षिण में आठ मील पर अवस्थित भद-रिया स्थान ही प्राचीन भद्दिया अथवा भद्रिका नगरी होना चाहिये। यह अंग देश की एक प्रसिद्ध तत्कालीन नगरी थी।

मगध—यह देश महावीर के समय का एक प्रसिद्ध देश था, मगध की राजधानी राजगृही महावीर के प्रचार क्षेत्रों में प्रथम और वर्षावास का मुख्य केन्द्र थी। पटना और गया जिले पूरे एवं हजारी बाग का कुछ भाग प्राचीन मगध के अन्तर्गत थे।

आलंभिया—काशी राष्ट्रान्तर्गत एक प्रसिद्ध नगरी थी। यह राजगृह से बनारस जाने वाले मार्ग पर अवस्थित थी। इसके तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था।

कुन्डाक—यह सन्निवेश काशी राष्ट्र के पूर्व प्रदेश में आलंभिया के पास होना चाहिये।

मद्दना—यह सन्निवेश कहाँ था? यह बताना कठिन है।

बहुसाल—यह ग्राम मद्दना ग्राम और लोहार्गला राजधानी के बीच में पड़ता था।

लोहार्गला—यह जानना कठिन है कि लोहार्गला किस देश में कहाँ थी? इससे मिलते जुलते नाम वाले तीन स्थान हैं (१) हिमालय का लोहार्गल (२) पुष्कर-सामोद के पास वैष्णवों का प्राचीन तीर्थ लोहार्गल (३) शाहाबाद जिले की दक्षिणी सीमा में प्राचीन शहर 'लोहरडगा'।

पुरिमताल—प्रयाग का ही प्राचीन नाम पुरिमताल था, ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। जैन सूत्रों के अनुसार पुरिमताल अयोध्या का शाखा नगर था। कुछ भी हो पुरिमताल एक प्राचीन नगर था यह तो निर्विवाद है।

सोलहवाँ सर्ग

सिद्धार्थपुर—संभवतः उड़ीसा में कहीं रहा होगा।

कूर्मग्राम—यह ग्राम पूर्वीय बिहार में कहीं होना चाहिये क्योंकि वीरभोम से सिद्धार्थपुर होते हुये महावीर यहाँ आये थे।

वाणिज्य ग्राम—यह नगर वैशाली के पास गंडकी नदी के तट पर अवस्थित एक समृद्ध व्यापारिक मण्डी थी। आधुनिक बसाड़ पट्टी के पास वाला बज्जिया ग्राम ही प्राचीन वाणिज्य ग्राम हो सकता है।

सानुलट्ठिय—अर्थात् सानुयष्टिक, ग्राम कहाँ था ? यह बताना कठिन है, पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस स्थान का दृढ़-भूमि में होना सम्भव है जो प्राचीन कलिंग के पश्चिमीय अञ्चल में थी।

दृढ़भूमि—यहाँ म्लेच्छों की बसती अधिक थी, यह भूमि आधुनिक गोंडवाना प्रदेश होना चाहिये।

सुभोग—यह ग्राम कलिंग भूमि में था।

सुच्छेत्ता—यह स्थान सम्भवतः अंगदेश की भूमि में था।

मलय—यह ग्राम उड़ीसा के उत्तरी पश्चिमी भाग में अथवा गोंडवाना में होने की सम्भावना है।

हत्थिसीस—(हस्तिशीर्ष) यह ग्राम संभवतः उड़ीसा के पश्चिमोत्तर प्रदेश में कहीं था।

तोसलि ग्राम—गोंडवाना प्रदेश में था, मौर्यकाल में गंगुआ और दया नदी के संगम के मध्य में तोसली एक बड़ा नगर रहा है। यह तोसली ही प्राचीन तोसलि ग्राम हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

व्रज ग्राम—इसका दूसरा नाम गोकुल था। यह गोकुल उड़ीसा में या दक्षिण कोसल में होना संभव है।

कौशाम्बी—इलाहाबाद जिले के मानजहानपुर तहसील में यमुना नदी के बांये किनारे पर जहानपुर से दक्षिण में १२ मील और इलाहाबाद से दक्षिण पश्चिम में इकतीस मील पर कोसम इनाम और कोसम इखिराज नामक दो ग्राम हैं। ये ही प्राचीन कौशाम्बी के अवशेष हैं।

वाराणसी—का अपभ्रंश बनारस है, पहिले यहाँ वरणा तथा असि नदी के संगम पर बसी हुई वाराणसी नाम की एक प्रसिद्ध नगरी थी जो काशी राष्ट्र की राजधानी थी। भगवान महावीर के मुख्य क्षेत्रों में से यह भी एक थी।

मिथिला—शब्द से इस नाम की नगरी और इसके आस पास का प्रदेश दोनों अर्थ प्रकट करते हैं, यह एक समृद्ध नगरी थी। सीता मढ़ी के पास मुहिला नामक स्थान ही प्राचीन मिथिला का अपभ्रंश है। वैशाली से मिथिला उत्तर पूर्व में ४८ मील पर अवस्थित थी।

सत्रहवाँ सर्ग

सूसुमार—मिर्जापुर जिला में वर्तमान चुनार के निकट एक पहाड़ी नगर था, कई विद्वान् सूसुमार को भर्ग देश की राजधानी बताते हैं।

भोगपुर—भोगपुर का नाम सूसुमार है और नन्दी ग्राम के बीच में आता है, संभवतः यह स्थान कौशल भूमि में था।

मेंढिय गाँव—यह ग्राम श्रावस्ती के निकट कौशाम्बी के मार्ग में था।

सुमंगला—यह ग्राम कहाँ था। यह बताना कठिन है। संभव है यह स्थान अङ्ग भूमि में कहीं रहा होगा।

पालक—यह ग्राम चम्पा के निकट कौशाम्बी की दिशा में था।

जंभियग्राम—इसकी वर्तमान अवस्थिति पर विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कवि परम्परा के अनुसार सम्मेद शिखर के दक्षिण में बारह कोस पर जो जंभी गाँव है वही प्राचीन जंभिय ग्राम है। कोई सम्मेद शिखर से दक्षिण पूर्व लगभग पचास मील पर आजीनदी के पास वाले जय ग्राम को प्राचीन जंभिय ग्राम बताते हैं।

मिंढिय—यह ग्राम अङ्ग जनपद में चम्पा से मध्यमा पावा जाते हुये मार्ग में पड़ता था।

छम्माणि—यह ग्राम मध्यमा पावा के निकट चम्पा नगरी के मार्ग पर कहीं था।

मध्यमा—पावा मध्यमा का कहीं कहीं इस नाम से भी उल्लेख है। यह मगध जनपद में थी, आज भी यह विहार नगर से तीन कोस पर दक्षिण में है, जैनों का तीर्थ क्षेत्र बना हुआ है।

ऋजुकूला—हजारी बाग जिला में गिरीडीह के पास बहने वाली बाराकड़ नदी को ऋजुकूला ऋजुपालिका अथवा रिजुवालका कहते हैं। विहार वर्णन से ज्ञात होता है कि जंभिय ग्राम और ऋजुकूला नदी मध्यमा के रास्ते में चम्पा के निकट ही कहीं होना चाहिये।

बीसवाँ सर्ग

विपुलाचल—राजगृह के पाँच पहाड़ों में से एक का नाम विपुल

चल था भगवान महावीर के सैकड़ों श्रमण शिष्यों ने इस पर अनशन पूर्वक देह छोड़ कर निर्वाण प्राप्त किया था।

इक्कीसवाँ सर्ग

विदेह—गण्डक नदी का निकट वर्ती प्रदेश विशेष कर पूर्वी भाग जो तिरहुत नाम से प्रसिद्ध है, पहले विदेह देश कहलाता था। इसकी प्रचीन राजधानी मिथिला और महावीर के समय की वैशाली थी। भगवान महावीर इसी देश में अवतीर्ण हुये थे।

ब्राह्मण कुण्डपुर—यह नगर विदेह की राजधानी वैशाली का शाखा पुर था, इसके दक्षिण दिग्विभाग में दक्षिण कुण्डनगर था क्षत्रिय कुण्ड का उत्तर भाग और ब्रह्मणकुण्ड का दक्षिण भाग ये दोनों एक दूसरे के निकट पड़ते थे।

वत्सभूमि—कोशल के दक्षिण और आधुनिक इलाहाबाद के पश्चिम ओर का प्रदेश पूर्वकाल में वत्सदेश कहलाता था। इसकी राजधानी कौशाम्बी यमुना नदी के उत्तर तट पर अवस्थित थी।

उत्तरकोसल—फैजाबाद, गोंड़ा, बहराइच, बाराबंकी के जिले तथा आस पास के कुछ भाग अवध, बस्ती गोरखपुर, आजमगढ़ और जौनपुर जिलों का कुछ भाग उत्तर कोसल अथवा कोसल जनपद कहलाता था। महावीर के समय में इसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

बाईसवाँ सर्ग

कोसल प्रदेश—'उत्तर कोसल' शब्द देखिये।

वीतभय—यह नगर महावीर के समय में सिन्धु सौवीर देश की राजधानी थी, पंजाब के मेरा गाँव को प्राचीन वीतभय बताते हैं।

उत्तर विदेह—नैपाल का दक्षिण प्रदेश पहले उत्तर विदेह कहलाता था।

काकन्दी—उत्तर भारत में कहीं थी, नूनखार स्टेशन से दो मील और गोरखपुर से दक्षिण पूर्व तीस मील पर दिगम्बर जैन जिस स्थान को किष्किंधा अथवा खंखुदोजी नामक तीर्थ मानते हैं, संभवतः यही प्राचीन काकन्दी है। यह भारत की प्राचीन और प्रसिद्ध नगरी थी।

काम्पिल्य—आजकल काम्पिल्य को कंपिला नाम से पहिचाना जाता है, फर्रुखाबाद से पच्चीस और कायम गंज से छः मील उत्तर पश्चिम की ओर बूढ़ी गंगा के किनारे अवस्थित है। एक समय काम्पिल्य दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी थी।

अहिच्छत्रा—बरेली जिले में बरेली से बीस मील पश्चिम की ओर है। आजकल के रामनगर के समीप पूर्व काल में अहिच्छत्रा थी। एक समय यह नगरी उत्तर पाञ्चाल की राजधानी थी। जैन सूत्रों के के अनुसार यह कुरु जांगल की राजधानी थी।

गजपुर—हस्तिनापुर का ही नामान्तर गजपुर है, जैन सूत्रों में कुरु जनपद की राजधानी का नाम गजपुर लिखा है।

पोलासपुर—उत्तर भारत का एक समृद्ध नगर था।

अंगदेश—मगध के पूर्व में था, आजकल के भागलपुर और मुंगेर के समीप का प्रदेश पूर्व काल में अङ्ग जनपद कहलाता था। इसकी राजधानी चम्पा नगरी थी।

पाञ्चाल—आजकल के रुहेल खण्ड को प्राचीन पंचाल भूमि समझना चाहिये, पिछले समय में पंचाल के दक्षिण पंचाल और उत्तर पंचाल ऐसे दो विभाग माने जाते थे। गंगा से दक्षिण ओर के विभाग को उत्तर पांचाल कहते थे।

कुरु—यह देश पांचाल के पश्चिम में और मत्स्य के उत्तर में था। अति प्राचीन काल से इसकी राजधानी हस्तिनापुर में थी जहाँ शान्तिनाथ आदि अनेक तीर्थंकरों का जन्म हुवा था, पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ को इस प्रतेश की राजधानी बनाया था।

हस्तिनापुर— आजकल हस्तिनापुर की अवस्थिति मेरठ से बाईस मील पूर्वोत्तर और बिजनौर के नैऋत्य में बूढ़ी गंगा के दाहिने किनारे पर मानी गयी है। इस नगरी के लिए हस्तिनी, हस्तिनपुर, गजपुर आदि अनेक नाम कवियों द्वारा प्रयुक्त हुये हैं।

मोका—यह नगरी उत्तर भारत के पश्चिमी विभाग में कहीं थी, संभव है पंजाब प्रदेश स्थित आधुनिक मोगा मंडी ही प्राचीन, मोका नगरी हो।

दशार्णपुर—दशार्ण देश की राजधानी मृत्तिकावती और पिछले समय की राजधानी विदिशा का कहीं कहीं दशार्णपुर के नाम से उल्लेख हुवा है।

साकेत- फैजाबाद जिले में फैजाबाद से पूर्वोत्तर छः मील पर सरयू नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित वर्तमान अयोध्या के समीप ही प्राचीन साकेत नगर था। यह कोशल देश का प्रसिद्ध नगर किसी समय इस देश की राजधानी रह चुका है।

काशी—बनारस के आस पास का प्रदेश, प्रायः बनारस कमिश्नर आजमगढ़ जिला पहिले काशी देश कहलाता था, महावीर के समय यह राष्ट्र कोशल देश में मिला हुआ था। इसकी राजधानी बनारस थी।

सूरसेन—मथुरा के आस पास का भूमि भाग पूर्व काल में सूरसेन देश के नाम से प्रसिद्ध था। जैन सूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों में सूरसेन का उल्लेख है। इस देश की राजधानी मथुरा थी।

मथुरा—सूरसेन देश की राजधानी मथुरा महावीर के समय और उसके पहिले भी जैन धर्म का केन्द्र रहा है। महावीर के निर्वाण के पश्चात् यह स्थान जैन धर्म का अड्डा ही बन गया था। जैन सूत्रों के प्राचीन भाष्यों और टीकाओं में लिखा है कि मथुरा और इसके आस पास के छयानवे गाँवों में सभी मकानों के द्वार पर तीर्थंकर की मूर्ति बनवाने की प्रथा थी।

सौर्यपुर—प्राचीन कुशार्त देश की राजधानी सौर्यपुर द्वारिका से पाहिले की यादवों की राजधानी है। आगरा से उत्तर पश्चिम में यमुना नदी के समीप जहाँ बटेश्वर गाँव है, वहीं प्राचीन सौर्यपुर था। महावीर के समय में यहाँ के राजा का नाम सौर्यदत्त था।

नन्दिग्राम—वैशाली और कौशाम्बी के बीच में यह ग्राम था, अयोध्या में फैजाबाद से दक्षिण की ओर आठ नौ मील पर अवस्थित भातकुण्ड के समीप जो नन्द गाँव है, वही प्राचीन नन्दि ग्राम होना संभव है।

तेईसवाँ सर्ग

अपापा—पावा का पहिले अपाप नाम था, पर महावीर का वहाँ देहावसान हुवा, इस कारण वह 'पापा' कहलायी।

पावा—यह मगध जनपद में थी। यह पावा मध्यमा के नाम से प्रसिद्ध थी यह भगवान महावीर के अन्तिम चातुर्मास्य का क्षेत्र और निर्वाण भूमि है। आज भी यह विहार नगर से तीन कोस पर दक्षिण में है।

परिशिष्ट संख्या ३

(प्रमुख शिष्यों एवं भक्तों का परिचय)

[परम ज्योति महावीर के चतुर्विध संघ में १४००० मुनीश्वर, ३६००० आर्यिकायें, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। पर यहाँ के केवल कुछ प्रमुख शिष्यों एवं भक्तों का परिचय दिया जा रहा है।]

अठारहवाँ सर्ग

इन्द्रभूति गौतम—गृहस्थाश्रम में ये मगध देशान्तर्गत गोबर गाँव निवासी गौतम गोत्रीय ब्राह्मण वसुभूति के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी माता का नाम पृथ्वी था। इनका नाम यद्यपि इन्द्रभूति था पर ये अपने गोत्राभिधान 'गौतम' इस नाम से ही अधिक प्रसिद्ध थे। दीक्षा के समय इनकी अवस्था ५० वर्ष की थी। इनका शरीर सुन्दर और सुगठित था, ये बड़े तपस्वी और विनीत गुरुभक्त श्रमण थे। जिस रात्रि में महावीर का निर्वाण हुवा उसी रात्रि के अंत में इन्द्रभूति गौतम को केवल ज्ञान हुवा और उसके पश्चात् बारह वर्ष तक जीवित रहे मासिक अनशन कर भगवान के निर्वाण से १२ वर्ष के पश्चात् ९२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुये।

उन्नीसवाँ सर्ग

अग्नि भूति गौतम—ये इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई थे, इन्होंने ४६ वर्ष की अवस्था में श्रामण्य धारण किया। बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में तप कर केवल ज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष पर्यन्त केवली अवस्था में विचर कर श्रमण भगवान की जीवितावस्था में उनके निर्वाण से लगभग दो वर्ष पहिले मासिक अनशन के अन्त में ७४ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

वायुभूतिगौतम—ये इन्द्रभूति के छोटे भाई थे, इनने ४२ वर्ष की अवस्था में गृहवास को छोड़कर श्रमण धर्म की दीक्षा ली दस वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहने के उपरान्त इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुवा और १८ वर्ष केवली अवस्था में विचरे। महावीर के निर्वाण के दो वर्ष

पूर्व ७० वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के अन्त में निर्वाण को प्राप्त हुये।

आर्यव्यक्त—ये कोल्लाग सन्निवेश निवासी भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता वारुणी और पिता धनमित्र थे। इनने ५० वर्ष की अवस्था में श्रमण धर्म स्वीकार किया। बारह वर्ष तक तप ध्यान कर केवल ज्ञान पाया और अठारह वर्ष केवलि पर्याय पाल कर भगवान के जीवन काल के अन्तिम वर्ष में अस्सी वर्ष की अवस्था में अनशन के साथ निर्वाण प्राप्त किया।

सुधर्म—ये कोल्लाग सन्निवेश निवासी अग्नि वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे, इनकी माता भद्दिला और पिता धम्मिल थे। इन्होंने ५० वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ली। ये ४२ वर्ष पर्यन्त छद्मस्थावस्था में विचरे। महावीर निर्वाण के १२ वर्ष व्यतीत होने पर केवली हुये और ८ वर्ष तक केवली अवस्था में रहे। महावीर के निर्वाण के २० वर्ष पश्चात् इन्होंने १०० वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन पूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

मण्डिक—ये मौर्य सन्निवेश में रहने वाले वासिष्ठ गोत्रीय विद्वान ब्राह्मण थे, इनके माता पिता विजयदेवा और धनदेव थे, इन्होंने ५३ वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ली। ६७ वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त किया और भगवान के जीवन काल के अन्तिम वर्ष में ८३ वर्ष की अस्त्वथा में निर्वाण प्राप्त किया।

मौर्यपुत्र—ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य माता का नाम विजय देवा और गाँव का नाम मौर्य सन्निवेश था। इन्होंने ६५ वर्ष की अवस्था में महावीर का शिष्यत्व स्वीकार

किया। ७२ वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान पाया और भगवान के जीवन काल के अन्तिम वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन पूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

अकम्पिक—ये मिथिला के रहने वाले गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे इनकी माता जयन्ती और पिता देव थे। इन्होंने ४८ वर्ष की अवस्थ में गृह त्याग किया, ५७ वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त किय और श्रमण भगवान की जीवितावस्था के अन्तिम वर्ष में मासिक अनशन पूरा कर ७८ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

बीसवाँ सर्ग

अचल भ्राता—ये कोशला निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे इनकी माता नन्दा और पिता वसु थे। इन्होंने ४६ वर्ष की अवस्था में गार्हस्थ्य त्याग कर श्रामण्य धारण किया। १२ वर्ष तप ध्यान कर केवल ज्ञान प्राप्त किया और १४ वर्ष केवली दशा में विचर कर ७२ वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया।

मेतार्य—ये वत्स देशान्तर्गत तुङ्गिक सन्निवेश के रहने वाले कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता वरुणदेवा और पिता दत्त थे। इन्होंने ३६ वर्ष की अवस्था में महावीर का शिष्यत्व अंगीकार किया। १० वर्ष तक जप तप ध्यान कर केवल ज्ञान प्राप्त किया और १६ वर्ष केवली जीवन में विचरे। अन्त में भगवान के निर्वाण से ४वर्ष पूर्व ६२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

प्रभास—ये कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे, इनकी माता अति भद्रा और पिता बल थे। ये राजगृह में रहते थे। इन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में श्रमणधर्म को अङ्गीकार किया। ८ वर्ष तक तप धारण कर केवल

ज्ञान प्राप्त किया और १६ वर्ष केवली दशा में विचरे। श्रमण भगवान महावीर के केवली जीवन के पचीसवें वर्ष में मासिक अनशन पूर्वक ४० वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

श्रेणिक—ये राजगृही के राजा थे और श्री महावीर स्वामी के प्रवचन के मुख्य श्रोता थे। इन्होंने अपनी शंकाओं को दूर करने के लिये भगवान महावीर से ६० हजार प्रश्न पूँछे थे तथा सम्मेद शिखर पर्वत पर जिन निषधिकाएँ बनवायीं थीं।

चेलना—ये वैशाली नगरी के प्रसिद्ध राजा चेटक की सात कन्याओं में से पाँचवीं थीं। ये राजा श्रेणिक को विवाही गयीं थीं। ये जैन धर्म में दृढ़ थीं। इन्होंने अपने पति को बौद्धमती से जैनी बनाया था।

इक्कीसवाँ सर्ग

उदयन—ये कौशाम्बी के तत्कालीन राजा थे, वत्स देश के प्रसिद्ध राजा सहस्रानीक के पौत्र, राजा शतानीक के पुत्र और वैशाली पति चेटक के दोहता होते थे, ये उस समय नाबालिग थे।

जयन्ती—ये कौशाम्बी के स्वर्गीय राजा सहस्रानीक की पुत्री शतानीक की बहिन और उदयन की फूफी थीं। ये अहिंसा धर्म की अनन्य उपासिका और धर्म की जानकार थीं। वैशाली की ओर से कौशाम्बी आने वाले आर्हत् श्रावक बहुधा इन्हीं के यहाँ ठहरा करते थे।

आनन्द—वाणिज्य ग्राम के अत्यन्त प्रसिद्ध साहूकार थे, चार करोड़ अशर्फियाँ उनके पास नकद थीं, चार करोड़ अशर्फियाँ ब्याज पर और चार करोड़ अशर्फियाँ कारोबार में लगी हुईं थीं। करोड़ों अशर्फियों की जमीन जायदाद थी।

शिवानन्दा—आनन्द की पत्नी।

शालिभद्र—राजगृह के सबसे बड़े व्यापारी।

चुलनी—बनारस का करोड़ पति गृहस्थ।

श्यामा—चुलनी की स्त्री।

सुरादेव—बनारस का करोड़पति गृहस्थ।

धन्या—सुरादेव की स्त्री।

पोग्गल—एक परिव्राजक यह शंखवन के पास रहता था यह ऋग्वेदादिक वैदिक धर्मशास्त्रों का ज्ञाता और प्रसिद्ध तपस्वी था। निरन्तर षष्ठ तप के साथ सूर्य के सम्मुख ऊर्द्ध्व बाहु खड़ा होकर आतापना किया करता था।

अर्जुनमाली—यह महादुष्ट था। छह पुरुष और एक स्त्री तो नियम से यह प्रतिदिन मार डालता था। इसकी लूटों और हत्या की हजारों घटनाओं से सारा देश परेशान था। अतः इसे पकड़ने के लिये हजारों रुपये का पुरस्कार था फिर भी किसी में इतना साहस न था कि उसे पकड़ सके।

बाईसवाँ सर्ग

चन्डप्रद्योत—कौशाम्बी के राजा उदयन की माता मृगावती देवी के बहनोई और उज्जयिनी के राजा।

अंगारवती—चण्डप्रद्योत की रानी।

मृगावती—कौशाम्बी के राजा उदयन की माता।

सद्दालपुत्र—पोलासपुर का एक कुम्हार। पोलासपुर के प्रतिष्ठित तथा धनवान गृहस्थों में इसकी गणना होती थी। इसके पास तीन करोड़ की सम्पत्ति थी और १००० गायों का एक गोकुल था।

स्कन्दक—ये गर्दभालि शिष्य कात्यायन गोत्रीय परिव्राजक थे, श्रावस्ती के समीप एक मठ में रहते थे ये वेद वेदाङ्ग पुराण और वैदिक साहित्य के पारङ्गत विद्वान तथा तत्वान्वेषी और जिज्ञासु तपस्वी थे।

केशी कुमार—पार्श्वापत्य श्रमण।

शिव राजर्षि—ये हस्तिनापुर के राजा थे। ये सुखी, सन्तोष और धर्म प्रेमी नरेश थे।

सोमिल—ये वाणिज्य ग्राम के विद्वान् ब्राह्मण थे, ये धनी मानी अपने कुटुम्ब के मुखिया और पाँच सौ विद्यार्थियों के अध्यापक थे।

अम्मड—ये काम्पिल्यपुर के एक ब्राह्मण परिव्राजक थे, ये सात सौ परिव्राजक शिष्यों के गुरु थे।

गांगेय—एक पार्श्वापत्य मुनि।

उदय—मेतार्य गोत्रीय पेढाल पुत्र नामक एक पार्श्वापत्य निर्ग्रन्थ।

सुदर्शन—वाणिज्य ग्राम के एक धनाढ्य जैन गृहस्थ।

किरात—कोटि वर्ष नगर का राजा।

—+—

सहायक साहित्य

(१) श्री उत्तर पुराण—श्रीमद् गुणभद्राचार्य विरचित एवं पं० लाला राम जी जैन द्वारा अनूदित।

(२) वर्द्धमान—श्री अनूप शर्मा।

(३) श्री वर्धमान महावीर—श्री दिगम्बर दास जी जैन।

(४) श्रमण भगवान महावीर—पुरातत्ववेत्ता श्री पं० कल्याण विजय जी गणीकृत।

(५) भगवान महावीर—श्री कामता प्रसाद जी जैन।

(६) महावीर चरित्र—श्रीअशग कवि कृत।

(७) चार तीर्थंकर—श्री पं० सुख लाल जी संघवी।

(८) तीर्थंकर भगवान महावीर—श्री वीरेन्द्र प्रसाद जी जैन।

(९) महावीर वर्धमान—श्री जगदीशचन्द्र जी जैन एम० ए० पी-च० डी०।

÷=÷